विश्व का इतिहास

कक्षा—11

माध्यमिक शिक्षा बोर्ड राजस्थान, अजमेर

पाठ्य पुस्तक निर्माण समिति

पुस्तक – विश्व का इतिहास कक्षा–11

संयोजक :–

प्रो. के. एस. गुप्ता (सेवानिवृत्त)
मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर

लेखकगण :–

1. सुरेन्द्र डी. सोनी, व्याख्याता इतिहास विभाग
राजकीय लोहिया महाविद्यालय, चुरु

2. अमित शर्मा, शैक्षिक प्रकोष्ठ अधिकारी
उपनिदेशक माध्यमिक कार्यालय, अजमेर

3. डॉ. ओमप्रकाश सिंह, प्रधानाचार्य
रा.उ.मा.वि. कुम्हारियावास, जयपुर

4. मुकेश कुमार, प्रधानाचार्य
रा.उ.मा.वि. दूदवा, बाड़मेर

5. संजय श्रीवास्तव, प्रधानाचार्य
रा.उ.मा.वि. रोटवाड़ा, जयपुर

पाठ्यक्रम निर्माण समिति

पुस्तक : इतिहास

कक्षा – 11

संयोजक : डॉ. के.एस. गुप्ता, सेवानिवृत्त
23, पद्मिनी मार्ग, रवीन्द्र नगर, उदयपुर

सदस्य

1. डॉ. सतीश कुमार त्रिगुणायत, व्याख्याता
महाराजा सूरजमल बृज विश्वविद्यालय
एम.एस.जे. कॉलेज कैम्पस, भरतपुर

2. डॉ. ओम प्रकाश सिंह, व्याख्याता
राजकीय उच्च माध्यमिक विद्यालय, माणक चौक, जयपुर

3. श्री संतोष कुमार शर्मा, प्राध्यापक
संस्कृत शिक्षा निदेशालय, शिक्षा संकुल, जयपुर

4. श्री अजय जैन, व्याख्याता
राजकीय उच्च माध्यमिक विद्यालय, बून्दी

5. श्री पूनाराम, वरि. अध्यापक
राजकीय उच्च माध्यमिक विद्यालय, भीमाना, सिरोही

भूमिका

प्रस्तुत पुस्तक 'विश्व का इतिहास' माध्यमिक शिक्षा बोर्ड राजस्थान द्वारा निर्धारित कक्षा–11 के नवीन पाठ्यक्रमानुसार लिखी गई है। इसमें आदिमानव से लेकर सम्प्रति काल तक के विवरण का समावेश किया गया है। साथ ही इस बात का ध्यान रखा गया है कि विद्यार्थी इस पुस्तक के अध्ययन से राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, वैज्ञानिक आदि प्रवृत्तियों से परिचित हो सकें। प्राचीन सभ्यताओं और विश्व के धर्म अध्यायों में भारतीय सभ्यता एवं भारतीय धर्मों का भी समावेश किया गया है ताकि विद्यार्थी को भारत के विश्व व्यापी प्रभाव का ज्ञान हो सके। इसी प्रकार अमेरिका के संघर्ष को नये दृष्टिकोण से देखने का प्रयास किया गया ताकि वहाँ की मूलभूत समस्या पर ध्यान केन्द्रित हो सके। आतंकवाद की हुई नवीनतम घटनाओं के समावेश से स्थिति की गम्भीरता का विद्यार्थी अनुमान लगा सकेंगे। आशा है प्रस्तुत पुस्तक विद्यार्थी को विश्वव्यापी दृष्टिकोण का विकास करने में सहायक होगी। संयोजक एवं लेखकगण पुस्तक प्रणयन में जिन विद्वानों के ग्रंथों से सहायता ली, उनके प्रति आभार प्रकट करते हैं।

संयोजक एवं लेखकगण

इतिहास

विषय कोड–13

समय– 3.15 घण्टे पूर्णांक–100

इकाई –1. विश्व की प्रमुख सभ्यताएं 21
- आदि मानव का विकास
- प्राचीन मिश्र की सभ्यता
- प्राचीन बेबीलोन की सभ्यता
- प्राचीन चीन की सभ्यता
- सिन्धु घाटी सभ्यता
- यूनान व रोम की सभ्यता

इकाई –2. विश्व के प्रमुख धर्म 15
- वैदिक धर्म
- जैन धर्म
- बौद्ध धर्म
- ईसाई धर्म
- इस्लाम धर्म

इकाई –3. यूरोप में पुनर्जागरण एवं धर्म सुधार आन्दोलन तथा औद्योगिक क्रान्ति 15
- यूरोप में पुनर्जागरण एवं धर्म सुधार आन्दोलन
- औद्योगिक क्रान्ति के अर्थ, कारण एवं परिणाम

इकाई –4. विश्व में राष्ट्रवाद का विकास 15
- अमेरिका का स्वतंत्रता संग्राम
- फ्रांस की राज्य क्रान्ति एवं नेपोलियन बोनापार्ट
- इटली एवं जर्मनी का एकीकरण

इकाई –5. प्रथम विश्व युद्ध 10
- प्रथम विश्व युद्ध
- 1917 की रूस की क्रान्ति

इकाई –6. 1919–1945 के मध्य का विश्व 14
- राष्ट्रसंघ की स्थापना
- आर्थिक मंदी
- फांसीवाद एवं नाजीवाद
- द्वितीय विश्व युद्ध
- संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना

इकाई –7 द्वितीय विश्व युद्ध के बाद का विश्व 10
- गुट निरपेक्ष आन्दोलन
- शीत युद्ध
- आधुनिक विश्व का विकास एवं चुनौतियां

विश्व का इतिहास

इकाई –1 विश्व की प्रमुख सभ्यताएं 21

(i) आदि मानव का इतिहास– पूर्व पाषाण युग, नव पाषाण युग, एवं धातु युग।

(ii) प्राचीन मिश्र की सभ्यता– नील नदी की देन, पिरामिडों का युग, शासन, प्रबंध एवं संस्कृति।

(iii) प्राचीन बेबीलोन की सभ्यता– विस्तार, सुम्भेर एवं अक्कद नगर, हम्मूराबी, राजनीतिक व्यवस्था, सामाजिक व्यवस्था, आर्थिक व्यवस्था, लेखन कला का विकास, विश्व सभ्यता की देन।

(iv) प्राचीन चीन की सभ्यता– प्रारंभिक विकास, विभिन्न राजवंश, राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक संगठन एवं कला व साहित्य।

(v) सिन्धु घाटी सभ्यता– भौगोलिक विस्तार, नगर विन्यास, सामाजिक, धार्मिक एवं आर्थिक जीवन, व्यापार एवं वाणिज्य

(vi) यूनान व रोम की सभ्यता– यूनान का ऐतिहासिक महत्व, शासन, धर्म, कला अंक तथा लेखन शैली, होमर कालीन सभ्यता एवं संस्कृति, एथेन्स गणतंत्र का विकास, रोम गणतंत्र की स्थापना, जूलियस सीजर एवं आगस्टस, साहित्यिक एवं सांस्कृतिक पुनरूत्थान।

इकाई –2 विश्व के प्रमुख धर्म 15

(i) वैदिक धर्म – विशेषताएं एवं प्रमुख देवी देवता।

(ii) जैन धर्म– महावीर स्वामी की शिक्षाएं एवं विश्व संस्कृति को देन।

(iii) बौद्ध धर्म– महात्मा बुद्ध की शिक्षाएं एवं विश्व संस्कृति को देन।

(iv) ईसाई धर्म– ईसा मसीह का जीवन एवं शिक्षाएं

(v) इस्लाम धर्म– प्रादुर्भाव, मोहम्मद साहब की शिक्षाएं

इकाई –3 यूरोप में पुनर्जागरण एवं धर्म सुधार आंदोलन तथा औद्योगिक क्रान्ति 15

(i) यूरोप में पुनर्जागरण एवं धर्म सुधार आन्दोलन, पुनर्जागरण का अर्थ, कारण एवं प्रभाव।

(ii) धर्म सुधार आंदोलन– अभिप्राय, कारण, प्रमुख सुधारक, प्रतिवादी धर्म सुधार आन्दोलन, एवं प्रभाव।

(iii) औद्योगिक क्रान्ति– अर्थ, इंग्लैंड में प्रारम्भ होने के कारण, परिवर्तन एवं परिणाम।

इकाई –4 विश्व में राष्ट्रवाद का विकास 15

(i) अमेरिका का स्वतंत्रता संग्राम– प्रारंभिक इतिहास, कारण, घटनाएं एवं परिणाम।

(ii) फ्रांस की राज्य क्रान्ति– कारण, प्रमुख घटनाएं एवं परिणाम।

(iii) नेपोलियन बोनापार्ट– उत्थान, शासन सुधार एवं पतन।

(iv) इटली का एकीकरण– मेजिनी, काबूर एवं गैरीवाल्डी का योगदान।

(v) जर्मनी का एकीकरण– जर्मनी में राष्ट्रीय एकता का विकास, विस्मार्क का योगदान।

इकाई –5 प्रथम विश्व युद्ध 10

(i) प्रथम विश्व युद्ध– कारण एवं परिणाम।

(ii) 1917 की रूस की राज्य क्रान्ति– कारण एवं परिणाम।

इकाई –6 1919–1945 के मध्य का विश्व 14

(I) राष्ट्रसंघ की स्थापना– उददेश्य एवं असफलता के कारण।

(ii) आर्थिक मंदी– परिस्थितियां एवं परिणाम।

(iii) फांसीवाद – प्रादुर्भाव, कारण एवं परिणाम।

(iv) नाजीवाद– प्रादुर्भाव, कारण एवं परिणाम।

(v) द्वितीय विश्व युद्ध– कारण एवं परिणाम।

(vi) संयुक्त राष्ट्रसंघ– स्थापना, उददेश्य गठन एवं उपलब्धियां।

इकाई –7 द्वितीय विश्व युद्ध के बाद का विश्व 10

(i) शीत युद्ध– उत्पत्ति एवं सोवियत संघ का विघटन

(ii) गुट निरपेक्ष आन्दोलन– भारत का योगदान

(iii) आधुनिक विश्व एवं चुनौतियां– पर्यावरण एवं आतंकवाद।

निर्धारित पुस्तक –

विश्व का इतिहास – माध्यमिक शिक्षा बोर्ड, राजस्थान, अजमेर।

अनुक्रमणिका

इकाई	अध्याय	पृष्ठ
1	विश्व की प्रमुख सभ्यताएँ	1–39
2	विश्व के प्रमुख धर्म	40–57
3	यूरोप में पुनर्जागरण एवं धर्म सुधार आन्दोलन तथा औद्योगिक क्रान्ति	58–75
4	विश्व में राष्ट्रवाद का विकास	76–111
5	प्रथम विश्व युद्ध	112–134
6	1919–1945 ई. के मध्य का विश्व	135–161
7	द्वितीय विश्व–युद्ध के बाद का विश्व	162–194

इकाई–1

विश्व की प्रमुख सभ्यताएँ

सभ्यता शब्द का अर्थ उन संसाधनों और कला कौशल से है जिनके द्वारा मनुष्य अपने जीवन की समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। सभा शब्द से बने सभ्यता शब्द का शाब्दिक अर्थ, उन मानव व्यवहारों का ज्ञान अथवा अनुशासन के वे नियम जिनसे बंधकर मनुष्य समाज में सामूहिक जीवन का आचरण करता है। सभ्यता उपयोगिता मूलक सामाजिक अनुशासन है जो मानव को पशु से अलग करती है।

सभ्यता का सम्बन्ध मनुष्य के बाह्य स्वरूप अथवा भौतिक प्रगति से है। बौद्धिक चिन्तन द्वारा जब मनुष्य ज्ञान, नीति, आचरण एवं परम्पराओं की मानसिक प्रवृत्तियों का सृजन करता है वह उसकी संस्कृति है। सभ्यता और संस्कृति दोनों अंतः सम्बंधित है। सभ्यता शरीर है तो संस्कृति आत्मा है। संस्कृति से रहित सभ्यता निष्प्राण है तो सभ्यता से रहित संस्कृति अस्तित्वहीन है।

प्रारम्भिक सभ्यताओं का उदय लगभग 5000 ई. पू. यानि आज से 7000 वर्ष पहले विश्व के कुछ भागों में होने लगा। विशेष बात यह है कि प्रमुख सभ्यताओं का उदय नदी घाटियो में हुआ क्योंकि इन क्षेत्रों में स्थितियाँ सभ्यता के विकास के अनुकूल थी। इन सभ्यताओं की कुछ समान विशेषताएं थी यद्यपि इनमें से हर एक का अपना एक विशिष्ट चरित्र था और उसका मानव प्रगति में अपना विशेष योगदान रहा।

आदि मानव का इतिहास

सृष्टि की उत्पत्ति और मानव जीवन के अवतरण की कहानी अत्यंत रोचक है। एक अरब 85 करोड़ वर्ष की आयु वाली इस पृथ्वी पर करोड़ों वर्षों तक परिवर्तन होते रहे है। जलचर, रेंगकर चलने वाले, उड़ने वाले एवं अंत में स्तनधारी जीवों का शनैः शनैः उदय हुआ। स्तनधारी जीव से विकसित मानव पूर्वज बिना पूंछ के बंदर के समान निर्वस्त्र, कन्दमूल फल खाता था। गुफाओं व वनों में निवास करता था। इस आदि मानव का विकासकाल पांच लाख ई.पू. से पांच हजार ई. पू. तक अनुमानित माना गया है। इस युग को 'हिमयुग' कहा गया है। आदि मानव के विकास की इस दीर्घ यात्रा काल को प्रागैतिहासिक काल कहा जाता है। हाथ, वाणी और विचार इन तीन शक्तियों की महत्ती भूमिका आदि मानव से मानव बनने में रही है। उपलब्ध अवशेषों के आधार पर मनुष्य के इस प्रगतिकाल को पाषाणकाल और धातुकाल में विभक्त किया गया है। मानव प्रगति की कहानी को इतिहास कहते हैं। लिखना सीखने के पहले भी मानव इस धरती पर लाखों वर्ष रह चुका था यह सुदूर अतीत, जब मनुष्य ने घटनाओं का कोई लिखित विवरण नहीं रखा, प्राक् इतिहास कहलाता है। उसे हम प्रागैतिहासिक काल भी कहते है।

जहाँ प्रागैतिहासिक मनुष्य रहते थे, वहाँ के उत्खनन में पुराने औजार, मिट्टी के बर्तन, रहने के स्थान तथा मनुष्यों और जानवरों की हड्डियाँ मिली है। इन चीजों से मिली जानकारी को एक साथ जोड़कर विद्धानों ने एक विवरण तैयार किया था इस विवरण से मालूम हुआ कि प्रागैतिहासिक काल में क्या घटनाए घटी और मनुष्य कैसे रहते थे। अपने विकास काल में मनुष्य ने साथ–साथ मिलकर रहना तथा प्रकृति में पाए जाने वाले फलों तथा शिकारों की खोज में एक साथ जीना सीखा। पत्थर के औजार बनाना, शरीर ढकने के लिए जानवरों की खाल का इस्तेमाल करना तथा रहने के लिए घर बनाना सीखने में लाखों वर्ष लग गए। उसने बोलना, आग जलाना सीख लिया किन्तु इसके उपरान्त भी वह शिकार करके, मछली मारकर तथा प्रकृति में पाए जाने वाले भोजन को इकट्ठा करके ही जिन्दा रहता था। आदिमानव के विकास के इस काल को ''पाषाण युग'' कहा जाता है।

अब से लगभग 10,000 वर्ष पूर्व से ही मनुष्य तेजी से विकास करने लगा था। उस समय उसने अनेक प्रकार के उन्नत औजार बनाने आरम्भ कर दिए। इस काल को ''मध्य पाषाण काल'' कहा जाता है। भोजन इकट्ठा करने वाले से मनुष्य भोजन उत्पादन करने वाला बन गया। फसलों को उगाने

से मनुष्य के जीवन में ऐसे बड़े परिवर्तन हुए कि एक नया युग ही आरम्भ हो गया। इस युग को ''नवपाषाण काल'' कहा जाता है।

मानव के विकास से लेकर कुछ वर्षों बाद ही होमोसेपियंस या ''ज्ञानी मानव'' इस धरती पर प्रकट हो सके। मानव विकास के दौरान मानव वानरो की भांति दिखाई देता था लेकिन धीरे–धीरे उसने सीधा चलना सीखा, उसके दिमाग का आकार बढ़ा और वह ज्ञानी मानव बन सका जो कि सोच–समझ सकता था। होमोसेपियंस के प्रकट होने से लेकर अब तक के 30,000 वर्षों में मनुष्य में परिवर्तन होते आए है जो आज भी बंद नहीं हुआ है। जो परिवर्तन आज तक चलता आ रहा है वह है – इसकी संस्कृति में परिवर्तन। संस्कृति से तात्पर्य, रहने का ढंग, व्यवहार, जीविका कमाने का बेहतर तरीका निकालना, नया ज्ञान ढूंढना, कला और साहित्य में अपने विचारों को व्यक्त करना।

पुरातत्वविद्

चिर अतीत में रहने वाले हमारे पूर्वजों के दैनिक जीवन और उनके व्यवसायों पर रोशनी डालने के लिए टीलों और खंडहरो के रूप में पुराने स्थानों की खुदाई को जिन विद्धानों ने एक विज्ञान का रूप दिया है, उन्हें ''पुरातत्वविद्'' कहा जाता है। पुरातत्व का ज्ञान पुरातत्वविदों की देन है। इसने हमें लाखों वर्षों की मानव–प्रगति से परिचित कराया है।

पुरातत्व सामग्रियों का काल निर्धारण –

पुरातत्वविद् जिन वस्तुओं को ढूंढ़ निकालते हैं उनकी तिथि निर्धारित करने के लिए विभिन्न तरीके अपनाते हैं। अगर ऐसे सिक्के या अभिलेख मिलते हैं जिन पर किसी राजा का नाम होता है तो उसके साथ मिलने वाली अन्य सामग्रियों की तिथि भी मोटे तौर पर निर्धारित की जा सकती है। विज्ञान ने यह मालूम करने में मदद दी है कि कोई वस्तु कितनी पुरानी है। सभी वस्तुओं में एक प्रकार का रेडियोधर्मी कार्बन होता है जिसे कार्बन–14 कहते है। जब मनुष्य, पशु और पौधे जिन्दा होते है तब वे जिस मात्रा में वायुमण्डल से कार्बन–14 लेते है उसी मात्रा में रेडियो धर्मिता के कारण उसे खो देते है। जब कोई जीवित वस्तु नष्ट हो जाती है तब वायुमण्डल से नया कार्बन–14 नहीं लेती अपितु वह उसे एक निश्चित दर से खोती रहती है। किसी वस्तु में निहित कार्बन–14 की मात्रा का पता लगा कर वैज्ञानिक हमें यह बता सकते हैं कि वह वस्तु मोटे तौर पर कितनी पुरानी है। इसे तिथि निर्धारण की कार्बन–14 पद्धति कहते है।

पाषाण युग

पाषाण युग के मानव के औजार –

सांस्कृतिक विकास की प्रक्रिया उस समय प्रारम्भ हुई जब हमारे पूर्वजों में खुरदरे औजार बनाने का कौशल आ गया। ये औजार बहुधा ऐसे पत्थर के टुकड़ों से मिलते–जुलते थे, जो प्राकृतिक क्रियाओं से औजार जैसी शक्ल के बन या गढ़ गये थे। बहुत से प्राकृतिक कारणों से पत्थरों की पपड़ी उतर जाती है। प्राकृतिक रूप से पपड़ी उतरते देखकर ही शायद मनुष्य को यह प्रेरणा मिली होगी कि वह भी विभिन्न कार्यों के लिए पत्थर को गढ़कर औजार बना सकता है। पाषाण युग के औजार तीन मुख्य प्रकारों में मिलते थे : कुठार, गंडासे और रूखानी या शल्कर (छीलने वाले) औजार।

कुठार मुट्ठी में पकड़ा जाता था एवं किसी वस्तु को काटने के उपयोग में लाया जाता था। इससे किसी वस्तु को कुचलने का काम भी किया जाता था। यह पत्थर के टुकड़े के सख्त मध्य भाग से पपड़ी उतार कर बनाया जाता था। गंडासे संभवतः मांस काटने के लिए काम में लाए जाते थे, वे भारी पत्थर के एक ओर तेज नोंक बनाकर तैयार किए जाते थे। रूखानी या शल्कर औजार कुठारों और गंडासों की अपेक्षा छोटे और पतले होते थे, मगर उनके किनारे अधिक पैने होते थे। पाषाण युग के औजार यूरोप, अफ्रीका और एशिया के अनेक स्थानों पर मिले हैं। बाद में बहुत से औजार हड्डी और हाथी दांत के बनाए गए। इनके साथ ही धनुष–बाण और भाला भी ऐसे अस्त्र थे जो शत्रु से लड़ने, दूर की वस्तु पर ठीक निशाना लगाने के उपयोग आते थे। शिकारी इनकी सहायता से पशुओं के झुण्ड को उत्तेजित किए बिना चुपके से लगातार तीर अथवा भाले काफी दूरी से फैंक सकता था। उस समय धनुष ही सबसे उपयोगी हथियार था।

सामुदायिक जीवन का प्रारम्भ –

उत्तर–पाषाण युग में मनुष्य का मुख्य व्यवसाय शिकार करना और फल इकट्ठा करना था। इस युग में मानव भोजन–सामग्री ढूँढ़ने के कार्य में साथी मानवों के साथ सहयोग करना सीख गया था। उसे यह ज्ञात हो गया था कि जब तक

वह दूसरों से मिल–जुलकर नहीं रहेगा वह जिन्दा नही रह सकता है। अपनी रक्षा के लिए भी मिल–जुलकर रहना उसके लिए जरूरी हो गया था। समुदाय का आकार इलाके में उपलब्ध फलों की मात्रा तथा शिकार किए जाने वाले जानवरों की संख्या पर निर्भर करता था। ये समुदाय या कुल एक ही जगह पर बहुत दिनों तक बसे हुए नहीं रह पाते थे। उन्हें ऋतुओं के बदलने पर पशुओं के साथ ही अपना स्थान परिवर्तन करना पड़ता था।

पाषाण कालीन मानव में संभवतः स्वामित्व या निजी सम्पत्ति की भावना विकसित नहीं हुई थी। ऐसा माना जाता है कि उस समय पुरूषों और स्त्रियों का स्तर समान था और सामाजिक असमानताओं का जन्म नहीं हुआ था।

पाषाण कालीन कला –

इस काल के मानव ने पहले अपनी गुफाओं की दीवारों पर रेखाएं खींच कर चित्र बनाए। उसने चित्रकला नक्काशी और मूर्ति कला में बहुत उन्नति की। कुछ गुफाओं की दीवारों और भीतरी छतों पर बहुरंगी चित्र मिले हैं जो ''चित्र वीथियो'' के समान लगते हैं। इन चित्रों और नक्काशियों में भागते हुए जंगली सांड, घोड़े, रीछ, बारहसिंघों, मैमथो (पुराकालीन हाथी) के झुंड तथा शिकार के बड़े दिलचस्प दृश्य दिखाई पड़ते हैं। मनुष्य और पशुओ की आकृतियां भी हड्डियों और हाथी दांत पर खुदी मिली। कला का उद्देश्य कुछ भी रहा हो, इसके अभ्यास से पाषाण कालीन मानव में सौन्दर्य बोध का विकास भी हुआ। उसने अपने निजी सामानों को सजाया तथा अपने औजारों पर नक्काशी भी की। हाथी–दांत, हड्डियों, पत्थरों और सीपियों से बने हार, कर्णफूल और दस्तबंद से अपने शरीर को भी सजाया।

1.1 पाषाण युगीय मानव औजार बनाते हुए

भारत में अनेक स्थानों पर पहाड़ियो की चट्टानों में बने निवास स्थानों में अनेक चित्र मिले है। इनमें से अनेक चित्रों की तिथियों को निश्चित करना कठिन है तथा मध्य प्रदेश के भीमवेटका के चित्र पाषाण युग के समझे जाते है।

नवपाषाण युग

संक्रांति की अवस्था –

मानव ने मध्यपाषाण युग में काफी उन्नति की है जो पाषण युग को नव पाषाण युग से अलग करती है। इस युग में जो क्षेत्र पहले बर्फ से ढके हुए थे वहाँ धीरे–धीरे जंगल उग आए। बड़े पशु तो वहाँ से चले गए किन्तु मनुष्य ने कुत्ते को पालतू बना लिया। कुत्ता उसे शिकार में सहायता देने लगा। मध्य पाषाण युग की विशेषता छोटे औजारों का इस्तेमाल थी। इन छोटे औजारों को ''लघुअश्म'' कहते है। मध्यपाषाण युग के मनुष्य बर्फ पर चलने के लिए बिना पहिए की स्लेज गाड़ी का इस्तेमाल करते थे।

कृषि का आरम्भ –

भोजन इकट्ठा करने से अनाज उत्पादन में परिवर्तन एकाएक नहीं हो गया। यह परिवर्तन धीरे–धीरे मध्य पाषाण युग के लोगों के प्रयोगों से हुआ। पहले मानव को इस बात का ज्ञान नहीं था कि अनाज को उगाया भी जा सकता है क्योंकि उसने हर वर्ष अपने चारो और पेड़–पौधों को स्वभाविक रूप से उगते देखा। मानव ने भोजन के लिए अन्न प्राप्त करने का विश्वसनीय ढ़ग निकाल लिया। सबसे पहले कृषि–कार्य थाईलेंड, अरब तथा ईरान के मरूस्थलों की सीमाओं पर ऐसी घाटियो में प्रारम्भ हुआ जहां पानी की कमी नहीं थी जिन्हें ''धन्वाकार उपजाऊ प्रदेश'' कहते है। यह स्पष्ट है कि नवपाषाण काल में पशु–पालन और कृषि मनुष्यों द्वारा किये जाते थे।

बस्तियों का विकास –

जब मानव ने कृषि के अविष्कार को पूरी तरह अपना लिया तभी से नवपाषाण युग का प्रारम्भ हुआ। इस युग में जीवन इतना अधिक बदल गया कि इस युग को ''नव पाषाण युगीन क्रांति'' कहा जाता है। जब मानव ने कृषि करना प्रारम्भ किया तो उसे तुरन्त पता लग गया कि केवल बीज बोना पर्याप्त नहीं है। बढ़ते हुए पौधों की देखभाल करना भी आवश्यक है। जिसके चलते व्यवस्थित जीवन का प्रारम्भ हुआ। लोगों ने मिट्टी के घरों तथा लकड़ी के खम्भों और घास–फूस के छप्पर से बने

मकानों में रहना आरम्भ कर दिया। बस्तियां आमतौर पर उनके खेतो के नजदीक थी। बाद में ये ही बस्तियां विकसित होकर गांव बन गई और उन्ही मे से कुछ नगर बन गए। व्यवस्थित जीवन के फलस्वरूप ही संगठित सामाजिक जीवन का विकास हुआ।

मिश्रित कृषि का विकास –

नवपाषाण कालीन मनुष्यों ने खेती के साथ–साथ पशुपालन की भी शुरूआत की। जिसे ''मिश्रित कृषि'' कहा जाता था। पशुओं का मुख्य उपयोग दूध और मांस प्राप्त करने के लिए होता था। वे अभी माल ढोने या हल जोतने के काम में नहीं लाए जाते थे। कृषि के विकास के कारण विविध परिवर्तन हुए जो भोजन तुरन्त इस्तेमाल नहीं किया जा सकता था उसको सुरक्षित रखना आवश्यक हो गया। फसल काटने के तुरन्त बाद सारा अनाज खर्च नहीं हो सकता था। उसे अगली फसल तक चलाना था और उसमें से बोने के लिए कुछ बीज बचाकर रखने की आवश्यकता थी। नवपाषाण कालीन बस्तियों में अनाज रखने के पात्र मिले हैं। इसी तरह पशुओं को भी सोच–विचारकर मारा जाने लगा। गायों को दूध देने और पशुओं की संख्या बढाने के लिए न मारा जाना ही ठीक समझा जाने लगा। अधिशेष अनाज खराब मौसम के समय और फसल खराब होने पर काम आता था और इससे बढ़ती हुई जनसंख्या का भी जीवन निर्वाह हो गया। खेतिहर अर्थव्यवस्था में अनाज के पर्याप्त भण्डार तथा उसकी बढती हुई उपलब्धता के कारण जनसंख्या में वृद्धि हुई। गांव बड़े होते गए और उनमें से कुछ नगर बन गए।

चिकने पत्थर के औजार –नवपाषाणकाल के औजारों की अपेक्षाकृत अधिक उपयोगिता और कुशल बनावट ही उन्हें पुरापाषाण कालीन औजारो से अलग कर देती है। नवपाषाण काल का एक महत्वपूर्ण औजार पत्थर की एक चिकनी कुल्हाडी थी। वह कुल्हाड़ी बढ़िया दानेदार पत्थर के टुकड़े से बनी होती थी। उसके एक सिर को गढ़ा जाता था और चिकना बनाया जाता था जिससे काटने वाला किनारा तेज हो जाए। उसकी सहायता से मनुष्य लकड़ी काटने और उसे मनचाहा रूप देने में समर्थ हुआ जिसके फलस्वरूप बढ़ईगीरी का विकास हुआ। नवपाषाण काल में मानव सुई और कांटेदार बर्छी,गुलेल जैसे औजार हड्डी तथा सींगों से बनाने लगा।

मिट्टी के बर्तनो का आविष्कार –

भोजन को रखने और पकाने के लिए बर्तनो की आवश्यकता हुई जिनसे अनाज तथा द्रव पदार्थ रखे जा सके और जो आग पर भी चढ़ाए जा सके। प्रारम्भ में सींको और टहनियों से बनी टोकरियों को फल तथा सूखी वस्तुऐं रखने के काम लिया जाता था। द्रव पदार्थ रखने के लिए उन्हें मिट्टी से पोत दिया जाता था। धीरे–धीरे मनुष्य ने मिट्टी के बर्तनों को आग में पकाना सीखा। नवपाषाण काल में मानव गोल पट्टियों और रेशो की रस्सियां बनाना जानते थे। उन्होने कुंडली वाले गोल बर्तन बनाना सरलता से सीख लिया। वे मिट्टी में रेत, पीसी हुई सीपी और कटा हुआ भूसा अच्छी प्रकार मिलाकर उसकी लम्बी रस्सी–सी बना लेते थे जैसा कि वे टोकरी बनाने के लिए करते थे। इन रस्सियों की कुंडलियां बनाकर एक के ऊपर दूसरी रखकर उन्हें चिपका लेते थे। फिर उन्हें मनचाहा आकार देते थे और पका लेते थे जिससे बर्तन सख्त हो जाते थे और उन पर पानी का कोई असर नहीं पड़ता था। मिट्टी के बर्तनो का आविष्कार सभी नवपाषाण कालीन सभ्यताओं की विशेषता है।

कातने और बुनने की कला का प्रारम्भ –

इस काल में खाल और पत्ती से बने घाघरो के स्थान पर मनुष्य सन, रूई और ऊन के बने हुए कपड़े पहनने लगे। 3000 ई.पू. के कुछ ही समय बाद सिंधु–घाटी में कपास उगाई जाने लगी थी। इसी समय के आस–पास इराक में ऊन का इस्तेमाल होता था। परन्तु कपड़ा तैयार करने से पहले कातने और बुनने की दो प्रक्रियाओं का आविष्कार तथा दोनों का एक साथ प्रयोग करना आवश्यक था। कातने के लिए तकली, तकुआ और बुनने के लिए करघे जैसी पेचीदा मशीन के आविष्कार मानव बुद्धि की महान सफलताएं है।

सामुदायिक जीवन में सुधार –

व्यवस्थित जीवन और खेती बाड़ी ने मनुष्य को अवकाश का समय दिया। खाली समय में वह पत्थर के औजार, कुदाल या बर्तन बना सकता था। कुछ लोग जिन्हें अपना भोजन उत्पन्न करने की जरूरत नहीं थी, अपने को हमेशा, दूसरे कार्यो

में लगा सकते थे। इसके फलस्वरूप श्रम का विभाजन हुआ। नवपाषाण काल में सामाजिक विषमताएं उत्पन्न नहीं हुई थीं। ऐसा माना जाता था कि खेती की जमीन सारे समुदाय की सम्पत्ति है। समुदाय अलग–अलग परिवारो को जमीन के टुकड़े खेती करने के लिए दे देता था या सारा समुदाय सम्मिलित खेतो पर काम करता था। धीरे–धीरे अलग परिवार अलग–अलग भूमि खण्डों के स्वामी हो गए और जमीन सारे समुदाय की सम्पत्ति नहीं रही। जमीन की भांति मकान, बर्तन और आभूषण भी अलग–अलग परिवारों की सम्पत्ति थे।

धार्मिक विश्वास –

अपने अस्तित्व की पृथक पहचान हेतु परिवारों का कोई समूह यदि किसी पशु या पौधे की आकृति को अपनी जाति या समूह का चिन्ह मान लेता था तो उसे उस समूह का ''कुल–चिन्ह'' कहा जाता था। इसी प्रकार मृत व्यक्तियों को दफनाने के ढ़ंग से नवपाषाण कालीन लोगों के धार्मिक विश्वासों के विषय में कुछ ज्ञात होता है। मृत व्यक्तियों को हथियार, मिट्टी के बर्तन तथा खाने–पीने की चीजो के साथ कब्रों में दफनाया जाता था। उस काल में लोगों का मानना था कि जिन मृत पूर्वजो के शव जमीन में नीचे गड़े है, उनकी आत्माएं फसलों के बढ़ने में सहायता देती है। मनुष्यों का विश्वास था कि सूर्य, चन्द्रमा, तारे और प्रकृति की अन्य शक्तियाँ कुछ असाधारण सामर्थ्य रखती है। इसलिए उस काल का मानव उनकी पूजा करके उन्हें प्रसन्न करने की कोशिश करता था। इस काल में बस्तियों में मिट्टी की बनी स्त्रियों की छोटी मूर्तियां मिली हैं जिन्हें ''मातृदेवी'' कहा जाता था।

पहिए का आविष्कार –

इसी काल के आस–पास मनुष्य ने पहिए का आविष्कार किया जिसके परिणामस्वरूप एक तकनीकी क्रांति हो गई। ऐसा माना जाता है कि मनुष्य ने सबसे पहले पहिए का प्रयोग मिट्टी के बर्तन बनाने में किया था। इसके बाद पहिए का प्रयोग गाड़ी खींचने के लिए किया होगा क्योंकि मनुष्य बिना पहिए की स्लेज गाड़ियों का प्रयोग तो पहले से ही जानता था। पहिए वाली गाड़ी के द्वारा सामान को एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाना बहुत सरल हो गया था। जल्द ही ऐसी गाड़ी को खींचने के लिए पशु काम में लाये जाने लगे। कताई करने में भी पहिए का इस्तेमाल पहले से ही किया जाता था।

धातु युग

धातुओं की खोज और प्रयोग का मानव जाति के इतिहास में काफी महत्त्व है। यह सभ्यता का संक्रमण काल था। धातुओं से मनुष्य को एक ऐसी सामग्री मिल गई जो पत्थर से अधिक टिकाऊ थी और जिसका इस्तेमाल विविध प्रकार के औजारों, उपकरणों और हथियारों को बनाने के लिए किया जा सकता था। सर्वप्रथम जिस धातु को ढूँढ़ निकाला गया वह तांबा थी। जिस काल में मनुष्य ने पत्थर और तांबे का साथ–साथ इस्तेमाल किया उसे ''ताम्र–पाषाण काल'' कहते है। ताँबे के साथ टिन या जस्ते को मिलाकर कांसा नामक मिश्रित धातु बनाना आरम्भ कर दिया। कांसा तांबे से अधिक उपयोगी साबित हुआ। वह तांबे से अधिक सख्त होता था इसलिए मजबूत औजारो, हथियारो तथा उपकरणो को बनाने के लिए अधिक उपयोगी होता था। सभ्यताओ के विकास में कांसे के महत्व के कारण इस काल को ''कांस्य युग'' भी कहा जाता है।

इसके पश्चात लोहे की खोज हुई। इसकी खोज और प्रयोग से जो सबसे महत्वपूर्ण परिवर्तन आया वह था– सभ्यता का प्रसार। सभ्यता के प्रसार के परिणामस्वरूप विश्व के विभिन्न भागों के बीच व्यापार भी प्रारम्भ हो गया। परिवहन के साधनों में भी सुधार हुआ। व्यापार वस्तु–विनिमय के स्थान पर मुद्रा से होने लगा।

मिश्र की प्राचीन सभ्यता

मिश्र अफ्रीका महाद्वीप के उत्तर पश्चिम में नील नदी द्वारा सिंचित एक देश है। नील नदी को विश्व की जीवन रेखा कहा गया है। नील नदी के दोनों ओर से समूचा प्रदेश मिश्र की सभ्यता के उद्‌भव और विकास का क्षेत्र था। मिश्र में नाम मात्र की वर्षा होती है। वर्षा ऋतु में नील नदी अपने दोनो किनारो को काफी दूर तक बाढ़ के पानी से भर देती है और अपने साथ लाई उपजाऊ मिट्टी जमा करती है तथा मिश्रवासियों की खनिज, घास तथा हरियाली के द्वारा अन्य आवश्यकताओं को पूरा करती है। यदि इस प्रदेश में नील नदी ना बहती तो यह क्षेत्र भी सहारा मरूस्थल का ही मरूस्थलीय भाग होता। इसीलिए हेरोडोटस ने कहा कि, ''मिश्र नील नदी का वरदान है।''

राजनीतिक जीवन–

प्राचीनकाल में मिश्र करीब चालीस छोटे–छोटे राज्यों में बंटा हुआ था। इन राज्यों के मध्य निरन्तर संघर्ष होता रहता था। परिणाम स्वरूप उतरी मिश्र एवं दक्षिण मिश्र दो राज्यों का निर्माण हुआ। इन राज्यों को भी 3400 ई.पू. एक करने का श्रेय मिनीज नामक राजा को जाता है। इस प्रकार मिश्र में राजनीतिक एकता का प्रादुर्भाव हुआ। राजनीतिक घटनाक्रमों के आधार पर मिश्र को तीन कालों में बांटा जाता है।

1. पिरामिडो का युग या प्राचीन राज्य (3400 ई.पू. से 2160 ई. पू.)
2. सामंती युग अथवा मध्यकालीन राज्य (2160 ई. पू. से 1580 ई.)
3. साम्राज्यों का युग अथवा नवीन राज्य (1580 ई.पू. से 650 ई.पू.)

   छठी सदी ई.पू. फारस ने मिश्र पर पर अपना अधिकार जमा लिया और 332 ई.पू. में सिकन्दर ने मिश्र की स्वाधीनता नष्ट कर दी।

सामाजिक व्यवस्था

सामाजिक वर्गभेद –

प्राचीन मिश्र की एक प्रमुख विशेषता सामाजिक असमानता का विकास है। समाज मुख्य रूप से तीन प्रमुख वर्गों में बंटा हुआ था तथा सभी लोगों का स्तर एक समान नहीं था। पहला वर्ग कुलीन लोगो का था जिसमें राजवंश, सामन्त, पुजारी या धर्माधिकारी लोग सम्मिलित थे। सिद्धान्ततः भूमि फराओ (राजाओं) के हाथ में थी, परन्तु व्यवहार में उसने इसे अधिकांशतः पुजारियों, पुराने राजाओ के वंशजो और सामन्तो में विभाजित किया हुआ था। इन जागीरो में दास काम किया करते थे। धर्माधिकारियों का भी समाज में बड़ा सम्मान था, सर्वसाधारण से मन्दिरों को काफी दान मिलता था। मन्दिरो की सम्पत्ति राजकीय करो से मुक्त होती थी। अतुल धन सम्पदा तथा राजनीतिक स्वतंत्रता के कारण पुजारी वर्ग भोग–विलासी बन गया था।

दूसरा वर्ग मध्यम वर्ग का था इसमें लिपिक, व्यापारी, शिल्पी, बुद्धिजीवी, कारीगर तथा कुछ स्वतंत्र किसान थे। इनके पास अधिकारो की कमी थी फिर भी इनकी स्थिति सन्तोषजनक थी और प्रशासन में इनका प्रभाव था।

तीसरे वर्ग में किसान, मजदूर व गुलाम आते थे किसानों की संख्या सर्वाधिक थी परन्तु उनका कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं था। सामान्यतः ये लोग खेतो के मालिक नहीं हुआ करते थे। उनकी स्थिति गुलामों के समान ही थी। उन्हें दिन–रात परिश्रम करना पड़ता था तथा अपनी आय का अधिकांश भाग करो के रूप में चुकाना पड़ता था इसके अतिरिक्त उन्हें कई प्रकार की बेगार भी करनी पड़ती थी। मजदूरों की स्थिति किसानो से भी अधिक शोचनीय थी उन्हें पर्याप्त मजदूरी नही दी जाती थी तथा उनसे क्रूरता के साथ बेगार ली जाती थी। समाज के सबसे निचले स्तर पर गुलाम या दास थे। सामान्यत युद्ध में पकड़े गए शत्रु सैनिक या ऋण ना चुकाने वाले नागरिक दास बना दिए जाते थे। दासो के प्रति व्यवहार पशुओं की भांति होता था। दासो को स्वामी की अवज्ञा करने पर सख्त सजा दी जाती थी।

परिवार –

मिश्र के समाज की इकाई परिवार था। परिवार में माता–पिता, भाई–बहिन, पुत्र–पुत्री आदि संयुक्त रूप से रहते थे। प्रागैतिहासिक काल में परिवार मातृसत्तात्मक रहे होंगे परन्तु ऐतिहासिक काल में पितृसत्तात्मक प्रथा ही पाई गई थी। विधि अनुसार केवल एक ही पत्नी होती थी, लेकिन समृद्ध पुरूष अनेक उपपत्नियाँ रखते थे। परिवार के सदस्यों में पारस्परिक स्नेह को अत्यावश्यक गुण माना जाता था।

स्त्रियों की दशा –

मैक्समूलर के अनुसार मिश्री सभ्यता में स्त्रियों का बहुत सम्मान था। विवाह स्थिर करते समय कन्या की राय ली जाती थी। विवाहोपरान्त परिवार में पत्नी को हर मामले में पति के समान माना जाता था। पिता की मृत्यु के उपरान्त उसकी सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी उसकी सबसे बड़ी लड़की होती थी। स्त्रियों को पर्याप्त सामाजिक स्वतन्त्रता भी प्राप्त थी। चित्रों में उन्हें घूमते हुए तथा व्यापार करते हुए और सार्वजनिक भोजों में भाग लेते हुए दिखाया है। कुछ रानियों जैसे हेपसेपसूत (हटशेप थुत) और क्लीयापेट्रा ने शासन प्रबन्ध अपने हाथ में ले लिया था।

खान–पान व रहन–सहन –

मिश्री सभ्यता के उच्च वर्गों तथा निम्न वर्गों के लोगों के रहन–सहन में भारी अन्तर था। अधिकांश लोग मिट्टी के घरों में रहते थे। कुलीन लोगों के घर अवश्य ही विशाल तथा सुख–सुविधा से सम्पन्न होते थे। कमर के नीचे लुंगी के जैसा कपड़ा या चमड़ा लपेटा जाता था। धनी लोग बहुमूल्य वस्त्र धारण करते थे। स्त्रियाँ जूड़े बाँधती थी और लिपिस्टिक, सुगन्धित तेल तथा गालों की सुर्खी का प्रयोग करती थी। पुरूष दाढ़ी बनाते थे।

मिश्र के लोग विभिन्न प्रकार के अन्न जैसे – गेहूँ, जौ, चावल, तिलहन तथा विभिन्न सब्जियों का भोजन में उपयोग करते थे। फलों में खजूर का प्रयोग अधिक किया जाता था। माँस और मदिरा का प्रचलन भी था।

उच्च वर्ग के लोग विशाल हवादार भवनों में रहते थे जिनके वातायनों और द्वारो पर गहरे रंगों में रंगे पर्दे पड़े रहते थे और फर्शों पर भारी दरियाँ बिछी रहती थी। उनके कमरे सुन्दर पलंगो, आलमारियों तथा और बहुमूल्य पाषाणों, स्वर्ण, रजत तथा ताम्र के पात्रों से सुसज्जित रहते थे।

इसके विपरीत निर्धन लोग गन्दे मोहल्लों तथा छोटी–छोटी झोपड़ियो में रहते थे जिनमे न तो पर्याप्त प्रकाश और न ही स्वच्छ हवा उपलब्ध थी। मिश्रवासी ऋतुओं के 6 त्यौहार मनाते थे। मल्ल युद्ध, पशु–युद्ध, पासे के खेल प्रचलित थे। नृत्य संगीत तथा संगीत के वाद्य बजाना भी मनोरंजन का तरीका था।

धार्मिक जीवन –

प्राचीन मिश्र के लोगों के जीवन में धर्म का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान था। उनके धार्मिक जीवन में बहुदेववाद देवताओं का मानवीकरण, मन्दिर और मूर्तियाँ, पुरोहित का धार्मिक कर्मकाण्ड, भेंट–पूजा और बलि, जादू–टोना, तंत्र–मंत्र, अन्धविश्वास, प्राकृतिक शक्ति की उपासना, पेड़–पौधे और पशु–पक्षियों की पूजा, आत्मा के अमरत्व में विश्वास, पुनर्जन्म और कर्मवाद की भावना तथा विधिवत मृतक संस्कार आदि की प्रधानता दृष्टिगोचर होती है।

1.2 ममी

मिश्री देव समूह काफी विशाल था। उनके अधिकांश देवता प्राकृतिक थे। उनके प्रमुख देवताओं में सर्वप्रमुख सूर्य, चन्द्र, नील, पृथ्वी, पर्वत, आकाश, वायु, वृक्ष, वनस्पति इत्यादि थे।

सूर्यदेव एमन–रे –

सूर्य की उपासना मिश्र में विभिन्न नामों और रूपों में होती थी। उत्तरी मिश्र में उसे 'रे' कहा जाता था। थीबिज में उनका नाम 'एमन' था। दक्षिणी मिश्र में उसकी उपासना 'होरूस' के नाम से होती थी। कालान्तर में उसका संयुक्त नाम 'एमन–रे' सर्वाधिक लोकप्रिय हुआ।

ओसिरिस –

सूर्य देव के बाद पृथ्वी पर उनके प्रतिनिधि के रूप में ओसिरिस को पहला स्थान दिया गया था। यद्यपि उन्हें कहीं–कहीं सूर्य का पुत्र कहा गया है। उसकी पत्नी 'आइसिस' भी एक प्रमुख देवी थी।

परलोकवाद –

मिश्री धर्म में परलोकवाद को भी काफी महत्व प्राप्त था। वे मृत्यु को जीवन का अन्त न मानकर एक घटना विशेष मानते थे। उनका विश्वास था कि हर मनुष्य में एक शक्ति विशेष होती है जो मृत्योपरान्त भी शरीर से चिपटी रहती है। इसके अलावा वे लोग 'आत्मा' में विश्वास रखते थे। वे पुनर्जन्म और कर्मवाद में विश्वास करते थे उनका विश्वास था कि पुण्यात्माओं का शीघ्र जन्म हो जाता है तथा पापात्माओं को घोर यातनाएं प्राप्त होती है।

मृतक समाधियाँ : पिरामिड –

मृतकों का विधिवत् संस्कार करना धर्म का एक मुख्य अंग समझा जाता था। उनका विश्वास था कि मृत्यु के उपरान्त आत्मा शुद्धि के लिए परलोक गमन करती है और शुद्धि के उपरान्त पुनः अपने मृतक शरीर में प्रवेश के लिए लालायित रहती है। इसी विश्वास के आधार पर वे मृतको के शरीर को नष्ट नहीं होने देते थे और विशेष मसालो की सहायता से उन्हें सुरक्षित रखते थे, जिसे 'ममी' कहा जाता है। इस ममी को विशाल पिरामिडो अथवा समाधियों में सुरक्षित रख दिया जाता था और उसके साथ मृतक की हैसियत के हिसाब से खाद्यान्न पदार्थ, फर्नीचर, आभूषण इत्यादि नाना प्रकार का सामान रख दिया जाता था। फराओ तुतेनखामेन के पिरामिड से बहुत सी सामग्री मिली है।

आर्थिक जीवन –

कृषि कर्म –

मिश्री समाज के आर्थिक जीवन का आधार कृषि वर्ग था। वे मुख्यतः गेहूँ, जौ, मटर, सरसों, अंजीर, जैतून, खजूर, फ्लेक्स, सन तथा अंगूर और अन्य अनेक फलों की खेती करते थे। लकड़ी का हल बैलों द्वारा खिंचवाया जाता था। मिश्र में कृषि कर्म आसान था। बिना हल चलाएं भी मिश्री किसान कई–कई फसल पैदा कर सकते थे। सिंचाई व्यवस्था का आधार नील नदी थी। उसमें आयी बाढ़ के जल को संग्रहित करने और खेतों तक पहुँचाने के लिए तालाबों और नहरों का जाल फैला हुआ था। सिंचाई के लिए जल, बाढ़ आने की सूचना, उपज बढ़ाने के लिए निःशुल्क सलाह देकर मिश्री सरकार कृषि कर्म में किसानो की सहायता करती थी। सौर पंचांग का आविष्कार किसानों की सुविधा के लिए हुआ था।

पशुपालन –

कृषि के साथ–साथ पशुपालन भी जीविका का एक प्रमुख साधन था। अनेक लोग चरवाहों के रूप में जीविकोपार्जन करते थे। साधारणतया मनुष्य गाय, बैल, खच्चर, घोड़ा, बकरा–बकरी, भेड़, गधे, मुर्गे, सुअर व बत्तख पालते थे।

उद्योग–धन्धे –

मिश्र में पाषाण, इमारती लकड़ी और खनिज पदार्थों के अभाव के कारण उद्योग–धन्धों के विकास की सुविधा बहुत कम थी। लेकिन इस अभाव की पूर्ति वे पड़ोसी देशों से आयात करके पूरी कर लेते थे। न्यूबिया से सोना तथा हिट्टाइट से लोहा मंगवाना पड़ता था। लोहे और तांबे के औजार बनाने में वे लोग निपुण थे। उन्हें धातु पिघलाना भी आता था। वे ताम्बा और टिन को मिलाकर कांसा बनाने की कला में भी दक्ष थे। सोने–चांदी के विभिन्न आभूषण बनाने तथा उन पर मीनाकारी करने के काम में भी उन्होंने दक्षता प्राप्त कर ली थी। असीरिया, न्यूनिया से वे देवदारू, हाथीदाँत और आबनूस का आयात करके इनसे अपने फराओं और सामन्तों के लिए बहुमूल्य फर्नीचर उपकरण बनाते थे पशुओं के चमड़े व खालों से वे भाँति–भाँति के वस्त्र और ढाल इत्यादि और हल्की नावें, चप्पले, चटाइयाँ और रस्सियाँ बनाते थे। ईंटें बनाने की कला भी बहुत उन्नत थी। मिश्रवासी सूत और 'सन' के समान रेशे वाले पौधे से वस्त्र भी बनाते थे। लकड़ी, मिट्टी, शीशे व कागज का काम भी वे कुशलता से करते थे। वे लोग पेपिरस पौधे की छाल से कागज बनाते थे। अंग्रेजी भाषा का शब्द 'पेपर' पेपिरस से ही निकला है।

व्यापार–प्रणाली –

मिश्र में आवागमन और यातायात का प्रमुख माध्यम नील नदी थी। मिश्र का आन्तरिक और बाहरी व्यापार काफी उन्नत था। सूडान, मेसोपोटामिया, अरब और भारत से उसके व्यापारिक सम्बन्ध काफी घनिष्ठ थे। मिश्र खाद्यानों, बर्तनों, काँच की वस्तुओं, कागज, फर्नीचर आदि का निर्यात करता था तथा विभिन्न प्रकार की धातुओं, लकड़ी, रंग, मसाले, चन्दन, श्रृंगार प्रसाधन की वस्तुओं का आयात करता था। विनिमय का माध्यम अदल–बदल की प्रणाली तथा सोना–चाँदी थी। मिश्र में काफी विकसित व्यापार प्रणाली थी। व्यापारियों में लिखित अनुबन्ध होता था। वस्तुओं के लिए आजकल की भाँति आदेश दिया जाता था और प्राप्त माल की रसीद देने की पद्धति भी थी।

शासन व्यवस्था –

केन्द्रीय शासन –

मिश्री शासन–व्यवस्था पूर्णतः धर्मतान्त्रिक (थियोक्रेटिक) थी। मिश्री नरेश सूर्यदेव 'रे' के प्रतिनिधि होने के कारण खुद देवता माने जाते थे। मृत्यु के बाद उनकी पूजा उनके पिरामिड के सामने बने मन्दिर में होती थी। सिद्धान्ततः फराओ राज्य का सर्वेसर्वा होता था। वह राज्याध्यक्ष, सर्वोच्च सेनापति, सर्वोच्च पुजारी और सर्वोच्च न्यायाधीश भी होता था। इस प्रकार वे निरंकुश सत्ताधारी थे परन्तु उन्हें परम्पराओं का पालन करना पड़ता था।

प्रशासनिक कार्यो में सलाह के लिए 'सरू' नाम एक परिषद् होती थी। किन्तु उसकी सलाह मानना फराओ के लिए अनिवार्य नहीं था। प्रशासन के कार्यों के लिए एक प्रधानमंत्री तथा अन्य कर्मचारी भी होते थे।

प्रान्तीय व्यवस्था –

प्रशासकीय सुविधा के लिए मिश्र लगभग 40 प्रान्तों में विभाजित था। प्रान्त को 'नोम' प्रान्तीय अधिकारी को ''नोमेन'' अथवा नोमार्क कहते थे। इसकी नियुक्ति फराओ करता था। प्रान्तीय सूबेदार लगान वसूली, शान्ति व्यवस्था एवं न्याय का कार्य करता था। प्रायः प्रमुख सामन्त ही इस पद पर नियुक्त होते थे।

नगरीय व्यवस्था –

साम्राज्य के बड़े नगरों का शासन फराओ द्वारा नियुक्त अलग अधिकारी करते थे जो सीधे फराओ के प्रति उत्तरदायी होते थे। साम्राज्य में गुप्तचर प्रणाली भी थी जो राजा तक दैनिक सुचनाएँ पहुँचाती थी।

शासन व्यवस्था में गुण–दोष –

प्राचीन मिश्र में शासन व्यवस्था उस युग की प्राचीनता के हिसाब से आश्चर्य जनक रूप से काफी विकसित थी। लेकिन निरंकुश राजतन्त्रों के समान उसकी सफलता भी राजाओं की योग्यता पर निर्भर थी।

मिश्र राज्य की सैन्य शक्ति अत्यन्त दुर्बल थी। सम्भवतः प्राकृतिक स्थिति के कारण से फराओ अपने राज्य को पर्याप्त सुरक्षित महसूस करते थे। सिविल (गैर सैनिक) पदाधिकारी ही प्रायः सैन्य–अधिकारी होते थे। अतः राजा के अयोग्य होने पर प्रान्तीय नोमेन का अत्यधिक महत्ताकांक्षी होना सामान्य बात थी।

न्याय व्यवस्था –

सैनिक पदाधिकारियों के समान मिश्र में न्यायाधीशों का भी अलग वर्ग नहीं था। प्रायः सिविल (गैर सैनिक) पदाधिकारी ही न्यायाधीशों के कर्तव्यों को पूरा करते थे। कुछ मामलो में फराओ को भी अपील की जा सकती थी। शेष मामलों में उच्च अधिकारी ही न्याय व्यवस्था का संचालन करते थे।

मिश्री समाज में दण्ड विधान काफी कठोर था। अंग–भंग, देश–निर्वासन शारीरिक यातनाएँ और गुरूत्तर अपराधों के लिए मृत्यु–दण्ड का प्रावधान था।

कला

वास्तुकला –

मिश्रियों के राष्ट्रीय जीवन में आदर्शों की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति उनके पिरामिडों में हुई है। मिश्रियों ने पिरामिडों की रचना अपने राज्य और उसके प्रतीक फराओ की अनश्वरता और गौरव को व्यक्त करने के लिए की थी। ये भीतर से अलग–अलग कमरों में विभक्त हैं जिनमें मानव उपयोग की सभी आवश्यक और आरामदायक सामग्री रखी जाती थी। एक कक्ष में मसालों के लेप से युक्त ताबूत में बंद फराओ का मृतक शरीर (ममी) रखा जाता था। पिरामिडों में खूफू द्वारा गीजा में बनाया गया पिरामिड सर्वाधिक प्रसिद्ध है। पिरामिड त्रिभुजाकार होते है। गिजा का विशाल पिरामिड जो तेरह एकड भूमि में बना है, और 480 फीट उँचा तथा 755 फीट लम्बा है इसमें ढाई–ढाई टन भार के 23 लाख पाषाण खण्ड लगे हैं। ये इतनी चतुरता से जोड़े गए हैं कि इनके बीच सुई भी नहीं घुसाई जा सकती है। हेरोडोटस के अनुसार इस पिरामिड् को एक लाख कारीगरों ने बीस साल में बनाया था। मिश्र के साम्राज्यवादी युग में पाषाणों से विशाल मन्दिर बनाये गये। कारनाक का मन्दिर अपनी विशालता और कलात्मक सौन्दर्य के लिए विख्यात है। इस

मन्दिर का मध्य कक्ष 170 फीट लम्बा और 338 फीट चौड़ा है। इसकी छत 16 पंक्तियों में बनाये गये 136 स्तम्भों पर टिकी है। इसी प्रकार आबू सिम्बेल का गुह मन्दिर 175 फीट लम्बा और 90 फीट चौड़ा है। इसका मध्य कक्ष 20 फीट ऊँचे आठ स्तम्भों पर टिका हुआ है जिसके साथ ओसिरस की विशाल ऊँची मूर्तियाँ बनी हुई हैं। लक्सोर का मन्दिर भी अपने कलात्मक सौन्दर्य के लिए प्रसिद्ध है।

मन्दिर के अतिरिक्त ओबेलिस्क तथा चट्टानी मकबरे भी मिश्री कला के अद्भुत नमूने हैं। ओबेलिस्क नीचे से चौड़े और ऊपर की ओर नुकीले पत्थर के भवन थे। जो अपनी निर्माण शैली के लिए प्रसिद्ध हैं। इसके अलावा मिश्रवासी नगर–निर्माण कला में भी दक्ष थे। मेम्फीज, थीब्ज आदि नगर उनकी उन्नत नगर रचना के परिचायक है।

1.3 पिरामिड

मूर्तिकला –

मिश्री कलाकारों ने अपनी छैनी से पत्थरों तथा धातुओं को तराश कर देवी–देवताओं फराओ तथा पशुओं की मूर्तियाँ बनाकर भव्य मूर्तिकला का विकास किया। खूफू (गिजा) के पिरामिड के सामने स्थित विशाल 'स्फिंग्स' (नृसिंह मूर्ति) विश्व की विशालतम मूर्ति है। इस मूर्ति का शरीर सिंह का है और सिर फराओ खूफू का है। थटमोज तृतीय और रमेसिस द्वितीय की कठोर पाषाण निर्मित मूर्तियाँ आकाश को छूती प्रतीत होती है। आबू सिम्बेल के मन्दिर में उदित होते हुए सूर्य की मूर्ति तथा अमेन होतप तृतीय के समय की शेरों की मूर्तियाँ अद्वितीय हैं।

चित्रकला –

मिश्री कलाकार अपने रिलीफ–चित्रों को विविध रंगों से रंगते थे। इसलिए इन्हें एक प्रकार से उभरे हुए चित्र कहा जा सकता है। मिश्री चित्रकला के नमूने मन्दिरों, पिरामिडों तथा भवनों के अन्दर की दीवारों पर विभिन्न रंगों में बने चित्रों के रूप में मिलते हैं। रानी हेपसेपसूत चित्रकला में निपुण थी। मिश्री चित्रकारों की कला में प्राकृतिक सौन्दर्य के अधिक दर्शन होते हैं।

धातुकला –

धातुकला के क्षेत्र में भी प्राचीन मिश्र ने काफी उन्नति की थी। धातुकारों ने सोना–चाँदी, ताँबा, कांसा आदि की मूर्तियाँ, अस्त्र–शस्त्र, रथ, मुकुट, सिंहासन, आभूषण, बर्तन आदि बनाए और सभी वस्तुओं के निर्माण में कला कौशल का परिचय दिया। इनमें 'पेपी प्रथम' की काष्ठ के ऊपर ताम्रपत्र चढ़ाकर बनाई गई मूर्ति विश्व प्रसिद्ध है। तूतेनखामेन की समाधि से स्वर्ण निर्मित बहुत सी वस्तुएँ मिली हैं जो उस युग की धातुकला की उन्नत अवस्था की प्रतीक हैं।

मिश्री लिपि –

प्राचीन मिश्रियों को लेखन कला के ज्ञान की आवश्यकता कई कारणों से पड़ी। उनके मृतक संस्कार में ऐसे अनेक मन्त्रों का प्रयोग किया जाता था। मन्त्रों का भविष्य के लिए परिरक्षण केवल लिपि द्वारा ही सम्भव था। आर्थिक तथा प्रशासनिक दृष्टि से भी उन्हें लिपि की आवश्यकता पड़ी।

हाइरोग्लाफिक लिपि –

हाइरोग्लाफिक लिपि मिश्र की प्राचीन चित्राक्षर लिपि कही जाती है। हाइरोग्लाइफ यूनानी शब्द है। इसका अर्थ पवित्र चिन्ह है। इस लिपि में 2000 चित्राक्षर थे। इनमें कुछ चित्रों में मनुष्य की विभिन्न आकृतियों का अंकन है और कुछ में पशु व पक्षियों के चित्र अंकित है। शेष ज्यामितिक आकृतियां है। लिपिकों का समाज में प्रमुख स्थान था। वे पेपिरस नाम के पेड़ के पत्तों पर सरकंडे की कलम से लिखते थे।

विज्ञान –

मिश्रवासियों ने आधुनिक विज्ञान की भूमिका तैयार करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। उन्होंने गणित, ज्योतिष एवं खगोल

के क्षेत्र में काफी प्रगति कर ली थी। अभीष्ट संख्या लिखने के लिए 1 से 9 तक के चिन्ह को बार–बार दोहराया जाता था। 10 तथा उसकी गुणन संख्याओं के लिए भिन्न–भिन्न चिन्ह थे। उदाहरण के लिए 1,10,100 के लिए अलग–अलग संकेत थे। उन्हें जोड़, बाकी (घटाना) और भाग की क्रिया की भी जानकारी थी। परन्तु वे गुणा से अपरिचित थे। सौर पंचांग का अविष्कार उनकी महत्वपूर्ण देन था। उनका वर्ष 365 दिन का तथा 12 महीने और महीने में 30 दिन होते थे। शेष 5 दिन देवताओं के नाम पर रखे गये। मृत देहों को औषधियों का लेप लगाकर सुरक्षित रखने की मिश्र निवासियों की प्रथा ने विज्ञान के विकास को प्रोत्साहित किया। इससे मानव शरीर के ढांचे से सम्बन्धित ज्ञान तथा शल्य क्रिया के कौशल में वृद्धि हुई।

मिश्र की सभ्यता की आधुनिक विश्व को देन –

मिश्र की सभ्यता का विश्व के इतिहास में अत्यन्त गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त है। मिश्रियों ने अन्य देशों से बहुत पहले संयुक्त राज्य स्थापित करने और इसके आधार स्वरूप राजनीतिक दर्शन और कानूनों का विकास करने में सफलता पाई। उन्होंने सिंचाई की सुन्दर व्यवस्था की, विशाल पिरामिडों और मन्दिरों का निर्माण किया तथा कागज, काँच और मृद्भाण्ड इत्यादि बनाने में निपुणता प्राप्त की। उनका कला बोध बहुत अच्छा था। वे दर्शन लेखन, साहित्य, गणित, विज्ञान आदि विद्याओं और शास्त्रों के ज्ञाता थे। कला के क्षेत्र में विशाल भवनों का निर्माण उनकी महत्वपूर्ण देन है। पिरामिड आज भी संसार के सात आश्चर्यों में एक गिना जाता है।

वर्तमान मानव सभ्यता अपने विकास के लिए मिश्री सभ्यता की ऋणी है।

प्राचीन बेबीलोन की सभ्यता

दजला और फरात नदियों के बीच जो भू–भाग (दोआब) है उसे मेसोपोटामिया के नाम से पुकारा जाता था। आजकल यह क्षेत्र इराक कहलाता है। इस क्षेत्र में क्रमशः सुमेरिया, बेबिलोनिया, असीरिया आदि सभ्यताओं का विकास हुआ था।

हम्मूराबी –

एमोराइट वंश का छठा शासक हम्मूराबी था। वह अपने युग का महान विजेता था। उसने लगभग 42 वर्षो (2123–2081 ई. पू.) तक शासन किया। हम्मूराबी एक महान् विजेता तथा बेबिलोनियन साम्राज्य का निर्माता था। परन्तु वह केवल एक विजेता ही नहीं अपितु वह एक योग्य शासक तथा कानून वेत्ता भी था। उसकी बहुमुखी प्रतिभा का परिचय हमें उसकी विधि संहिता से मिलता है। वह एक परिश्रमी, अनुशासनप्रिय एवं न्यायप्रिय शासक था। उसका अधिकांश समय प्रजा की भलाई के लिए व्यतीत होता था। उसने व्यापार–वाणिज्य तथा उद्योग–धन्धों के विकास की तरफ विशेष ध्यान दिया और इस सम्बन्ध में नये–नये नियम बनाए। पशुपालन में अभिरूचि तो उसका स्वाभाविक गुण था। अतः उसने इस कार्य में भी रूचि ली।

विधि संहिता के शीर्ष–भाग पर
हम्मूराबी का उत्कीर्ण चित्र

राजनीतिक व्यवस्था

शासन व्यवस्था –

हम्मूराबी के काल में राजा की शक्ति में काफी वृद्धि हुई तथा उसकी निरंकुशता तथा स्वेच्छाचारिता बढ़ने लगी लेकिन राजा क्रूर व अन्यायी नहीं थे। राज्य की सहायता के लिए मंत्रिपरिषद होती थी। शासन को कई विभागों में बांटा गया तथा उन विभागों का दायित्व पृथक–पृथक मन्त्रियों का होता था। मन्त्रियों की नियुक्ति तथा पदच्युति का अधिकार सम्राट को होता था। सम्पूर्ण साम्राज्य को शासन में सुविधा के लिए कई प्रान्तों में बांटा गया था प्रान्तों की शासन–व्यवस्था सामन्तों को सौंपी जाती थी जो सीधे राजा के प्रति उत्तरदायी थे।

विधि संहिता –

बेबिलोनिया की सर्वाधिक महत्वपूर्ण देन उसकी विधि–संहिता है। हम्मूराबी ने उस समय में प्रचलित नियमों का संग्रह करवाया तथा उन्हें सुविधाजनक बनाते हुए उसमें परिवर्तन करके एक विधान संहिता का निर्माण किया। इसको उसने 8 फीट ऊँचे एक पाषाण स्तम्भ पर 3600 पंक्तियों में उत्कीर्ण करवाया, जिसे बेबिलोन में मर्दुक के मन्दिर ए–सागिल में स्थापित किया गया। बाद में इसे एलम का शासक सूसा उठा ले गया। इस स्तम्भ की खोज फ्रांसीसी विद्वान एन.डी. मार्गन ने की थी।

हम्मूराबी की संहिता की भाषा सुमेरियन न होकर सेमेटिक है। इसमें कुल 285 धाराएँ हैं, जो वैज्ञानिक ढ़ंग से व्यक्तिगत सम्पत्ति, व्यापार और वाणिज्य, परिवार, अपराध और श्रम के अध्यायों में विभाजित है। इस संहिता की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसके कानून पूर्णतः धर्म निरपेक्ष हैं।

न्याय तथा दण्ड व्यवस्था –

हम्मूराबी ने कानूनों को नवीन परिस्थितियों के अनुकूल बनाने के लिए एक नई विधि संहिता बनाई। राजकीय न्यायालयों में न्यायाधीशों को स्वयं सम्राट नियुक्त करते थे तथा इन न्यायाधीशो को मनमानी करने से रोकने के लिए नगर के कुछ वयोवृद्ध व्यक्ति उनके साथ बैठाये जाते थे। निचले न्यायालयों के निर्णय के विरूद्ध उच्च न्यायालय में अपील करने की व्यवस्था भी शुरू की गई थी। अन्तिम अपील राजा के पास की जा सकती थी।

दण्ड व्यवस्था की संहिता में 'जैसे को तैसा' सिद्धान्त का प्रावधान था। अपराधी की जाँच पड़ताल के बाद सजा दी जाती थी। झूठी गवाही देने वालो को सख्त सजा दी जाती थी। अधिकांश अपराधों का निर्णय जल परीक्षा अथवा पवित्र शपथ से किया जाता था।

सामाजिक व्यवस्था

सामाजिक संगठन –

बेबीलोनियन समाज तीन प्रमुख वर्गों में विभाजित था – श्रीमन्त अथवा उच्च वर्ग, मध्यम वर्ग तथा निम्न अथवा दास वर्ग। उच्च वर्ग में जिसके सदस्य 'अवीलम्' कहलाते थे। उच्च पदाधिकारी मन्त्री, जमींदार और व्यापारी आदि इस वर्ग में सम्मिलित थे। यह वर्ग सुख–सुविधा से सम्पन्न था। बेबीलोन मध्यम वर्ग के सदस्य जो मस्केनम कहलाते थे, उच्च वर्ग के लोगो की तरह स्वतंत्र थे। इस वर्ग में व्यापारी, शिल्पी बुद्धिजीवी तथा राज्य के कर्मचारी, किसान और मजदूर भी सम्मिलित थे। यह समूह दासो से कुछ ऊपर की स्थिति में था। तीसरा वर्ग दासों का था जिन्हें ''वरदू'' कहा जाता था। वे अपने स्वामी की सम्पत्ति समझे जाते थे। उन्हें दागने की प्रथा थी तथा उन्हें विशेष प्रकार की पोशाक पहननी पड़ती थी। लेकिन फिर भी उन्हें कानून का थोड़ा संरक्षण प्राप्त था।

पारिवारिक जीवन –

बेबीलोनिया का पारिवारिक जीवन पितृसत्तात्मक था। समाज में परिवार के सदस्यों का पारस्परिक जीवन कानून द्वारा अनुशासित रहता था। परिवार में माता–पिता को लगभग समान अधिकार प्राप्त थे। पिता परिवार का मुखिया होता था और परिवार के सभी सदस्यों पर उसका कठोर नियंत्रण रहता था। परिवार की सम्पत्ति पर लड़के–लड़कियों का समान अधिकार माना जाता था।

स्त्रियों की स्थिति –

बेबिलोनियन समाज में स्त्रियों की स्थिति सम्मानजनक थी और उन्हें काफी स्वतन्त्रता प्राप्त थी। उनके

पारिवारिक तथा अन्य अधिकार अनुमोदित थे। विवाह को कानूनी रूप देना आवश्यक माना जाता था। विवाह से पूर्व एक अनुबन्ध पत्र लिखा जाता था। तलाक, पुनर्विवाह आदि के सम्बन्ध में स्त्रियों की परिस्थिति को देखकर निर्णय लिया जाता था। तलाक की अवस्था में सभी को जीवन निर्वाह भत्ता माँगने का अधिकार था। स्त्रियों को व्यापार करने तथा राजकीय सेवा में जाने की भी अनुमति थी। साथ ही साथ स्त्रियों पर नियंत्रण भी पर्याप्त था। उन्हें पुरूषों के अधीन रहना पड़ता था। पुरूष एक से अधिक स्त्रियाँ रख सकता था। व्यभिचारिणी स्त्री को प्राणदण्ड दिया जाता था।

खान–पान, रहन–सहन –

बेबीलोनियन लोगों का मुख्य भोजन अन्न, फल, दूध, माँस तथा मछली थी। खजूर की ताड़ी को शराब की भांति पीया जाता था। पुरूष कमर के नीचे लम्बा वस्त्र पहनते थे। स्त्रियाँ ऊपर के अंगों को भी ढकती थीं। कुलीन लोग जरी का काम किये हुए वस्त्र पहनते थे। पुरूष सिर पर बाल रखते थे तथा दाढ़ी भी रखी जाती थी। स्त्रियाँ भी कई प्रकार के केश विन्यास करती थी। स्त्रियों को आभूषण अधिक पसन्द थे। लोगों का मनोरंजन संगीत तथा नृत्य से होता था। लोग मशक, बाँसुरी, तुरही, वीणा, ढोल, खंजरी आदि वाद्य यंत्रों का प्रयोग करते थे।

धार्मिक जीवन –

बेबीलोनिया के निवासी अनेक देवताओं में विश्वास रखते थे। उनके प्रमुख देवी–देवता– अन् (आकाश), शमस (सूर्य), सिन (चन्द्रमा), बेल (पृथ्वी), निनगंल (चन्द्रमा की पत्नी) आदि थे। नए देवताओं में ईश्वर और मारदुक प्रमुख थे। खेतों तथा नदियों के देवता पृथक् थे। देवी पूजा भी प्रचलित थी। ईस्तर उनकी प्रमुख देवी थी। प्रारम्भ में वे सृष्टि निर्मात्री के रूप में पूजी गई लेकिन बाद में वे प्रेम की देवी मानी गई। तामूज को वनस्पति का देवता माना जाता था। मारदूक पहले कृषि का देवता था लेकिन बाद में उन्हें तूफान का देवता माना जाने लगा।

बेबीलोनिया में अनेक मंदिर तथा मूर्तियाँ थी। लोग उनकी पूजा करते थे तथा तरह–तरह का चढ़ावा चढ़ाया करते थे। देवताओं की पूजा का काम पुजारी लोग करते थे। पुजारी लोग समाज के उच्च वर्ग में थे ये लोग सादा जीवन न जीकर सुख–भोग का जीवन जीते थे। मन्दिरों में देवदासी प्रथा ने उन्हें आंशिक पथभ्रष्ट किया।

बेबिलोनिया के लोग अंधविश्वासी भी थे। वे भविष्यवाणियों में अधिक विश्वास रखते थे। वे भूत–प्रेत, जादू–टोना आदि में भी विश्वास रखते थे।

बेबिलोनिया के लोग मृत्यु के बाद जीवन में विश्वास रखते थे इसलिए वे कब्रों में शव के साथ भोजन और दैनिक जीवन की अन्य वस्तुएँ भी रखते थे। लोग मृतकों को दफनाने के अतिरिक्त अग्नि संस्कार भी करते थे।

आर्थिक जीवन

कृषि –

प्रत्येक सभ्यता की तरह बेबीलोन के लोगों की आजीविका का मुख्य स्रोत कृषि कार्य ही था। यहाँ की भूमि बहुत उर्वर थी। हेरोडोटस के अनुसार प्राचीन विश्व में बेबिलोनिया से बढकर उपजाऊ प्रदेश अन्य नहीं था। कृषि कार्य हल तथा बैल से किया जाता था। खेतों को बाढ़ से बचाने के लिए बांधों का निर्माण किया जाता था। हम्मूराबी के वंश के प्रत्येक शासक ने नई नहरें बनवाई तथा पुरानी नहरों का पुनर्निर्माण करवाया। जहाँ पर नहरो की सतह खेतों की सतह से नीची होती थी वहाँ पानी ऊपर चढ़ाने के लिए 'सिंचाई–कल' का उपयोग होता था। बेबिलोनिया के निवासी खाद्यानों के अतिरिक्त खजूर, जैतून तथा अंगूर की पैदावार को महत्व देते थे। भूमि अधिकांशतः राजा, मन्दिर, सामन्तो तथा धनी व्यापारियों तथा सामूहिक रूप से कबीलों के अधिकार में थी। भूमि को उपज के लिए पट्टे पर दिया जाता था। किसानों को कुल पैदावार का 1/3 से 1/2 भाग राज्य को कर के रूप में देना होता था।

हम्मूराबी ने जमीन बेचने के कठोर नियम बनवाये। उसने नई भूमि पर खेती करने के लिए लोगों को प्रोत्साहित किया। कृषि को नुकसान पहुँचाने वालों को दण्ड का प्रावधान था। अकाल तथा प्राकृतिक नुकसान होने पर कर माफ कर दिया जाता था। कृषि को प्रोत्साहन देने के लिए राज्य मुआवजा भी देता था।

पशुपालन –

बेबिलोनियनों की राष्ट्रीय आय का दूसरा प्रमुख स्रोत पशुपालन था। बड़ी संख्या में पशु पाले जाते थे तथा पशुओं पर कर लगाया जाता था। गाय, बैल, भैंस, भेड़, बकरी, सुअर, गधे खच्चर आदि अधिक पाले जाते थे। शासक वर्ग तथा सम्राट भी बड़ी संख्या में पशुपालन करते थे। राजकीय पशुओं की देखभाल के लिए जिलों तथा शहरों में शाही चरवाहे नियुक्त किए जाते थे। बेईमान कृषकों तथा चरवाहों को विधि संहिता के अनुसार कठोर दण्ड दिया जाता था।

उद्योग–धन्धे –

बेबिलोनियनों को अपने पशुओं से उद्योग–धन्धों के लिए काफी मात्रा में ऊन, बाल और चमड़ा इत्यादि प्राप्त हो जाते थे। इसके अतिरिक्त सूत कातना, कपड़े बनाना, मिट्टी के बर्तन एवं मूर्तियाँ बनाना, धातुओं के अस्त्र–शस्त्र, आभूषण, लकड़ी की वस्तुएँ बनाना आदि उद्योग प्रचलित थे।

व्यापार–वाणिज्य –

बेबिलोनियन लोग अधिकांशतः विलासिता की वस्तुएँ, इमारती लकड़ी, सीसा, कांसा, ताँबा, सोना–चाँदी का आयात करते थे। खाद्यान्न, अस्त्र–शस्त्र, धातु औजार, आभूषण, मूर्तियों का निर्यात किया जाता था। व्यापारिक सम्बन्ध दूरस्थ सिन्धु प्रदेश (भारत) तथा निकटवर्ती एलम के साथ बहुत प्राचीन काल से चलते आ रहे थे। विदेशी व्यापार का कार्य व्यापारिक काफिलों द्वारा होता था। माल ढोने का कार्य ऊँटो तथा गधों द्वारा करवाया जाता था। जहाँ जल यातायात की सुविधा उपलब्ध थी, वहाँ नौकाओं का उपयोग किया जाता था। बेबिलोन में अभी तक मुद्रा–प्रणाली का जन्म नहीं हुआ था। व्यापार वस्तु विनिमय या धातु विनिमय के द्वारा होता था। व्यापारिक सौदे लेखबद्ध किए जाते थे। बिल, रसीद आदि का प्रचलन भी शुरू हो गया था। समाज में व्यापारिक संघों का विकास भी हो चुका था।

कला

वास्तुकला –

बेबिलोनियन समाज, कला के क्षेत्र में, अपनी समकालीन सभ्यताओं से काफी पीछे था। क्योंकि यहाँ पाषाणों का अभाव था। अतः यहाँ कच्ची ईंटों के मकान बनाए जाते थे जो कि 50–60 वर्षों में धराशायी हो जाते थे। हम्मूराबी द्वारा निर्मित भवन अब तक पूर्णतया नष्ट हो चुके हैं। राजभवनों में फिर भी पक्की ईटों का प्रयोग किया जाता था। छतों, दरवाजों, खिडकियों में लकड़ी का प्रयोग किया जाता था। अमीरों के घरों में सजावट के लिए रंगीन टाइल्स का प्रयोग किया जाता था।

बेबिलोनियन कला के विशिष्ट नमूने 'जिग्गुरात' नामक भवन थे। बेबिलोन के जिग्गुरात में कई तल्ले होते थे। जो ऊपर की ओर छोटे होते जाते थे। जिग्गुरातों की कल्पना देव स्थान के रूप में की गई थी। जिग्गुरातों को विविध रंगो से रंग कर सुन्दर बनाया जाता था।

मूर्तिकला –

बेबीलोनियन कलाकार मानव सौन्दर्य को मूर्त रूप देने में विशेष सफलता प्राप्त नहीं कर सके। उनकी मूर्तियों में सौन्दर्य तथा अभिव्यक्ति का अभाव है। उनकी मूर्तियाँ कलात्मकता के स्थान पर विशालता के लिए अधिक प्रसिद्ध हैं। उनकी मूर्तियाँ पशु और मनुष्य की मिश्रित आकृति की होती थी।

चित्रकला –

बेबिलोनियाँ के कलाकार अपनी चित्रकला का विकास पूर्णरूप से नहीं कर सके थे। राजभवनों तथा मन्दिरो में ही चित्र अंकित किए जाते थे। चित्रों के मुख्य विषय जंगली पशु पक्षी थे।

संगीत एवं नृत्य –

बेबिलोनियन संगीत प्रेमी थे। बड़े भोजो में संगीत गोष्ठियों का आयोजन किया जाता था। मन्दिरों में देवदासियाँ नृत्य तथा गायन किया करती थी। कई प्रकार के वाद्ययंत्रों का प्रयोग भी किया जाता था।

लिपि तथा साहित्य –

बेबिलोनियाँ के लोगों ने सुमेरियन कीलाक्षर लिपि को ही अपनाया था। इस लिपि में वस्तुओं का ज्ञान करने के लिए चित्र लेखों चिन्हो, संकेतों और चित्रों का प्रयोग किया जाता

था। जब यह बात निश्चित हो गई कि अमुक चिन्ह या चित्र से अमुक वस्तु का बोध होता है तो वस्तुओं के बारे में पहचानना सरल हो गया। मगर जब विचारो को व्यक्त करने की बात आती थी तो चित्र–लिपि से काम नहीं चलता था। उनकी लिपि में लगभग 300 शब्द खण्ड के रूप में संकेत चिन्ह थे। जिन्हे याद करना कठिन था। सुन्दर लेखन कला को बहुत सम्मान दिया जाता थे। वे लोग मिट्टी की तख्तियों पर लिखते थे। यहाँ के लोग सेमेटिक भाषा बोलते थे। शिक्षा का कार्य धर्माधिकारी करते थे।

साहित्य के क्षेत्र में बेबिलोनिया की देन महत्वपूर्ण मानी जाती है। उन्होंने विश्व के प्रथम श्रेणी के महाकाव्य की रचना की इसका नाम है – 'गिलगमेश'। इसकी कथा वस्तु बहुत रोचक है। गिलगमेश एरेक राज्य के प्रथम राजवंश का पाँचवा शासक था। बेबिलोनियन लोगों ने उसके साहसपूर्ण कार्यों की गाथाओं को एकसूत्र में पिरोकर एक नया रूप दिया। यह महाकाव्य 12 अध्यायों में विभाजित है, जो 12 महिनों के प्रतीक हैं। सम्पूर्ण महाकाव्य में मानव जीवन के संघर्षों का सजीव वर्णन किया गया है।

महाकाव्य के अतिरिक्त धार्मिक तथा नीति साहित्य की रचना भी हुई। धार्मिक साहित्य के मुख्य विषय थे – देवी–देवताओं की प्रार्थना तथा स्तुति का वर्णन।

विज्ञान

गणित –

व्यापारी होने के कारण बेबीलोनियन कला से अधिक व्यावहारिक–विज्ञान में रूचि रखते थे। उनकी गणना दशमलव तथा षट् दाशमिक प्रणाली पर आधारित थी। उनके अंको में केवल तीन अंक चिन्ह प्रयुक्त होते थे। एक चिन्ह 1 के लिए था जिससे एक से 9 तक की संख्या लिखी जाती थी। जैसे – 4 लिखने के लिए 1 को चार बार लिखा जाता था। दूसरा चिन्ह 10 के लिए था जिससे 10, 20, 30 लिखा जाता था। तीसरा चिन्ह 60 के लिए था जिसमें 60, 120, 180, 240 लिखा जाता था।

ज्योतिष –

बेबिलोनिया के लोगों की सर्वाधिक रूचि ज्योतिष में थी। वे बृहस्पति को मर्दुक, बुध को नेबू, मंगल को नेर्गल, सोम को सिंन, सूर्य को शमस शनि को निनिष तथा शुक्र को ईश्वर मानते थे। परन्तु ग्रहों अथवा देवताओं की गति–विधि का रहस्य जानना आसान काम नहीं था। यह विद्या केवल पुजारियों के पास थी। जिसका उपयोग वे यदा–कदा जीविकोपार्जन के लिए करते थे।

खगोल विद्या –

खगोल के क्षेत्र में बेबिलोन के लोगों ने आश्चर्यजनक प्रगति की थी। वे दिन तथा रात की अवधि का हिसाब लगा सकते थे। वे सूर्योदय एवं सूर्यास्त का ठीक–ठीक समय बता सकते थे। उन्होंने वर्ष को 12 महीनों में विभाजित किया था। इनके छः महीने 30–30 दिन के तथा छः महीने 29–29 दिन के होते थे। इस प्रकार उनका वर्ष 354 दिन का होता था। चौथे–पाँचवे वर्ष सूर्य तथा चन्द्र का मेल बैठाने के लिए एक अतिरिक्त माह जोड़ दिया जाता था। घड़ी का चक्र 12 घंटों का होता था। घंटे का 60 मिनटो में तथा मिनट का 60 सैकण्डो में विभाजन था जो आजकल समस्त विश्व में प्रचलित है, निश्चित रूप से बेबिलोन की ही देन है।

मानचित्र कला –

बेबिलोनिया के लोगों ने पहली बार प्रान्तों तथा नगरों के मानचित्र बनाए। बेबिलोन से प्राप्त 1600 ई.पू. के एक अभिलेख में एक वर्ग इंच में शात–अजल्ला प्रान्त का मानचित्र मिला है।

चिकित्सा शास्त्र –

हम्मूराबी के समय तक चिकित्सक एक विशिष्ट वर्ग के रूप में अस्तित्व में आ गए। सर्जरी भी अस्तित्व में आ चुकी थी। लेकिन लोगों के अंधविश्वासी होने के कारण उनका ओझा तथा भूत–प्रेतों में ज्यादा विश्वास था।

बेबिलोन की विश्व को देन –

विश्व सभ्यता एवं संस्कृति के निर्माण में बेबिलोन की देन महत्वपूर्ण मानी जाती है। राजनीति के क्षेत्र राजत्व में देवत्व की भावना का विकास तथा मंत्रिपरिषद के मन्त्रियों को अलग–अलग दायित्व सौंपने की प्रथा भी उन्हीं की देन है।

कानून की संहिता लिखने वाला भी बेबिलोन ही था।

सामाजिक क्षेत्र में तीनों वर्गों को कानूनी मान्यता देना, कानून के द्वारा स्त्रियों की रक्षा करना आदि भी विश्व में सर्वप्रथम बेबिलोन में ही हुआ।

आर्थिक क्षेत्र में भूमि का हिसाब रखना, राजस्व वसूली का हिसाब, सरकार की तरफ से किसानों को कर माफ करना, मुआवजा देना, समर्थन मूल्य तय करना आदि भी बेबिलोन की ही देन है।

प्राचीन चीन की सभ्यता

चीन की सभ्यता का उदय 'ह्वांग–हो' (ह्वांग हो) नदी के निचले बेसिन में हुआ। इस नदी का उद्‌गम तिब्बत की पहाड़ियों से होता है। यह नदी लगभग 27000 मील लम्बी है। इसमें अत्यधिक मिट्‌टी घुली होने के कारण इसे पीत नदी भी कहते है। इस नदी में बाढ़ बहुत भंयकर रूप से आती है, इसलिए इसे 'चीन की विपत्ति,' 'भटकती नदी' या हजारों अभिशापों की नदी भी कहा जाता है। लेकिन चीन के लिए यह नदी वरदान साबित हुई है। इसकी सहायक नदियों के द्वारा सिंचित प्रदेश में ही चीनी सभ्यता का जन्म हुआ।

राजनीतिक इतिहास

1. शांग वंश – सबसे प्राचीन चीनी वंश जिसके बारे में पुरातत्ववेत्ता हमें बताते हैं वह शांग वंश है, जिसके राजाओं ने 1766 ई.पू. से 1122 ई. पू. तक शासन किया। पुरातत्व संबंधी प्रमाणों से पता चलता है कि 14वीं सदी ई.पू. में शांग वंश के लोगों ने उच्च स्तर की संस्कृति का विकास कर लिया था। ऐसा प्रतीत होता है कि शांग लोगों के पड़ोसी संस्कृति के विकास में उनसे पिछड़े हुए थे इसलिए शांग राजाओं का प्रमुख कार्य उनसे अपनी प्रजा की रक्षा करना था। शांगवंश में 28 राजा हुए परन्तु पड़ौसी चारूवंश ने शांगवंश को हरा दिया।

2. चाऊवंश :– चाऊ वंश के शासकों ने 1122 से 225 ई.पू. तक शासन किया। चाऊ वंश के राजाओं ने शांग वंशीय संस्कृति के अच्छे तत्वों को सुरक्षित रखा। यह काल चीनी इतिहास का प्रथम स्वर्ण युग कहलाता है। इस युग में ही लाओत्से तथा कन्फ्यूशियस जैसे धार्मिक विचारक हुए। धातुओं के प्रयोग, सिक्कों का प्रचलन, बैंकिग पद्धति का विकास, भूमि सुधार, कागज छपाई एवं बारूद के अविष्कार तथा कला कौशल एवं ज्ञान–विज्ञान में वृद्धि के कारण यह राज वंश इतिहास में अमर हो गया।

3. चिन वंश– तीसरी सदी ई.पू. में (225 ई.पू. से 203 ई.पू) चीन में तीन बड़े राज्य चिन, चु और चि थे। इसके राज्यकाल में चीन में प्रगति एवं समृद्धि का काल प्रारम्भ हुआ। उसने हर दिशा में सड़कों का निर्माण कराया ताकि सेना को कहीं भी शीघ्रता से भेजा जा सके। हुण आक्रमणकारियों को रोकने के लिए 1500 मील लम्बी, 22 फीट ऊँची तथा 20 फीट चौड़ी चीन की विशाल दीवार का निर्माण करवाया, जो संसार के सात आश्चर्यों में एक मानी जाती है। इसमें 20 हजार गुब्दे, 23 हजार स्तम्भ और 10 हजार सुरक्षा चौकियां बनी हुई है। 221 ई. पू. में चीन का शासक हुआंग टी तीनों राज्यों का सम्राट बन बैठा। इसके नाम का अर्थ है प्रथम सम्राट। वह एक कुशल प्रशासक और महान विजेता था।

4. हान वंश – हानवंश ने 203 ई.पू. से 220 ई. तक शासन किया। इस वंश ने शासन व्यवस्था को सुदृढ़ कराया तथा सामन्त प्रथा का अंत किया। विश्व में प्रथम बार प्रशासनिक सेवाओं में नियुक्ति के लिए प्रतियोगी परीक्षाओं का आयोजन भी इसी काल में हुआ। इसी वंश के काल में चीन एवं यूरोप के मध्य व्यापारिक संबंधों को बढ़ाने के लिए एक नया व्यापारिक मार्ग–'रेशम मार्ग' खोला गया।

हानवंश के उपरान्त चीन में कई शताब्दियों तक अराजकता फैल गई। 618 ई. में काओत्से ने तांगवंश की स्थापना की और 960 ई. में शुंग वंश के चाओ कुआंग चिंग ने नये राजवंश की नींव डाली।

शासन व्यवस्था –

सम्राट –

चीन में 'राजत्व में देवत्व' की भावना प्रचलित थी।

राजा ईश्वर का पुत्र व प्रतिनिधि समझा जाता था। वह धर्म, शासन, न्याय, कानून का सर्वोच्च अधिकारी था। वह सभी प्रकार के प्रशासनिक अधिकारियों की नियुक्ति करता था। हालांकि राजा सर्वोच्च था परन्तु वह देश की परम्परा तथा प्रजा की भावनाओं के अनुरूप ही कार्य करता था। इसके अतिरिक्त 'सेन्सर' नामक अधिकारी होता था जो प्रशासनिक देखभाल करने वाली परिषद् का अध्यक्ष होता था।

मंत्री मण्डल –

सम्राट की सहायता तथा सलाह के लिए एक प्रधानमंत्री तथा चार मंत्रियों की एक 'महा–परिषद' होती थी। जिसका अध्यक्ष राजकुमार होता था। इसके अतिरिक्त 6 सदस्यों वाली एक अन्य समिति होती थी जो अपेक्षाकृत कम शक्तिशाली होती थी। ये सभी प्रकार के कार्य यथा–शिक्षा, लोकसेवा, धर्म, न्याय, संचार, वित्त, त्यौंहार, युद्ध, रक्षा, दण्ड, सार्वजनिक निर्माण आदि अलग–अलग विभाग सम्भालते थे।

प्रान्तीय व्यवस्था –

चीन का साम्राज्य अनेक भागों में बंटा हुआ था। सभी प्रान्तों की सीमा समान नहीं थी। प्रान्त के सर्वोच्च अधिकारी राजपुत्र या शक्तिशाली सामन्त होते थे। जिनकी नियुक्ति सम्राट करता था। इन अधिकारियों का मुख्य कार्य राज्य में सुरक्षा, राजस्व वसूली, न्याय, पत्र–व्यवहार का कार्य आदि थे। चीनी प्रान्तों को 'सेंग' कहा जाता था।

स्थानीय व्यवस्था –

'ग्राम' स्थानीय निकायों की सबसे छोटी इकाई थे। गाँव के परिवारों के मुखिया ग्राम के मुखिया को चुनते थे जो शासन के प्रति उत्तरदायी था। गांवों के समूह को 'हीन' कहते थे। प्रत्येक हीन के अन्तर्गत एक न्यायाधिकारी तथा एक राजस्व अधिकारी होता था। उससे बड़ी इकाई 'फू' थी जिसमें दो या तीन 'हीन' थे। दो–तीन हीन मिलकर 'टाउ' तथा दो–तीन टाउ मिलकर सैंग (प्रान्त) का निर्माण करते थे।

लोक सेवा आयोग –

चीन में प्रशासनिक अधिकारियों के चयन के लिए एक लोकसेवा आयोग होता था। जो प्रतियोगी परीक्षाएँ आयोजित करवाता था। इस पद्धति का सूत्रपात हान वंश के शासको ने किया था। इस परीक्षा में तर्कशास्त्र, दर्शन, आचार, न्याय, स्वास्थ्य, काव्य आदि विषयों पर प्रश्न पूछे जाते थे। यह पद्धति चीन की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि थी।

कला –

स्थापत्य कला

प्राचीन चीन के नगरों में– महल तथा पैगोड़ा (बौद्ध मन्दिर) बनाए गए। चीन की विशाल दीवार प्राचीन चीन के निर्माण कौशल का अद्भुत नमूना है। इस दीवार की विशालता पर वाल्तेयर ने कहा था कि, ''इसकी विशालता के आगे मिश्र के अद्भुत पिरामिड चींटियों के घर लगते हैं।'' यह दीवार इतनी चौडी है कि इस पर गाडी चलाई जा सकती है। हर 200 मीटर के बाद इस दीवार में योद्धाओं के लिए मीनारें बनाई गई हैं जिससे वे पहरा दे सके। इसके अतिरिक्त नगरों की बसावट तथा मकानों की वास्तुकला भी उल्लेखनीय है।

चित्रकला–

चीन में चित्रकला सुलेख का भाग समझी जाती थी। चीनी चित्रकार मानवाकृति के स्थान पर प्राकृतिक दृश्यों के चित्र बनाना अधिक पसन्द करते थे। उनके चित्रों में दार्शनिक भावना और निजी अनुभूति की प्रधानता होती थी। मिट्टी, धातु और लकड़ी पर विविध प्रकार की नक्कशी और चित्र बनाकर उन्हें सजाने का शौक था। हान वंश में चित्रकला काफी उन्नत थी। उस काल का एक श्रृंगार दान तथा ढक्कन मिला है जिस पर एक पक्षी का चित्र अंकित है। यह चित्रकला का उत्कृष्ट नमूना है। हान वंश का प्रसिद्ध चित्रकार 'कुनाई चीह' था।

मूर्तिकला –

चीन में मूर्तियों के माध्यम से मानव सौन्दर्य का प्रदर्शन नैतिकता के विपरीत समझा जाता था। बौद्ध धर्म के प्रसार से पहले तक यहाँ केवल पशुओं की ही मूर्तियाँ मिलती हैं। बौद्धों के प्रसार के बाद बौद्ध सन्तों की भी मूर्तियाँ बनने लगी। पीकिंग के निकट एक मन्दिर में महात्मा बुद्ध की शयनावस्था की एक मूर्ति है, जिसे मूर्तिकला का एक उत्कृष्ट नमूना कहा जा सकता है।

चीनी कलाकार कांस्य की वस्तुएँ बनाने में विशेष रूप

से प्रवीण थे। उस समय के कटोरे, प्याले, तश्तरियाँ विविध प्रकार के पशुओं की आकृतियाँ प्रचुर मात्रा में मिलती हैं। इन वस्तुओं पर जड़ाई तथा अलंकरण का काम भी काफी उत्तम किया जाता था।

सामाजिक जीवन

वर्गीकरण –

प्राचीन काल में चीन का समाज अनेक वर्गों में बँटा हुआ था। जन्म पर आधारित कोई वर्ग विभाजन नहीं था। व्यक्ति का महत्व और स्तर उसके कर्म पर निर्धारित था। चीन में सम्राट तथा राज्यों के स्वामियों का वर्ग सबसे उच्च समझा जाता था। शासक वर्ग के नीचे पाँच मुख्य वर्ग थे। ये बुद्धिजीवी, व्यापारी, कारीगर, किसान और दासों के वर्ग थे। भारत की तरह ही प्राचीन चीन में बुद्धिजीवियों तथा साहित्यकारों का बहुत आदर किया जाता था। चीन में व्यक्ति शिक्षा के द्वारा उच्च स्थिति को प्राप्त कर सकता था। किन्तु यह स्थिति सिद्धान्त रूप में ही थी, वास्तविक स्थिति इससे भिन्न थी। सामाजिक समानता कभी विद्यमान नहीं रही। शिक्षा इतनी महंगी थी कि धनी जमींदारों के सिवाय किसी के लिए शिक्षा प्राप्त करना असम्भव था।

यह बात बड़े महत्त्व की है कि तत्कालीन समाज में योद्धाओं की स्थिति नीची थी।

शिल्पी तथा व्यापारी की स्थिति मध्यम वर्ग के जैसी थी। किसानों और मजदूरों की स्थिति दयनीय थी। इन्हें बेगार भी करनी पड़ती थी। दासों का क्रय–विक्रय होता था। लेकिन उनके साथ दुर्व्यवहार नहीं होता था।

चीन में विद्वानों का एक अलग वर्ग था जिसे 'मन्दारिन' कहा जाता था। इस वर्ग के लोगों का काफी सम्मान था। इस वर्ग में नियुक्ति के लिए योग्य नवयुवकों को सार्वजनिक सेवा के लिए साहित्यिक विषय पढ़कर कठिन परीक्षाएँ उत्तीर्ण करनी पड़ती थी। इस प्रकार एक विद्वान ही मन्दारिन वर्ग में प्रवेश पा सकता था।

परिवार –

चीनी समाज के परिवार में वृद्ध स्त्री तथा पुरूष का प्रमुख स्थान था। परिवार से पृथक होना असामाजिक समझा जाता था। परिवार पितृसत्तात्मक थे परन्तु माताओं को भी उच्च दर्जा प्राप्त था। परिवार में बड़ों का आदर आवश्यक था। परिवार में सामूहिक उत्तरदायित्व की भावना थी। चीनियों का अपने पूर्वजों और उनके समय से चले आ रहे सिद्धान्तों या परम्पराओं में अटूट विश्वास था।

स्त्रियों की स्थिति –

प्राचीन काल के चीन में स्त्रियों की स्थिति काफी सम्मानजनक थी। कालान्तर में स्त्रियों की स्थिति कमजोर होती गई। पुरूषों की तुलना में उन्हें हेय दृष्टि से देखा जाने लगा। कन्या का जन्म अशुभ समझा जाता था। उन्हें परिवार का अस्थायी सदस्य माना जाता था। निःसन्तान होने पर पुरूष स्त्री को तलाक दे सकता था। पर्दा प्रथा भी व्यापक रूप से प्रचलित थी। फिर भी परिवार के भीतर उसे सम्मान दिया जाता था।

चीनी समाज की स्त्रियाँ दो वर्गों में विभाजित थीं–एक कुलीन तथा दूसरा सामान्य वर्ग। कुलीन वर्ग की स्त्रियों को उचित शिक्षा, संगीत, नृत्य तथा शासन में भागीदारी मिलती थी तथा सामान्य स्त्रियों को खेतों का काम करना पड़ता था।

विवाह की प्रथा कुछ–कुछ भारतीयों की तरह थी। विवाह माता–पिता की इच्छा के अनुकूल होते थे। वयस्क होने के पहले ही विवाह सम्बन्ध तय हो जाते थे। दहेज भी दिया जाता था।

खान–पान, रहन–सहन –

चीन में खान–पान तथा रहन–सहन भी वर्गों के आधार पर बँटा हुआ था। आर्थिक रुप से सम्पन्न लोग सुख–सुविधा के साथ भव्य भवनों में निवास करते थे। अच्छा भोजन करते थे। इसके विपरीत साधारण लोग मिट्टी के, घास–फूस के बने मकानों में रहते थे। उनका भोजन भी सामान्य स्तर का होता था। उनकी वेशभूषा साधारण होती थी।

चीनी लोगों के जीवन में त्यौहार, मेलों तथा पर्वों का विशेष महत्व था। ये लोग त्यौहारों पर अतिशबाजी भी करते थे। ये लोग कहानी–किस्से, शतरंज खेलना, नाटक, ताश आदि के शौकीन थे।

प्राचीन चीन के मुख्य धर्म –

ताओं धर्म तथा कनफ्यूशियस धर्म। इन दोनों धर्मों में लाओत्से और कनफ्यूशियस नाम के दो दार्शनिको की शिक्षाएँ संकलित हैं। बाद में यहाँ बौद्ध धर्म का प्रसार हुआ।

धार्मिक जीवन

प्राचीन चीन के लोग अत्यन्त धर्मावलम्बी, प्राकृतिक शक्तियों के उपासक थे। वे अस्त्र–शस्त्र, चूल्हा एवं पूर्वजों की भी पूजा करते थे। उनकी धार्मिक मान्यतायें सरल एवं परिष्कृत थीं। चीनी धर्म प्राचीन भारतीय सभ्यता के समान ही था।

प्रकृति पूजा– चीनी लोग आकाश (शांग–वी) और पृथ्वी (होऊ–तू) को पुरूष और स्त्री रूप में पूजते थे। आकाश को यंग और पृथ्वी को यिंग कहते थे। प्रारंभ में वे पर्वत, नदियों, वायु, वर्षा और सूर्य को भी पूजते थे। नववर्ष का उत्सव दो सप्ताह तक चलता था। बसन्त ऋतु उत्सव भी मनाते थे। वनस्पति पूजा का विशेष महत्व था।

पूर्वज पूजा– चीन का प्रत्येक परिवार पूर्वजों की पूजा करता था। पितरों का तर्पण प्रतिदिन करते थे। पूर्वजों की स्मृति में उत्सव, नृत्य–गायन, भोज आयोजित करते थे। उनकी मान्यता थी कि मृत्यु के बाद दिव्य आत्मा वायुमण्डल से अपनी संतानों की संकट के समय सहायता करती हैं। सम्राट को देवपुत्र माना जाता था। वह वर्ष में एक बार दैवीय वस्त्र पहन कर पृथ्वी व आकाश देवता को बलि अर्पित करता था। पितरों के मंदिर बनाये जाते थे। दैवी शक्तियों के प्रकोप से बचने के लिए धूप, दीप, सुगन्धित द्रव्य बलि आदि चढ़ाते थे। असंतुष्ट आत्मा प्रेत बनकर कष्ट देती हैं, ऐसी कथायें प्रचलित थीं। जादू–टोनों से प्रेतात्माओं को नियंत्रित करते थे। अनेक अंधविश्वास भी प्रचलित थे।

पूजा का हेतु –उपासना का उद्देश्य व्यावहारिक अधिक था। एहिक कल्याण हेतु, दीर्घ जीवन हेतु एवं अनिष्ट से रक्षा के लिये पूर्वजों को प्रसन्न रखने का प्रयत्न करते थे। पापकर्मों से विपत्ति, अपयश एवं अकाल मृत्यु तथा पुण्य कर्मों से समृद्धि, सौभाग्य, यश एवं दीर्घ जीवन मिलता है ऐसी मान्यता थी। बौद्ध धर्म के चीन में प्रवेश के साथ ही एक संस्थागत धर्म का विकास हुआ। लाओत्से और कन्फ्यूशियस जैसे दो दार्शनिकों के आगमन से चीन में छठी शताब्दी ई. पू. में दो दार्शनिक सम्प्रदायों का उदय हुआ।

दर्शनः– प्राचीन चीनी लोगों ने दर्शन के क्षेत्र में भी अत्यधिक प्रगति की। चीन सौ दार्शनिक संप्रदायों के लिये प्रसिद्ध है। चीनी आत्म नियंत्रण में विश्वास रखते थे। वे सुख एवं वेदना के प्रति भावुक थे। चीनी दार्शनिकों ने परस्पर प्रेम, सहयोग और सहिष्णुता का पाठ पढ़ाया। वे शत्रु से भी शिक्षा लेते थे। मेन्सियस, कन्फ्यूशियस, लाओत्से और मोल्सू चीन के प्रमुख दार्शनिक हुए।

कन्फ्यूशियस– इनका जन्म चीन के 'लू' राज्य के अभिजातवर्गीय परिवार में 551 ई.पू. में हुआ। 3 वर्ष की अवस्था में पिता कुंग–फु की और 17 वर्ष की उम्र में माता की मृत्यु हो गयी। एक शिक्षक के रूप मे जीवन की शुरूआत की। तार्किक दृष्टि के कारण कन्फ्यूशियस ने सक्रिय होकर आनन्द की खोज हेतु चिन्तन किया। वृद्ध दार्शनिक लाओत्से से वार्त्तालाप किया परन्तु दोनों में मतैक्य नहीं हो पाया। कन्फ्यूशियस ने एक विद्यालय प्रारम्भ किया जिसमें वह इतिहास , सदाचार व काव्य विषयों की शिक्षा देता था। उसने तीन हजार विद्यार्थी तैयार किये। उसकी सद्चरित्रता से प्रभावित लू राज्य के राजा ने उसे प्रधान मजिस्ट्रेट नियुक्त किया। उसने अपराधों पर रोक लगाई। लोगों में एकता और एकरसता लाने का प्रयत्न किया। एक जैसे वस्त्र, एक जैसा भोजन के लिये प्रोत्साहित किया। जागीरदारों की विलासी जीवन पद्धति से क्षुब्ध होकर उसने पद त्याग कर दिया। सामाजिक एवं नैतिक क्रान्ति लाने और शासक वर्ग को सामान्य जीवन जीने हेतु तैयार करने की आशा में 72 वर्ष की उम्र में उसकी मृत्यु हो गई।

कन्फ्यूशियस को उम्मीद थी कि चीन का कोई शासक उसे गुरू स्वीकार करेगा ताकि उसके विचारों का प्रचार–प्रसार हो सकेगा। उसकी यह इच्छा पूर्ण नहीं हो पायी।

कन्फ्यूशियस की रचनायें–

(I) ई–चिन – दर्शन की पुस्तक
(ii) शी–चिंग – चीनी काव्य ग्रंथ
(iii) ली–चिंग – सदाचार का ग्रंथ
(iv) शू–चिंग – इतिहास का प्रलेख
(v) छुन–छिऊ–चिंग – बसन्त और शरद ऋतुओं का वर्णन।

उसके शिष्यों ने उसके उपदेशों और सिद्धान्तों का एक ग्रंथ तैयार किया जिसे लुनचुई कहते है।

कन्फ्यूशियस की शिक्षायें

1. विद्यालयों में इतिहास, धर्म और शिष्टाचार के

अतिरिक्त कुछ नहीं पढ़ाना चाहिये। शिक्षा चरित्र निर्माण का प्रमुख साधन है। उच्च शिक्षण संस्थाओं में साहित्य, काव्य और विज्ञान पढ़ाना चाहिये। समाज में शिक्षक का समुचित आदर होना चाहिये।

2. माता–पिता ही प्रमुख तीर्थ हैं। उनका सम्मान होना चाहिये। सभी के प्रति विनम्र व्यवहार, गुरू का आदर, कर्तव्य–पालन और मित्र के प्रति सद्व्यवहार करना चाहिये। असत्य भाषण , क्रोध, ईर्ष्या , निन्दा का त्याग करना चाहिये।
3. राजनीतिक सिद्धान्तों में वह राजा को देवसम मानता था। सम्राट में दैवीय गुण उत्पन्न हो। अत्याचारी सम्राट को जन विद्रोह से हटाया जाना चाहिये। सत्ताधारी शक्ति का दुरूपयोग न करे। राज्य के अधिकारी व कर्मचारी दयावान, धैर्यवान, निष्पक्ष, न्यायप्रिय और निर्भय हों। जनता ईमानदारी से कानून का पालन करे।
4. अंधविश्वास, धार्मिक प्रपंचों से बचने और यथार्थवादी होने पर जोर दिया।
5. दूसरों के लिये जीने वाला ही सच्चा मानव है।
6. सदाचारी, कर्त्तव्यपरायण और स्वार्थरहित मानव बनने के लिये दया,ज्ञान, न्याय, सत्यता और सेवा आदि पंचगुण आवश्यक बताए।

कन्फ्यूशियस द्वारा कथित अनेक कहावतें भी प्रसिद्ध हैं जैसे –

''जो कुछ तुम अपने साथ किया जाना पसंद नहीं करते वह दूसरों के साथ मत करो''

''चोट का बदला न्याय से दो और दयालुता का बदला दयालुता से दो''।

''जब तुम जीवन को नहीं समझते तो मृत्यु को क्या समझोगे।''

''जो व्यक्ति गलती को सुधारता नहीं वह दूसरी गलती कर रहा है।''

लाओत्से –

चीन के होनान् प्रांत के निर्धन परिवार में 604 ई.पू. में लाओत्से का जन्म हुआ था। चाऊ वंश के समय वह राज्य पुस्तकालय का संरक्षक रहा। राजनीतिक हस्तक्षेप से क्षुब्ध होकर उसने पद त्याग दिया और गाँव में रहने लगा। उसका मूलनाम 'ली' था उसने लाओत्से अर्थात् प्राचीन आचार्य की उपाधि ग्रहण की। पुस्तकालय में रहते हुए उसने ताओ–ते–चिंग नामक पुस्तक में अपने विचारों को संग्रहित किया। ताओ का अर्थ मार्ग होता है। अतः उसकी विचारधारा 'ताओवाद' कहलाती है।

लाओत्से की प्रमुख शिक्षायें–

1. भौतिकवाद की शिक्षा दुर्जन व्यक्तियों की वृद्धि करती है। भौतिक ज्ञान कोई गुण नहीं है। मनुष्य को प्रकृतिवादी होना चाहिये। प्रकृति प्रदत्त सरल, सादा जीवन यापन करना चाहिये।
2. राज्य की उन्नति के लिये न्यूनतम शासकीय नियंत्रण होना चाहिये। शक्ति से अहंकार में वृद्धि होती है जो पतन की ओर ले जाती है।
3. ग्रामीण कुटीर उद्योगों से ही सामाजिक स्वतंत्रता संभव है।
4. शत्रु के साथ भी मित्रवत् व्यवहार होना चाहिये। हानि के बदले दया, कठोरता के बदले कोमलता और बुराई के बदले अच्छाई का व्यवहार होना चाहिये।
5. शांति ही विकास का ताओ (मार्ग) है।
6. युद्ध व्यर्थ है, निर्दोष व्यक्ति मारे जाते हैं। अतः शांति का जीवन ही सही मार्ग है।

मैन्शियस–

378 ई. पू. से 288 ई.पू. के मध्य मैन्शियस नामक चीनी दार्शनिक ने कन्फ्यूशियस के विचारों का प्रचार किया। वह यथा राजा तथा प्रजा में विश्वास करता था। उसका विचार था कि मनुष्य में जन्म से अच्छाई निहित होती है उसे जानने की आवश्यकता है। बुद्धिमान राजा वही होता है जो प्रजा की निर्धनता को दूर करे। युद्ध नहीं करे। राजतंत्र श्रेष्ठ है क्योंकि प्रजातंत्र में प्रजा को शिक्षित होना पड़ता है। जो दुष्कर कार्य है। वह प्रजाहित विरोधी राजा के विरूद्ध जनता को विद्रोह का अधिकार देता है। परस्पर प्रेम, भ्रातृभाव और सामाजिक समन्वय पर उसने सर्वाधिक बल दिया।

मोत्सू –

उच्च कोटि का चीनी दार्शनिक मोत्सू शुंग राज्य का मंत्री था। शांतिदूत एवं श्रेष्ठ अर्थशास्त्री था। परस्पर भेदभाव से रहित प्रेम ईश्वर की इच्छा मानता था। कुछ व्यक्ति विलासिता की वस्तुओं का उपयोग करें इसके स्थान पर समाज के अधिकतम व्यक्तियों की आवश्यकता पूर्ति हेतु उत्पादन करना चाहिये। युद्ध घृणित कार्य है जो अज्ञानी व्यक्ति करते हैं। ईश्वर को शांग–टी और मनुष्यों को ति–येन कहता था। परम सत्ता की प्रेम और सद्भाव से पूजा करनी चाहिये। वह भाग्यवाद में अविश्वास करता था। नैतिक एवं सद्प्रयत्नों से व्यक्ति अपने

भाग्य को सुधार सकता है।

आर्थिक जीवन

कृषि –

भारत की तरह चीनियों के आर्थिक जीवन का आधार कृषि ही बनी रही। चीनी लोग काफी पूजा पाठ के बाद फसलें बोते थे, क्योंकि उन्हें हमेशा अनावृष्टि व बाढ़ का डर रहता था, जिससे कृषि को भारी क्षति पहुँचती थी। मुख्य फसलों में बाजरा, गेहूँ, चावल, चाय, साग–सब्जियाँ तथा फल थे। सोयाबीन की खेती भी लोकप्रिय थी। व्यापारिक फसलें जैसे कपड़े बनाने के लिए भी खेती की जाती थी। एक प्रकार का पौधा सन (जूट) था जिसके रेशों से कपड़ा बनाया करते थे। शहतूत की खेती प्रचलित थी, इसके पत्तो पर रेशम के कीड़े पाले जाते थे। खोदने वाले खुरपे का स्थान हल ने ले लिया था और बाढ़ों को नियंत्रित करने और सिंचाई की व्यवस्था सुधारने के लिए प्रयत्न किये गए। बाढ़ के बाद आई मिट्टी को हटाना और नहरें खोदना भी सरकार के ही कार्य थे। सरकार के प्रयासों, उपजाऊ भूमि तथा सिंचाई की उत्तम व्यवस्था के परिणामस्वरूप चीनी किसान एक साल में दो–तीन फसलें पैदा कर लेते थे।

चीनी लोग पशुपालन का भी कार्य करते थे। पालतू जानवरों में गाय, बैल, भैंस, बकरी, भेड, कुत्ते, सुअर, हिरण आदि मुख्य थे।

उद्योग व व्यापार –

चीनी लोग मुख्य रूप से सूत कातना, कपड़े बुनना, मिट्टी के बर्तन एवं मूर्तियाँ बनाना, धातुओं के अस्त्र–शस्त्र, आभूषण, मूर्तियाँ तथा खिलौने बनाना एवं रेशम के कपड़े के लिए प्रसिद्ध थे। सर्वप्रथम रेशम के आविष्कार का श्रेय भी चीन को ही दिया जाता है। मृद्भाण्ड बनाने का काम भी विकसित होकर चीन की एक विशिष्ट कला बन गया। वज्रमणि को उत्कीर्ण करना भी चीनियों की विशेषता थी। चीनी लोग वज्रमणि को संगीत पत्थर कहते थे क्योंकि जब इनको ठीक प्रकार से गढ़ लिया जाता था तथा इन पर चोट लगाई जाती थी तो इसमें से संगीत जैसा मधुर स्वर निकलता था।

चीनी लोगों का एक अन्य प्रसिद्ध उद्योग कागज बनाना था। कागज का आविष्कार भी चीन ने ही किया था। वे लोग चिथड़े, वृक्ष की छाल, पटुआ तथा रेशम के छोटे–छोटे टुकड़ो से कागज बनाते थे। चीनी लोग दर्पण बनाने में भी दक्ष थे। कांसे के दर्पणों में रेखा गणितिय आकृतियाँ बनाई जाती थी जो दर्पण कला की उत्तम कृतियाँ हैं।

जब चीन का शेष दुनिया से सम्पर्क हुआ तब चीन के व्यापार में उन्नति हुई। चीनी नगर व्यापार के केन्द्र थे। व्यापार जल तथा थल दोनो मार्गों से होता था। चीन की दीवार को पार करके दो मुख्य सड़कों का निर्माण पश्चिमी देशों से व्यापार के लिए किया गया। चीनी लोगों का पूर्वी द्वीप समूह, लंका, भारत, फारस, रोम, मध्य एशिया तथा मंगोलिया के साथ व्यापार होता था। चीनी लोग लोहे की वस्तुएँ, रेशम, मिट्टी के बर्तन तथा अन्य दस्तकारी वस्तुएँ निर्यात करते थे तथा सोना–चाँदी तथा हाथी दाँत, अफीम, सूत आदि आयात करते थे।

प्रारम्भ में व्यापारिक लेन–देन वस्तु विनिमय पर आधारित था परन्तु बाद में सिक्कों का प्रयोग शुरु हो गया था।

भाषा तथा साहित्य –

चीनी शासकों ने लिपि का मानकीकरण किया। उन्होने 3300 चिह्न स्वीकार किए तथा राजनीतिक संगठन होने के बाद देश के प्रत्येक भाग में यह लिपि प्रसिद्ध हो गई। चीनी लिपि पूरे देश में एक थी लेकिन बोलियों में बहुत अन्तर था। चीनी लिपि ने पूरे चीन में एकता लाने में महत्वपूर्ण योगदान किया। जापान, कोरिया, वियतनाम की लिपियाँ भी चीन की लिपि से प्रभावित हुई।

पहली शती ई. में कागज का आविष्कार हुआ और इससे लेखन कला में क्रांतिकारी परिवर्तन हुआ। चीनी लिपि तथा भाषा के विकास और कागज के आविष्कार होने पर चीन में उच्च कोटि के साहित्य की रचना हुई और उसे भविष्य के लिए सुरक्षित रखना सम्भव हो गया। प्राचीन साहित्य के अतिरिक्त चीनी दार्शनिकों ने जन साधारण की भाषा में, गद्य में अपने विचार व्यक्त किये।

इतिहास लिखने की प्रथा का प्रचलन प्राचीन काल से था। कहा जाता है कि कनफ्यूशियस ने इतिवृत्त लिखे जिसमें लू राज्य का 722 से 481 ई. पू. तक का इतिहास है। चीन में

राजवंशों का इतिहास लिखने की प्रथा बहुत बलवती हो गई। इस समय 26 राजवंशो के इतिहास उपलब्ध हैं। इस प्रकार का सबसे पहला इतिहास स्सु–मा च्येन ने लिखा था। उनको चीन के प्रथम इतिहासकार के रूप में आदर दिया जाता है।

विज्ञान और तकनीक –

चीन बारूद, कुतबनुमा, रेशम, कागज, छापेखाने के लिए विश्व प्रसिद्ध है। पनचक्की तथा जलघड़ी का आविष्कार भी चीनियों ने ही किया था। अभियांत्रिकी के क्षेत्र में उन्होंने नहरें बनाई जो 100–100 मील से भी लम्बी थी। उन्होंने तारों तथा नक्षत्रों के समूहों की सूचियाँ बनाई जिससे वे ग्रहणों की तिथियाँ निर्धारित कर सकते थे। जलघड़ी के आविष्कार से चीनियों ने ऋतुओं का ज्ञान प्राप्त कर बाढ़ों से निपटने का प्रयास किया।

गणित में चीनी लोग दशमलव का प्रयोग जानते थे परन्तु उन्हें शून्य का ज्ञान नहीं था। चीनियो ने भूकम्प विज्ञान का भी विकास किया। उन्होंने भूकम्प–लेखी यंत्र का आविष्कार कर लिया था। इस यंत्र द्वारा वे भूकम्प के प्रारम्भ स्थान का पता लगा लेते थे।

पतंग का आविष्कार भी चीन की ही देन है। पंतग के अतिरिक्त छतरियों का आविष्कार भी चीन ने ही किया।

सिन्धु घाटी सभ्यता

सिन्धु घाटी सभ्यता विश्व की प्राचीन सभ्यताओं में से एक प्रमुख सभ्यता है। इस सभ्यता का विकास सिन्धु नदी के किनारे होने के कारण इसे सिन्धु घाटी सभ्यता नाम दिया गया।

1921 में दयाराम साहनी तथा 1922 में राखलदास बनर्जी द्वारा हडप्पा तथा मोहनजोदडो में किए गए उत्खननों से सिन्धु घाटी सभ्यता का अनावरण हुआ। इसे हड़प्पा सभ्यता भी कहा जाता है क्योंकि हड़प्पा नामक स्थान को सबसे पहले खोजा गया था। नवीन खोजों के अनुसार इस सभ्यता का विकास सिन्धु और घग्घर (प्राचीन सरस्वती) नदी के किनारे हुआ। अतः इस सभ्यता को सिन्धु सरस्वती सभ्यता के नाम से भी जाना जाता है।

वर्तमान में इस सभ्यता के पुरास्थल हमें पाकिस्तान में सिन्ध, पंजाब एवं बलूचिस्तान प्रान्तों से तथा भारत में जम्मू–कश्मीर, पंजाब, हरियाणा, पश्चिमी उत्तर प्रदेश, राजस्थान, गुजरात तथा महाराष्ट्र प्रान्तों से मिले हैं।

इन सभी प्रान्तों से प्राप्त पुरास्थलों की सूची निम्नलिखित है –

बलूचिस्तान (पाकिस्तान)	–	सुत्कागेण्डोर, सुत्काकोह बालाकोट
पंजाब (पाकिस्तान)	–	हडप्पा, जलीलपुर, रहमान ढेरी, सराय खोला, गनेरीवाल
सिंध (पाकिस्तान)	–	मोहनजोदडो, चन्हुदड़ो, कोटदीजी, जुदीरजोदडो
पंजाब (भारत)	–	रोपड, कोटला निहंगखान, संघोल
हरियाणा (भारत)	–	बणावली, मीताथल, राखीगढी
जम्मू–कश्मीर (भारत)	–	माण्डा (जम्मू)
राजस्थान (भारत)	–	कालीबंगा
उत्तर प्रदेश (भारत)	–	आलमगीरपुर (मेरठ) हुलास (सहारनपुर)
गुजरात (भारत)	–	रंगपुर, लोथल, प्रभासपाटन, रोजदी, देशलपुर, सुरकोटडा, मालवण, भगतराव, धौलावीरा
महाराष्ट्र (भारत)	–	दैमाबाद (अहमदनगर)

नवीन परिगणना के हिसाब से सिन्धु घाटी सभ्यता के लगभग 1400 स्थल हमें ज्ञात हैं। जिनमें 917 भारत में 481 पाकिस्तान में तथा शेष 2 स्थल अफगानिस्तान (शोर्तुगोई मुड़ीगाक) में हैं।

सिन्धु घाटी सभ्यता के विस्तार की उत्तरी सीमा जम्मू क्षेत्र में चेनाब नदी के किनारे स्थित माण्डा पुरास्थल है। इसकी दक्षिणी सीमा महाराष्ट्र के दैमाबाद (अहमदनगर) नामक स्थल

पर है। यमुना नदी की सहायक हिण्डन नदी के तट पर स्थित आलमगीरपुर सबसे पूर्वी पुरास्थल है तथा सबसे पश्चिमी पुरास्थल बलूचिस्तान में मकरान तट पर स्थित सुत्कागेण्डोर है। अर्थात् सिन्धु सभ्यता पश्चिम से पूर्व तक 1600 कि.मी. तथा उत्तर से दक्षिण तक 1400 कि.मी. में फैली हुई थी। सिन्धु सभ्यता का वर्तमान में प्राप्त भौगोलिक विस्तार लगभग 15 लाख वर्ग किमी. है।

सिन्धु घाटी सभ्यता का कालक्रम –

सिन्धु घाटी सभ्यता के कालक्रम को लेकर विद्वान एक मत नहीं है।

अर्नेस्ट मैके ने मोहनजोदडो के अन्तिम चरण को 2500 ई.पू. में निर्धारित करते हुए प्रारम्भ 2800 ई.पू. माना है। मार्टीमर व्हीलर ने इस सभ्यता की तिथि 2500 ई.पू. से 1500 ई.पू. के मध्य मानी है। रेडियो–कार्बन पद्धति से इस सभ्यता की तिथि 2300–1750 ई.पू. मानी गई हैं। लेकिन नवीन उत्खननों तथा अनुसंधानो से सिन्धु घाटी सभ्यता के नवीन तथ्य प्रकाश में आये हैं। इन नवीन उत्खननों से पता चलता हैं कि यह सभ्यता 5000 ई. पू. से 3000 ई. पू. के मध्य की हैं। इस प्रकार यह कहा जा सकता हैं कि सिन्धु घाटी सभ्यता विश्व की प्राचीनतम सभ्यता थी।

नगर नियोजन तथा स्थापत्य –

सुनियोजित नगरों का निर्माण सिन्धु घाटी सभ्यता की एक अनूठी विशेषता है। प्रत्येक नगर के पश्चिम में ईटों से बने एक चबूतरे पर 'गढी' या दुर्ग का भाग है और इसके पूर्व की ओर अपेक्षाकृत नीचे धरातल पर नगर भाग प्राप्त होता है जो जन सामान्य द्वारा निवासित होता था। गढ़ी वाला भाग शायद पुरोहितों अथवा शासक का निवास स्थान होता था। गढी के चारों ओर परकोटे जैसी दीवार थी।

नगरों की सड़कें सीधी तथा एक दूसरे को समकोण पर काटती हुई दिखती हैं। जिससे सम्पूर्ण नगर वर्गाकार या आयताकार खण्डों में विभक्त हो जाता है। सिन्धु घाटी सभ्यता कालीन सड़कें पर्याप्त चौड़ी होती थीं, इनकी चौड़ाई 9 फीट से 34 फीट तक मिलती है और कभी–कभी ये सड़कें आधे मील की लम्बाई तक मिली हैं।

भवन विभिन्न आकार–प्रकार के हैं जिनकी पहचान धनाढ्यों के विशाल भवन, सामान्य जनों के साधारण घर, दुकानें, सार्वजनिक भवन आदि के रूप में की जा सकती है। साधारणतया घर पर्याप्त बड़े थे और उनके मध्य में आँगन होता था। आँगन के एक कोने में ही भोजन बनाने का प्रबन्ध था। और इर्द–गिर्द चार या पाँच कमरे बने होते थे। प्रत्येक घर में स्नानागार और पानी की निकासी के लिए नालियों का प्रबन्ध था और घरों में कुएँ भी थे। यह उल्लेखनीय है कि सिन्धु घाटी सभ्यता के लोग सार्वजनिक मार्गों पर अतिक्रमण नहीं करते थे।

गलियाँ 1 से 2.2 मीटर तक चौड़ी थी। ये गलियाँ सीधी होती थी। मोहनजोदडो की हर गली में एक सार्वजनिक कूप मिलता है। कालीबंगा में गलियों एवं सड़कों को एक आनुपातिक ढंग से निर्मित किया गया था। गलियाँ वहाँ 1.8 मी. चौडी और मुख्य सड़कें एवं राजमार्ग इससे दुगुने (3.6 मी.) तिगुने (5.4 मी.) या चौगुने (7.2 मी.) चौड़े थे।

सिन्धु घाटी सभ्यता के भवनों में पकाई गई ईटों का इस्तेमाल होना एक अद्भुत बात है। जिस समय अन्य सभ्यताएँ पक्की ईंटों से अनभिज्ञ थी उस समय सिन्धु घाटी सभ्यता के लोग बड़ी कुशलता से उनका प्रयोग कर रहे थे। निर्माण में प्रयुक्त ईंटों का अनुपात 4 : 2 : 1 था।

जल निकास प्रणाली –

जल प्रबन्धन एवं जल निकास व्यवस्था सिन्धु घाटी सभ्यता व्यवस्था की प्रमुख विशेषता थी। लगभग प्रत्येक बड़े घर में कुएँ की व्यवस्था थी। सार्वजनिक उपयोग हेतु भी कुछ कुए गलियों के किनारे खुदाये गये थे। जल उपलब्धि के साथ ही जल निकासी हेतु भी व्यवस्थित प्रणाली थी। प्रायः प्रत्येक घर के किनारे वर्षा एवं घर के अनुपयुक्त पानी की निकासी हेतु नालियाँ थी। प्रत्येक घर की नाली गली की प्रमुख नालियों से होकर मुख्य सड़क की नालियों में गिरती थी। पक्की ईंटों से निर्मित नालियाँ अधिकांशतः ढकी हुई होती थी। नालियों के बीच–बीच में थोड़ी दूरी पर गड्ढे बनाये जाते थे जिनमें अवरोधक कूड़ा–कचरा गिर जाता था। और जल निकास के बहाव में रूकावट नहीं होती थी। इन गड्ढों के ढक्कन हटाकर

सफाई की जाती थी। ऊपरी मंजिलों का पानी पक्की ईंटों से बने पटावनुमा नाली से नीचे गिरता था। कालीबंगा में लकड़ी के खोखले तनों का उपयोग नालियों के रुप में किया जाता था। कहीं पर भी पानी का जमाव या गंदा पानी भरा नहीं रहता था। सिन्धु घाटी सभ्यता सभ्यता नगरीय स्वच्छता का श्रेष्ठतम प्रतीक है। ऐसी नाली व्यवस्था विश्व में अन्यत्र कहीं नहीं प्राप्त होती। यहाँ तक कि 18वीं शताब्दी के श्रेष्ठतम मान्य शहर पेरिस में भी ऐसी जल निकासी व्यवस्था नहीं थी।

विशिष्ट भवनों का स्थापत्य

विशाल स्नानागार –

यह मोहनजोदडो में स्थित सबसे महत्वपूर्ण व भव्य निर्माण का नमूना है। यह स्नानागार 39 फीट लम्बा, 23 फीट चौड़ा और 8 फीट गहरा है। इस कुण्ड में जाने के लिए दक्षिण और उत्तर की ओर की सीढ़ियाँ बनी हुई हैं। इसमें ईंटों की चिनाई बड़ी सावधानी एवं कुशलता के साथ की गई है। स्नान कुण्ड की फर्श का ढाल दक्षिण–पश्चिम की ओर है। स्नानागार के दक्षिणी–पश्चिमी कोने में ही एक महत्वपूर्ण नाली थी जिसके द्वारा पानी निकास की व्यवस्था थी। इस स्नानागार का उपयोग धार्मिक उत्सवों तथा समारोहो पर होता होगा।

विशाल अन्नागार –

हडप्पा के गढी वाले क्षेत्र में एक विशाल अन्नागार के अवशेष मिले हैं। यह ऊँचे चबूतरे पर बना हुआ था जिसके पीछे बाढ़ से बचाव तथा सीलन से बचाने का उद्देश्य दिखाई पड़ता है। यह अन्नागार या भण्डारागार कई खण्डों में विभक्त था और हवा आने जाने की पर्याप्त व्यवस्था थी। यह अन्नागार राजकीय था। हडप्पा के अतिरिक्त हमें मोहनजोदडो एवं राखीगढ़ी से भी अन्नागारों के अवशेष मिले हैं।

गोदी या बंदरगाह (लोथल) –

लोथल में पक्की ईटों का एक गोदी या बंदरगाह (डॉकयार्ड) मिला है। जिसका औसत आकार 214.36 मीटर है। इसकी वर्तमान गहराई 3.3 मीटर है। अनुमानतः इसकी उत्तरी दीवार में 12 मीटर चौड़ा प्रवेश द्वार था जिसमें से जहाज आते जाते थे। लोथल का डॉकयार्ड वर्तमान में विशाखापट्टनम् में बने हुए डॉकयार्ड से बड़ा है।

इनके अतिरिक्त धौलावीरा का जलाशय तथा विशाल स्टेडियम भी विश्व की प्राचीन सभ्यताओं से प्राप्त नमूनों में विशिष्ट स्थान रखते हैं।

सामाजिक जीवन

वर्गीकरण –

समाज में कई वर्ग थे। यहाँ सुनार, कुम्भकार, बढई, दस्तकार, जुलाहे, ईंटें तथा मनके बनाने वाले पेशेवर लोग थे। कुछ विद्वानों के अनुसार उस काल में पुरोहितों तथा अधिकारियों व राजकर्मचारियों का एक विशिष्ट वर्ग रहा होगा। सम्पन्नता की दृष्टि से गढी वाले क्षेत्र के लोग सम्पन्न रहे होंगे तथा निचले नगर में सामान्य लोग रहते होंगे।

परिवार तथा स्त्रियों की स्थिति –

खुदाई में मिले भवनों से साफ पता लगता है कि ि सिन्धु घाटी सभ्यता काल में पृथक्–पृथक् परिवारों के रहने की योजना दिखाई देती है। अतः इस काल में एकल परिवार योजना रही होगी। इस सभ्यता में भारी संख्या में नारियो की मूर्तिया मिली हैं। संभवतः यहाँ नारियों का स्थान सम्मानजनक था। क्रीट तथा अन्य भूमध्य सागरीय सभ्यताओं में मातृसत्तात्मक समाज पाया जाता था। अतः इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि सिन्धु–सरस्वती सभ्यता में भी मातृसत्तात्मक परिवारों का प्रचलन रहा होगा। ऐसी स्थिति में स्त्रियों का समाज में महत्वपूर्ण स्थान रहा होगा।

खान–पान –

सिन्धु घाटी सभ्यता सभ्यता के वासी अपने भोजन में गेहूँ, जौ, चावल, दूध, फल, माँस आदि का सेवन करते थे। फलो में वे अनार, नारियल, नींबू, खरबूजा, तरबूज आदि से परिचित थे। पशु पक्षियों की कटी–फटी हड्डियों के मिलने से उनके मांसाहार का पता चलता है। भेड, बकरी, सुअर, मुर्गा, बतख, कछुआ आदि का मांस खाया जाता था। अनाज तथा मसाले पीसने के लिए सिल–बट्टे का प्रयोग किया जाता था।

रहन–सहन, आमोद–प्रमोद –

स्त्रियों की मृणमूर्तियों से उनकी वेशभूषा की जानकारी मिलती है। इन मूर्तियों में उनके शरीर का ऊपरी भाग वस्त्रहीन है तथा कमर के नीचे घाघरे जैसा एक वस्त्र पहना हुआ है। कुछ मूर्तियों में स्त्रियों को सिर के ऊपर एक विशेष प्रकार के पंखे की आकृति का परिधान पहने हुए दिखाया गया है। पुरूषों की अधिकांश आकृतियाँ बिना वस्त्रों के हैं। हालांकि पुरूष कमर पर एक वस्त्र बाँधते थे। कुछ स्थानों पर पुरूषों को शाल ओढे हुए दिखाया गया है।

पुरूषों में कुछ लोग दाढ़ी–मूँछ रखते थे तथा हजामत करते थे। स्त्रियाँ अपने केशों का विशेष ध्यान रखती थी। बालों को संवारने के लिए कंघियों का और मुख छवि देखने के लिए दर्पण का प्रयोग किया जाता था। खुदाई में कांसे में बने हुए दर्पण एवं हाथीदांत की कंघियाँ प्राप्त हुई हैं। स्त्री–पुरूष दोनों ही आभूषण धारण करते थे। मुख्य रूप से मस्तकाभूषण, कण्ठहार, कुण्डल, अगूंठियाँ, चूडियाँ, कटिबन्ध, पाजेब आदि पहने जाते थे।

सिन्धु घाटी सभ्यता के क्षेत्र की खुदाई में मिट्टी के कई खिलौने मिले हैं। इसके अतिरिक्त पासे भी मिले हैं जिससे पासों के खेलों जैसे चौसर का प्रमाण मिलता है। नर्तकी की प्राप्त मूर्ति से नृत्य संगीत का पता लगता है। कुछ मुहरों पर सारंगी और वीणा का भी अंकन है।

आर्थिक जीवन –

कृषि –

सिन्धु घाटी सभ्यता सिन्धु घाटी सभ्यता सभ्यता के पर्याप्त जनसंख्या वाले महानगरों का उदय एक अत्यन्त उपजाऊ प्रदेश की पृष्ठभूमि में ही सम्भव था। अधिकांश नगर सुनिश्चित सिंचाई की सुविधा से युक्त उपजाऊ नदी के तटों पर स्थित थे। जलवायु की अनुकूलता, भूमि की उर्वरता एवं सिंचाई की सुविधाओं के अनुरूप विभिन्न स्थलों पर फसलें उगाई जाती थी।

गेहूँ के उत्पादन के पर्याप्त प्रमाण मिले हैं। हड़प्पा और मोहनजोदडो से जौ के भी प्रमाण मिले हैं। ऐसा जान पड़ता है कि गेहूँ और जौ इस सभ्यता के मुख्य खाद्यान्न थे। इसके अतिरिक्त खजूर, सरसों, तिल, मटर तथा राई और चावल से भी परिचित थे। कपास की खेती होती थी और वस्त्र निर्माण एक महत्वपूर्ण व्यवसाय रहा होगा। सिन्धु–सरस्वती सभ्यता में ही कपास की खेती का विश्व को पहला उदाहरण मिला है। सिन्धु क्षेत्र में उपज होने के कारण यूनानियो ने कपास के लिए ''सिन्डन'' शब्द का प्रयोग किया। यहाँ की उर्वरता का मुख्य कारण सिन्धु तथा सरस्वती नदियों में आने वाली बाढ़ थी जो कि काफी जलोढ मिट्टी लाकर मैदानों में छोड़ देती थी। सम्भवतः खेतों को जोतने के लिए हलों का प्रयोग होता था। कालीबंगा में जुते हुऐ खेत का प्रमाण मिला है।

पशुपालन –

गाय, बैल, भैंस, भेड़ पाले जाने वाले प्रमुख पशु थे। बकरी तथा सुअर भी पाले जाते थे। कुत्ते, बिल्ली तथा अन्य पशु भी पाले जाते होंगे। हाथी और ऊँट की हड्डियाँ बहुत कम मिली हैं लेकिन मुहरों पर इनका अंकन विपुल है। सिन्धु सभ्यता के निवासी घोड़े से भी परिचित थे। लोथल से घोड़े की तीन मृण मूर्तियाँ तथा एक जबड़ा मिला है।

उद्योग तथा शिल्प –

सिन्धु घाटी सभ्यता कांस्ययुगीन सभ्यता है। ताँबे के साथ टिन को मिलाकर कांसा बनाया जाता था। ताम्र और कांस्य के सुन्दर बरतन हड़प्पा कालीन धातु कला के श्रेष्ठ उदाहरण हैं।

ताँबे से निर्मित औजारों में उस्तरे, छैनी हथौड़ी, कुल्हाडी, चाकू, तलवार आदि मिली है। कांस्य की वस्तुओं के उदाहरण में नर्तकी की मूर्ति मुख्य है। सिन्धु सभ्यता में सोने तथा चाँदी का भी प्रयोग होता था तथा यहाँ के लोग मिट्टी के बरतन बनाने की कला में भी प्रवीण थे। मनकों का निर्माण एक विकसित उद्योग था। चन्हुदड़ो तथा लोथल में मनका बनाने वालों की पूरी कर्मशाला मिली है। मनके सोने–चाँदी, सेलखडी, सीप तथा मिट्टी से बनाये जाते थे।

लोथल तथा बालाकोट से विकसित सीप उद्योग के प्रमाण मिले हैं। सूत की कताई और सूती वस्त्रों की बुनाई के

धन्धे भी अत्यन्त विकसित रहे होंगे।

व्यापार एवं वाणिज्य –

सिन्धु घाटी सभ्यता में आन्तरिक तथा विदेशी व्यापार अत्यन्त विकसित अवस्था में था। उद्योग–धन्धों के लिए कच्चा माल राजस्थान, गुजरात, सिन्ध, दक्षिण भारत, अफगानिस्तान, ईरान तथा मेसोपोटामिया से मँगाया जाता था। राजस्थान से ताँबा तथा सोना मैसूर से आता था।

यहाँ के लोगों के मेसोपोटामिया से व्यापारिक सम्बन्ध होने के स्पष्ट प्रमाण मिले हैं। मेसोपोटामिया से सिन्धु सरस्वती सभ्यता की कई दर्जन मुहरें मिली हैं। मेसोपोटामिया के एक अभिलेख में दिलमन, मगान और मेलुहा नामक स्थानों की चर्चा की गई है। जिनके साथ वहाँ के लोगो के व्यापारिक सम्बन्ध थे। मेलुहा शब्द भारत के लिए प्रयुक्त किया गया माना जाता है।

सिन्धु घाटी सभ्यता में व्यापार के लिए वस्तु विनिमय प्रणाली का प्रयोग किया जाता था। यहाँ से भारी संख्या में मुहरें मिली है लेकिन उनका उपयोग पत्र या पार्सल पर छाप लगाने के लिए किया जाता था। माप–तौल का एक निश्चित क्रम था। तोल की ईकाई 16 के अनुपात में थी जैसे – 1, 2, 4, 8, 16, 32, 64, 160, 320 सोलह के अनुपात में तौल मापने की परम्परा हमारे यहाँ आधुनिक काल तक चलती आ रही है।

धार्मिक जीवन –

सिन्धु घाटी सभ्यता का प्राचीन धर्म के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान स्वीकार किया जाता है। मातृदेवी की उपासना, पशुपति शिव की परिकल्पना, मूर्तिपूजा, वृक्षपूजा, अग्निपूजा, जल की पवित्रता, तप एवं योग की परम्परा उनके धर्म की ऐसी विशेषताएँ है जिनकी निरन्तरता हमारे वर्तमान धार्मिक जीवन में देखी जा सकती है। बणावली से प्राप्त एक अर्द्धवृत्ताकार ढ़ाँचे के सम्बन्ध में कुछ विद्धानों ने मंदिर होने की संभावना व्यक्त की है।

मातृदेवी की उपासना –

हड़प्पा, मोहनजोदडो एवं चुन्हदडो से विपुल मात्रा में मिट्टी की बनी हुई नारी–मूर्तियाँ मिली हैं, जिन्हें पूजा के लिए निर्मित मातृदेवी की मूर्तियाँ माना गया है। भारत में देवी पूजा या शक्ति पूजा की प्राचीनता का प्रारम्भिक बिन्दु सिन्धु घाटी सभ्यता में देखा जा सकता है।

सिन्धु घाटी सभ्यता से प्राप्त मुहरों के कुछ चित्रों से भी मातृदेवी की उपासना के संकेत मिलते हैं। राखीगढ़ी में हमें बहुत से अग्निकुण्ड एवं अग्नि वेदिकायें (संभवतः यज्ञवेदियाँ) मिली हैं। इन क्षेत्रों में धार्मिक यज्ञों या अग्निपूजा का प्रचलन रहा होगा।

पुरूष देवता (शिव) की उपासना –

जॉन मार्शल ने मोहनजोदडो की एक मुहर पर अंकित देवता को ऐतिहासिक काल के पशुपति शिव का प्राक् रूप माना है। इस मुहर में देवता को त्रिमुख एवं पद्मासन मुद्रा में बैठे हुए दिखाया गया है। दृष्टि नासिका के अग्रभाग पर केन्द्रित लगती है, इसके चारों ओर एक हाथी, एक चीता, एक भैंसा तथा एक गैंडा एवं आसन के नीचे हरिण अंकित है। इस अंकन में शिव के तीन रूप देखे जा सकते हैं। जो निम्न है – (1) शिव का त्रिमुख रूप (2) पशुपति रूप (3) योगेश्वर रूप

अग्निवेदिकाएँ –

कालीबंगा, लोथल, बणावली एवं राखीगढ़ी के उत्खननों से हमें अनेक अग्निवेदिकाएँ मिली हैं। कुछ स्थलों पर उनके साथ ऐसे प्रमाण भी मिले हैं जिनसे उनके धार्मिक प्रयोजनों के लिए प्रयुक्त होने की संभावना प्रतीत होती है। बणावली एवं राखीगढ़ी से वृत्ताकार अग्निवेदिकाएँ मिली हैं, जिन्हें अर्द्धवृत्ताकार ढाँचे के मन्दिर या घेरे में संयोजित किया गया है।

पशु पूजा, वृक्ष पूजा एवं नाग पूजा –

खिलोना

कई मुहरों पर एकश्रृंग वृषभ (एक सींग वाले बैल) का अंकन मिलता है, जिसके सामने सम्भवतः धूपदण्ड रखा हुआ है।

अनेक छोटी–छोटी मुहरों पर वृक्षों के चित्रांकन से वृक्ष पूजा का आभास होता है। कई छोटी मुहरों पर

एक वृक्ष के चारों ओर छोटी दीवार या वेदिका बनी मिलती है। जो उनकी पवित्रता तथा पूजा–विषय होने की द्योतक है। कुछ मुहरों पर स्वास्तिक, चक्र एवं क्रॉस जैसे मंगलचिन्हों का भी अंकन काफी संख्या में मिलता है।

सिन्धु घाटी सभ्यता के अवशेषों से जल की पवित्रता एवं धार्मिक स्नान की परम्परा के संकेत भी मिलते है। यह अनुमान किया जाता है कि मिट्टी और ताँबे से बनी कुछ गुटिकाओं का ताबीजों के रूप में इस्तेमाल किया जाता था। मनके भी जैसे त्रिपत्र–अलंकरण युक्त होते थे जो ''ताबीज या रक्षाकवच'' के रूप में काम आते होंगे।

योग एवं साधना की परम्परा –

विद्वानों का अनुमान है कि सिन्धु घाटी सभ्यता में योग एवं साधना की परम्परा के अस्तित्व का संकेत भी मिलता है। इसके दो साक्ष्य हैं – (1) पशुपति मुहर में पदमासन मुद्रा में बैठे योगेश्वर शिव का अंकन (2) मोहनजोदडो से प्राप्त 'योगी' की मूर्ति जिसकी दृष्टि नासाग्र पर टिकी है।

मुहर

मृतक संस्कार एवं पुनर्जन्म में विश्वास –

मार्शल के अनुसार इस सभ्यता के लोग तीन प्रकार से शवों का क्रिया कर्म करते थे – (1) पूर्ण समाधिकरण – इसके अन्तर्गत सम्पूर्ण शव को जमीन के नीचे गाड़ दिया जाता था। (2) आंशिक समाधिकरण – इसके अन्तर्गत पशु–पक्षियों के खाने के पश्चात् शव के बचे हुए भाग गाड़े जाते थे। (3) दाहकर्म – इसमें शव जला दिया जाता था और कभी–कभी भस्म गाड़ दी जाती थी। शव के साथ कभी–कभी विविध आभूषण, अस्त्र–शस्त्र पात्रादि भी रखे मिलते हैं। इससे प्रतीत होता है कि वे पुनर्जन्म में भी विश्वास रखते थे।

राजनीतिक व्यवस्था

सिन्धु घाटी सभ्यता की राजनीतिक व्यवस्था के बारे में हमें कोई स्पष्ट जानकारी नहीं है। व्हीलर और पिगट का मानना है कि हडप्पा एवं मोहनजोदडो में दक्षिणी मेसोपोटामिया की तरह पुरोहित का शासन था। कुछ अन्य विद्वान इस बात से सहमत नहीं है। उनका कहना है कि इस सभ्यता के नगरों में मिश्र एवं मेसोपोटामिया की तरह कोई मन्दिर नहीं मिला है। सिन्धु सभ्यता के वासियों की मूल रूचियाँ व्यापार मूलक थी, और उनके नगरों में सम्भवतः व्यापारी वर्ग का शासन था।

किंतु नगर–नियोजन, पात्र–परम्परा, उपकरण निर्माण, बाट एवं माप आदि के संदर्भ में मानकीकरण एवं समरूपता किसी प्रभावी राजसत्ता के पूर्ण एवं कुशल नियन्त्रण के प्रमाण हैं। व्हीलर के अनुसार यह साम्राज्य, जो इतनी दूर तक फैला हुआ था, एक अच्छे प्रकार से शासित साम्राज्य था। इतने बड़े साम्राज्य के चार प्रमुख क्षेत्रीय केन्द्र रहे होंगे – हडप्पा, मोहनजोदडो, कालीबंगा और लोथल। सिन्धु घाटी सभ्यता के निवासियों का जीवन शान्तिप्रिय था। युद्ध के अस्त्र–शस्त्र बहुत अधिक संख्या में नहीं मिलते हैं। उपलब्ध हथियारों में काँसे की आरी, ताँबे की तलवारें, कांस्य के बने भालों के अग्रभाग, कटारें, चाकू, नोकदार बाणाग्र आदि मिलते हैं।

कला

सिन्धु घाटी सभ्यता की मुहरें, मूर्तियाँ, मृद्भाण्ड, मनके एवं धातु से बनी कतिपय वस्तुयें कलात्मक उत्कृष्टता एवं समृद्धि की परिचायक हैं।

मूर्तिकला –

मोहनजोदडो से प्राप्त उल्लेखनीय पत्थर की एक खंडित मानव–मूर्ति जिसका सिर से वक्षस्थल तक का ही भाग

बचा है, उल्लेखनीय है। यह मूर्ति त्रिफूलिया आकृति से युक्त शाल ओढे हुए है। हडप्पा के उत्खननों से पत्थर की दो मूर्तियाँ उपलब्ध हुई हैं। कला के क्षेत्र में शैली और भावाभिव्यक्ति की दृष्टि से ये काफी हद तक यूनानी कलाकृतियों के समकक्ष रखी जा सकती हैं। इनमें से एक लाल बलुआ पत्थर का धड़ है। यह एक युवा पुरूष का धड़ है और इसकी रचना में कलाकार ने मानव शरीर के विभिन्न अंगों के सूक्ष्म अध्ययन का प्रमाण दिया है। दूसरी सलेटी चूना पत्थर की नृत्यमुद्रा में बनाई गई आकृति का धड़ है। इसमें शरीर के विभिन्न अंगों का विन्यास आकर्षक है। यह भी संभावना व्यक्त की गई है कि यह नृत्यरत नटराज की मूर्ति है। कांस्य मूर्तियों में सर्वाधिक कलात्मक नर्तकी की मूर्ति है। यह मूर्ति 14 सेमी ऊँची है। इस मूर्ति में नारी के अंगों का न्यास सुन्दर रूप से हुआ है। इस मूर्ति का निर्माण द्रवीय मोम विधि से हुआ है।

कांस्य मूर्तियों में दैमाबाद से प्राप्त एक रथ की मूर्ति अत्यन्त आकर्षक है। एम. के. धवलिकर के शब्दों में ''दैमाबाद से प्राप्त उपर्युक्त चारों कांस्य–मूर्तियाँ 'भारतीय प्रागैतिहासिक कला के सम्पूर्ण क्षेत्र में अपनी श्रेणी के श्रेष्ठतम शिल्प है।''

सिन्धु घाटी सभ्यता में मिट्टी की मूर्तियाँ सर्वाधिक संख्या में मिली हैं। मिट्टी की सर्वत्र सुलभता आकृतियों के निर्माण में धातु एवं पत्थर से अधिक आसानी और कम खर्च के कारण प्रायः सभी प्राचीन संस्कृतियों में मृण्मूर्ति कला लोकप्रिय रही। पाषाण–मूर्तियाँ बहुत कम संख्या में मिली हैं। सिन्धु सभ्यता के विविध क्षेत्रों से उपलब्ध मृण्मूर्तियों के विशाल भण्डार में पशुओं और पक्षियों की मूर्तियाँ अधिक संख्या में मिली हैं।

मुहरें –

मुहरें इस सभ्यता की सर्वोत्तम कलाकृतियाँ हैं। अधिकांश मुहरों पर किसी न किसी पशु की आकृति एवं सिन्धु लिपि में लेख, जो साधारणतया 3 से 8 अक्षर वाले हैं। अधिकांश मुहरें सेलखडी से निर्मित हैं। ये प्रायः इस सभ्यता के नगर स्थलों से ही मिली हैं। यद्यपि इन मुहरों के निर्माण में एक जैसी सावधानी और कलात्मकता नहीं दिखती, तथापि मुहरों के कुछ सुन्दर उदाहरण विश्व की महान कलाकृतियों में अपना स्थान रखते हैं। मुहरों पर अंकित पशु आकृतियों में सबसे अधिक अंकन कूबड़–विहीन बैल का मिलता है। सिन्धु घाटी सभ्यता में दो मुहरें विशेष उल्लेखनीय हैं। सबसे प्रसिद्ध 'पशुपति मुहर' जिसमें एक चौकी या पीठ पर आसीन 'शिव' एक हाथी, चीता, गैंडा और भैंसें से घिरे हैं। दूसरी मुहर पर एक कूबड़दार बैल का अंकन है जो मोहनजोदडो से मिली है। सिन्धु घाटी सभ्यता के विविध क्षेत्रों से उपलब्ध मृण मूर्तियों के विशाल भंडार में पशुओं की मूर्तियाँ अधिक संख्या में मिली हैं।

लिपि –

सिन्धु घाटी सभ्यता की लिपि अभी भी विद्वानों के लिए एक अबूझ रहस्य है। अभी तक इस लिपि को पढ़ने के बारे में 100 से अधिक दावे प्रस्तुत किये जा चुके हैं, लेकिन उन सब की विश्वसनीयता संदिग्ध है। इस सभ्यता में 2500 से अधिक अभिलेख उपलब्ध हैं। सबसे लम्बे अभिलेख में 17 अक्षर हैं। ये प्रायः मुहरों पर मिलते हैं। अभी तक इस लिपि में लगभग 419 चित्रों की पहचान की जा चुकी है। कालीबंगा के एक अभिलेख के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला गया कि यह लिपि दाहिनी ओर से बांयी ओर लिखी जाती थी।

सिन्धु घाटी सभ्यता का निरन्तर सांस्कृतिक प्रवाह

सिन्धु घाटी सभ्यता अपने समय की समृद्ध तथा अनूठी सभ्यता थी। यहाँ के बचे खण्डहर विगत घटना चक्र के मूक लेकिन प्रखर वाचक हैं। यह सभ्यता आज भले ही नष्ट हो गई हो लेकिन उसकी संस्कृति के अनेक तत्वों का अविरल तरंग–प्रवाह हमारी संस्कृति में आज भी विद्यमान है। इस सभ्यता की स्थापत्य कला आज आधुनिक भारत के कई भवनों में दिखाई देती है। वहाँ के नगर–नियोजन से प्रेरित कई नगर भारत में विद्यमान हैं। सिन्धु घाटी सभ्यता के निवासियों की आभूषण प्रियता और शृंगार के प्रति जागरूकता हमारे सामाजिक जीवन में आज भी देखी जा सकती है। कृषि तथा पशुपालन में सिन्धु घाटी सभ्यता के वासियों ने अनेक नवीन प्रयोग किये जो बाद में भारतीय अर्थव्यवस्था के अंग बन गये। सिन्धु घाटी सभ्यता का धार्मिक प्रवाह भारतीय संस्कृति में जीवंत रूप में दिखाई देता है। शिव, शक्ति तथा प्रकृति–पूजा सिन्धु घाटी सभ्यता की ही देन है। योग भी इसी सभ्यता की देन है।

यूनान की सभ्यता

यूनान के प्रारम्भिक निवासी –

यूनान के निवासी कबीलों में रहते थे। प्रत्येक कबीले में अनेक परिवार होते थे तथा उनका एक नेता होता था। कई कबीलों का स्वामी राजा होता था। प्राचीन यूनानियों के मुख्य व्यवसाय कृषि, पशुपालन, मिट्टी के बर्तन, तलवार और आभूषण बनाना थे। जोखिम के कार्य और युद्ध विजय में ही यूनानी लोग जीवन के सर्वोच्च आनन्द का अनुभव करते थे।

प्राचीन यूनानियों में धार्मिक विश्वास बहुत सरल थे। उनके अनेक देवता थे। यूनानी लोगों ने भारतीयों की तरह अपने देवताओं की मनुष्य के रूप में कल्पना की। 'जियस' आकाश का देवता था। समुद्र का देवता 'ओसीदन' था। 'अपोलो' सूर्य देवता था एवं वह भविष्यवाणी कर सकता था। 'एथीना' विजय की देवी थी। वह भारत की सरस्वती देवी के समान ही कलाओ का संरक्षण करती थी। यूनानियों का विश्वास था कि देवता लोग ओलिम्पस पर्वत पर रहते हैं। यह पर्वत यूनान के उत्तरी भाग में स्थित है। यहाँ के लोग स्वर्ग या नरक अथवा पाप–पुण्य के लिए देवताओं की पूजा नहीं करते थे अपितु अच्छी फसल का लाभ उठाने और अपने सभी कार्यों में सफलता पाने के लिए देवताओं को प्रसन्न करते थे। यूनानी समाज में पुरोहित नहीं होते थे। यज्ञ आदि परिवार का स्वामी करता था।

300 ई. पू. तक यूनानी लोग लिखना नहीं जानते थे। जब लिपि का विकास हो गया तब पूर्वजों की सुरक्षित कहानियों को लेखबद्ध किया गया। होमर नामक कवि ने दो प्रसिद्ध महाकाव्य (इलियड व ओडिसी) लिखे, इससे हमें प्रारम्भिक यूनानियों के जीवन और समाज के विषय में बहुत जानकारी मिलती है। एशिया माइनर के पश्चिमी तट पर ट्रॉय नामक नगर है। इलियड में इस नगर के घेरे और नाश की कहानी का वर्णन है। ओडिसि में ओडिसयस नामक यूनानी वीर के जोखिम पूर्ण कार्यों और उसके ट्रॉय से घर लौटने की कहानी लिखी गई है।

नगर राज्यों का उदय –

800 ई. पू. के लगभग कुछ यूनानी ग्रामों के समूहों ने मिलकर नगर राज्यों का रूप ले लिया। एक नगर राज्य में सबसे ऊँचे स्थान पर एक्रोपोलिस या गढ़ बनाया जाता था जिससे नगर सुरक्षित रह सके। इस गढ़ के चारों ओर नगर बसा होता था। समस्त यूनान और समीप के स्पार्टा, एथेंस, मकदूनिया, कोरिंथ और थीब्स आदि द्वीपों में अनेक नगर स्थापित हुए। इन नगर राज्यों में पहले राजा राज करते थे। कुछ समय पश्चात् जमींदारों ने राजतंत्र को समाप्त कर दिया। जनसंख्या और व्यापार के साथ नगरो में मध्यम वर्ग का विकास हुआ तथा जमींदारों की शक्ति को कम करने के लिए मध्यम और निर्धन वर्ग मिल गया। इनके संघर्ष से राज्य में तानाशाहों का उदय हुआ जिसे यूनानी लोग ''टायरेंट'' कहते थे। समय के साथ तानाशाही भी समाप्त हो गई और धनिकों द्वारा संचालित अल्पतंत्र की स्थापना हुई। यूनान की मुख्य भूमि पर दो प्रमुख नगर राज्य स्पार्टा और एथेंस थे।

स्पार्टा का राज्य –

स्पार्टा का राज्य यूनान के अन्य राज्यों से भिन्न था। इसका प्रमुख कारण यहाँ की भौगोलिक स्थिति थी। पर्वत श्रेणियाँ इसे अन्य राज्यों से अलग करती थी। स्पार्टा के निवासियों की रूचि सैन्यवाद और युद्धों में थी। इसलिए सात वर्ष की अवस्था से ही बालकों को कठिन सैन्याभ्यास का प्रशिक्षण दिया जाता था। स्पार्टा के बहुत से निवासी दास थे। अधिकतर काम दास ही करते थे, जिससे स्पार्टा के नागरिक अन्य कार्यों की चिन्ता से मुक्त रहें और अपना समय युद्ध और शासन में लगायें। यहाँ के राजा का मुख्य कार्य सेना का नेतृत्व करना होता था। कुलीन व्यक्तियों की एक परिषद और एक सभा शासन कार्य का निरीक्षण करती थी। वही राज कर्मचारियों का चुनाव और शिक्षा की व्यवस्था करती थी।

स्पार्टा के निवासियों की दास प्रथा ने स्वयं स्पार्टा के नागरिको को ही अन्ततः दास बना दिया। दास सदा विद्रोह करते रहे और सेना उनका दमन करती रही। स्पार्टा का कोई भी निवासी अपनी बैरक से बाहर निहत्था नहीं निकलता था। यहाँ के निवासी बचपन से 60 साल की उम्र तक कठोर अनुशासन में रहते थे। अतः उसे शिक्षा प्राप्त करने एवं गृहस्थ जीवन बिताने का अवसर ही नहीं मिलता था।

एथेंस का राज्य –

एथेंस नगर का विकास स्पार्टा के विकास से पूर्णतया

भिन्न रूप में हुआ। एथेंस का राज्य जिन प्रदेशों पर था उन पर इस राज्य ने धीरे–धीरे शान्ति पूर्ण तरीके से अधिकार किया इसलिए वहाँ सैन्यवाद का विकास नहीं हुआ। एथेंस के पास बडे अच्छे बन्दरगाह और बहुमूल्य खनिज पदार्थ थे। एथेंस के निवासियों ने व्यापार में बहुत उन्नति की जिसके कारण वहाँ नागरिक सभ्यता का विकास हुआ।

सातवीं शती ई. पू. में राजतंत्र के स्थान पर धनिकों के अल्पतंत्र की स्थापना हुई जिससे अधिकतर भूमि किसानों के हाथो से धनिको के हाथो में चली गई। बहुत से किसानों ने पहले भूमि को धरोहर (गिरवी, रहन) के रूप में रखा फिर परिवार के सदस्यों को भी धरोहर के रूप में रख दिया, अंततः वे सभी दास बन गये। एथेंस में कुलीन वर्ग और दास के अतिरिक्त कुछ स्वतंत्र नागरिक भी थे, ये डेमोस कहलाते थे। इसमें किसान, मजदूर, कारीगर और व्यापारी थे। ये लोग अल्प तंत्रीय शासन से असन्तुष्ट थे। इनके संघर्ष के फलस्वरूप 594 ई.पू. में सोलन को नया मजिस्ट्रेट नियुक्त किया। सोलन ने गिरवी प्रथा को समाप्त कर दिया और एथेंस के सभी नागरिकों को दास प्रथा से मुक्त कर दिया तथा यह नियम भी बनाया कि भविष्य में एथेंस का कोई भी निवासी ऋण ना चुका सकने के कारण दास नहीं बनाया जाएगा। उसके सुधारों से निर्धन और मध्यम दोनो वर्ग को लाभ हुआ। न्यायालयों के मुख्य न्यायाधीशों का चुनाव भी नागरिकों के हाथों में आ गया। 469 से 429 ई. पू. में पेरिक्लीज के नेतृत्व में एथेंस का लोकतंत्र उन्नति की चरम सीमा पर पहुँच गया। यहाँ आधुनिक मंत्रीमण्डल के समान शासन चलता था। एथेंस के लोकतंत्र में नागरिकों को राजनीतिक अधिकार और स्वतंत्रता प्राप्त थी। पेरिक्लीज के समय में कुल जनसंख्या का थोडा–सा भाग ही नागरिक वर्ग के अन्तर्गत आता था।

युद्ध और यूनानी लोकतंत्र की समाप्ति –

पाँचवी शती ई. पू. में एथेंस के लोकतंत्र को दो युद्धों में फंसना पड़ा जिसके कारण उसकी महानता समाप्त हो गई। एथेंस को पहला युद्ध शक्तिशाली ईरानी साम्राज्य तथा उसके सम्राट दारा के विरूद्ध लड़ना पड़ा। दारा ने पहले ही सिंधु नदी से लेकर एशिया माइनर तक के प्रदेशों पर अधिकार कर लिया था, और अब उसने इजियन सागर को पार करके विजय हेतु यूनान पर आक्रमण किया। उसकी बड़ी सेना एक जहाजी बेड़े की सहायता से एथेंस के निकट मैराथन नामक स्थान पर जा उतरी। यूनान के इतिहास में पहली बार सारे राज्यों ने मिलकर एक शत्रु के विरूद्ध युद्ध किया। यूनानी सेनाएँ संख्या में बहुत कम थी फिर भी 490 ई. पू. के मैराथन के युद्ध में वे इतनी वीरता से लड़े की ईरानी सेनाओं को पीछे खदेड़ दिया।

एथेंस और स्पार्टा के बीच 431 ई. पू. से 404 ई. पू. तक पेलोपोनीशियन युद्ध हुआ। इस युद्ध के कारण एथेंस का पतन हो गया। ईरानी युद्धों के समय एथेंस ने अन्य यूनानी राज्यों से मिलकर एक संघ बनाया था। उस युद्ध के बाद अपनी स्वार्थपूर्ति के लिए इस संघ की सहायता से अपनी नौ–सेना की शक्ति बहुत बढ़ा ली थी। इससे स्पार्टा के निवासी भयभीत हो गए। सदा से ही स्पार्टा तथा एथेंस के बीच गर्मा–गर्मी चलती थी। इस युद्ध में कुछ राज्यों ने एथेंस तथा कुछ ने स्पार्टा का साथ दिया। इस युद्ध में एथेंस की पराजय हुई। इसी के साथ इस राज्य में लोकतंत्र की समाप्ति हो गई।

सिकन्दर का साम्राज्य –

एथेंस की हार के बाद मकदूनिया के राजा फिलिप ने यूनान के अधिकतर राज्यों पर अधिकार कर लिया। उसके पुत्र सिकन्दर को अपने पिता की बड़ी सेना पैतृक सम्पत्ति के रूप में मिली और 20 वर्ष की अवस्था में सिकन्दर संसार विजय पर निकला। 336 ई. पू. से 323 ई. पू. के 13 वर्षो के समय में उसने यूनानी नगर राज्यों को अपना नेतृत्व स्वीकार करने के लिए विवश कर दिया। इसी के साथ उसने उस समय के सबसे महान और शक्तिशाली ईरानी साम्राज्य पर अधिकार कर लिया। इसके बाद वह भारत की सीमा पर आ गया यहाँ वह 326 ई. पू. में झेलम के तट पर बहादुर राजा पोरस से टकराया लेकिन पोरस की वीरता ने सिकन्दर की सेना के दाँत खट्टे कर दिये।

सिकन्दर की मृत्यु के बाद उसके सेनापतियों ने उसके राज्य को आपस में बाँट लिया। उसके एक सेनापति सेल्यूकस को ईरान, मेसोपोटामिया और सीरिया प्राप्त हुए। बाद में सेल्युकस ने भारत पर आक्रमण किया। लेकिन चन्द्रगुप्त मौर्य ने उसे हरा दिया तथा मौर्य साम्राज्य ने सेल्युकस को संधि के लिए बाध्य किया।

सिकन्दर का एक सेनापति टाल्मी था। वह मिश्र, फिलिस्तीन तथा फिनीशिया का शासक बना। मिश्र की विजय के उपलक्ष्य में सिकन्दर ने सिकंदरिया नगर बसाया था। टाल्मी ने सिंकदरिया में कला, साहित्य तथा शिक्षा की देवी का एक मन्दिर बनवाया। यह म्यूजियम नाम से जाना जाता है। इसमें एक वेधशाला और एक पुस्तकालय था। टाल्मी की मृत्यु के बाद भी यहाँ पर अच्छे काम चलते रहे। रेखागणित का विद्वान यूक्लिड इसी स्थान पर रहता था। भूगोल के विद्वान ऐरिस्टोथीनीज ने पृथ्वी की परिधि का हिसाब यहीं लगाया। आर्कमिडीज के सिद्वान्त का प्रतिपादन भी इसी म्यूजियम में हुआ था।

प्राचीन यूनानियों का योगदान –

यूनान के जिस वैभव को संसार भूल नहीं सकता, वह पेरिक्लीज के समय के नगर–राज्य एथेंस का वैभव था। किन्तु यूनानी सभ्यता चरम पूर्णता को न पा सकी क्योंकि वहाँ जन–जन में असमानता थी। दास ही सारा कार्य करते थे। यदि दास सारा कार्य नहीं करते तो यूनान के नागरिकों को उन नए विचारों के चिंतन का पर्याप्त समय ही नहीं मिलता जिसके कारण वे उच्चस्तरीय जीवन बिता सके।

यूनानी नागरिकों का जीवन बहुत सरल था। पुरूष प्रतिदिन खेलों में भाग लेते थे, व्यायाम करते थे, रात को खाने के साथ शराब और संगीत से अपने को प्रसन्न रखते थे। ये जीवन, सत्य, सौन्दर्य, राजनीति तथा दर्शन जैसे महत्त्वपूर्ण विषयों पर चर्चा करते थे।

लड़कियों की शिक्षा घर में ही होती थी। वे राजनीति में बहुत कम भाग लेती थीं। विवाह तथा देवी देवताओं की उपासना के अवसर पर उत्सव और अवकाश होते थे। इस प्रकार का एक उत्सव, ओंलम्पिक खेल, आज भी विश्व स्तर पर आयोजित होता है। जियस देवता के सम्मान में यह उत्सव हर चौथे वर्ष मनाया जाता था। इसमें भाग लेने के लिए यूनान के कोने कोने से प्रतिभागी व दर्शक आते थे।

यूनानी साहित्य –

यूनानियों ने संसार को कई महाकाव्य, काव्य, नाटक और इतिहास ग्रंथ दिये। इलियड और ओडिसी की गणना संसार के श्रेष्ठ महाकाव्यों में की जाती है। छोटी यूनानी कविताएँ 'लिरिक' कहलाती थी क्योंकि वे लायर नामक वाद्य यंत्र के साथ गाई जाती थी। महान कवयित्री सैफो ने प्रेम और प्रकृति सौन्दर्य पर गीत गाए। लघु गीत लिखने वाले सर्वश्रेष्ठ कवियों में पिण्डार भी था, जिसने विजयी खिलाड़ियों की प्रशंसा में कविताएँ लिखी।

दुखांत और सुखांत दोनों प्रकार के श्रेष्ठ नाटक यूनान में लिखे गए। यूनानी नाट्यशाला के खंडहर आज भी ईजियन सागर के निकट के क्षेत्रों में सब जगह देखे जा सकते हैं। ''प्रोमिथियस बाउंड'' के लेखक एस्काइलस यूनानी दुखान्त नाटकों के संस्थापक थे। यूनानी दुखांत नाटकों के लेखकों में सर्वश्रेष्ठ सोफोक्लीज थी। उसने ओयडियस रेक्स, एण्टिगोन और इलोट्रा नामक नाटक लिखे जिनकी प्रशंसा सारे संसार में होती है। नाटककार यूरिपिडिज ने युद्ध की निंदा की, उसका एक प्रसिद्ध नाटक ''ट्रोजन वीमेन'' है।

यूनान के सुखांत नाटकों का सर्वश्रेष्ठ नाट्यकार एरिस्टोफेनीज था। उसने दर्शकों के सामने व्यंग्य और हास्य से भी यूनानी गणमान्य नागरिकों का मजाक अपने नाटकों में उड़ाया। हेरोडोटस ने, जिन्हें यूनान में इतिहास का जनक भी कहते हैं, यूनान और ईरान के युद्धों का इतिहास लिखने के लिए खूब भ्रमण किया।

यूनानी दर्शन –

अनेक दर्शनों का विकास यूनान में हुआ। एक विचारधारा के प्रतिपादकों ने भौतिक जगत के स्वरूप के विषय में प्रचलित पौराणिक कथाओं और इनके विषय में तर्क संगत विचार प्रकट किया। दूसरी विचारधारा के प्रतिपादकों का विश्वास था कि सभी वस्तुएँ परमाणुओं से बनी हुई हैं और इन परमाणुओं के विन्यास की भिन्नता के कारण इस विश्व में भिन्न–भिन्न प्रकार के जीव पाए जाते हैं। इस शाखा का श्रेष्ठ दार्शनिक डेमोक्रिटस था। आत्मा या आध्यत्मिक जगत का अस्तित्व उसने नहीं माना।

तीसरी विचारधारा के प्रतिपादक 'सोफिस्ट' अर्थात बुद्धिमान कहलाए। इनका विश्वास था कि संसार में कोई परम सत्य नहीं है। वे प्रत्येक तथाकथित सत्य का मूल्यांकन मनुष्यों के ऊपर उसके प्रभाव से करते थे। उनके अनुसार प्रत्येक चींज

का मापदण्ड मनुष्य है।

यूनान के सबसे प्रसिद्ध दार्शनिक सुकरात, प्लेटो, अरस्तु थे। सुकरात का विश्वास था कि ज्ञान सही आचरण और सुख का रास्ता दिखाता है। अज्ञानता से कई बुराइयाँ उत्पन्न होती हैं। उन्होंने एथेंस में प्रचलित विश्वासों की कटु आलोचना की। अतः उन्हें युवकों को पथभ्रष्ट करने तथा नये देवताओं का प्रतिपादन करने के जुर्म में मृत्यु दण्ड दिया गया। वस्तुतः वह युवकों को प्रत्येक बात में सच्चाई जानने की शंका करने को प्रोत्साहित करता था। जिन यूनानियों के हाथ में राजसत्ता थी, वे ऐसे विचारों को स्वीकार करने को तैयार न थे, अतः उन्होने सुकरात को विषपान करने के लिए विवश किया।

सुकरात का प्रमुख शिष्य प्लेटो था। जिसने 'रिपब्लिक' नाम की प्रसिद्ध पुस्तक लिखी। इस पुस्तक में प्लेटो ने ऐसे आदर्श समाज की कल्पना की जिसमें समाज तीन वर्गों में बंटा हो। उसने सबसे निम्नतम वर्ग में किसान, कारीगर और व्यापारी, मध्यम वर्ग में योद्धा तथा उच्चतम वर्ग में बुद्धिजीवी रखे। उसने सारी राजनीतिक शक्ति बुद्धिजीवियों के हाथ में रखी।

यूनान के सर्वश्रेष्ठ दार्शनिकों में एक अरस्तु था। वह उस अकादमी का विद्यार्थी था, जिसकी स्थापना प्लेटो ने की थी। अरस्तु एक दार्शनिक के साथ वैज्ञानिक भी था। उसने अपने समय के सारे विज्ञानों का अध्ययन किया और चिकित्सा शास्त्र, प्राणिशास्त्र और ज्योतिष के क्षेत्रों में महत्वपूर्ण योगदान दिया। वह मध्यम मार्ग में विश्वास रखता था, अर्थात् न तो पूर्णतया भोग विलास के जीवन में और न पूर्णतया विरक्ति में।

दो अन्य महत्वपूर्ण दार्शनिक विचारधाराओं का प्रतिपादन हुआ – स्टोइक एवं एपिक्यूरियन। स्टोइक विचारधारा के दार्शनिक नियतिवादी थे। उनका मत था कि मनुष्य को अपने भाग्य से सन्तुष्ट रहना चाहिए क्योंकि भाग्य बदलना उसकी शक्ति के बाहर है। इन दार्शनिकों के अनुसार सभी मनुष्यों का उद्देश्य चित्त की शान्ति की प्राप्ति होना चाहिए। उनका मत था कि मनुष्य को सुख–दुख और पाप–पुण्य के प्रति उदासीन रहना चाहिए।

एपिक्यूरियन विचारधारा के दार्शनिकों का मत था कि मनुष्य के लिए सबसे बडी भलाई सुख है। उनका विश्वास था कि देवताओं का मानव–कार्यों से कोई सम्बन्ध नहीं है। वे मनुष्यों को सादा, निर्भीक, गुणवान जीवन बिताने का उपदेश देते थे।

विज्ञान –

यूनानियों के लिए विज्ञान और दर्शन में कोई अन्तर नहीं था क्योंकि सभी दार्शनिक भौतिक संसार के स्वरूप को बदलने का प्रयत्न करते थे। हिपोक्रेटीज ने यूनान में आधुनिक चिकित्साशास्त्र की नींव यह कहते हुए रखी कि 'प्रत्येक रोग का कोई ना कोई प्राकृतिक कारण होता है और बिना प्राकृतिक कारणों के कुछ भी नही होता या घटता उसे ''यूनानी चिकित्साशास्त्र का जनक'' कहा जाता है।

सिंकदर की विजयों के पश्चात् यूनान में विज्ञान में बहुत प्रगति हुई। एरिस्टार्कस ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया कि पृथ्वी और अन्य ग्रह सूर्य के चारों और घूमते हैं। फिर भी सोलहवीं शती ई. तक उसके सिद्वान्त को स्वीकार नहीं किया गया और टॉल्मी के इस मत को कि पृथ्वी विश्व के केन्द्र में स्थित है, सभी वैज्ञानिक मानते रहे। एरिस्टोस्थनीज ने पृथ्वी की परिधि का जो हिसाब लगाया वह लगभग ठीक था उसमें केवल 320 कि.मी. की भूल थी। उसने विश्व का सही मानचित्र बनाया। सैकड़ों वर्ष पश्चात् कोलंबस ने उसी के विचारों पर आधारित मानचित्र का प्रयोग किया।

सिकंदरिया चिकित्साशास्त्र के अध्ययन का प्रसिद्ध केन्द्र बन गया। वहाँ चिकित्सों ने मानव–शरीर की चीर–फाड़ का अभ्यास किया और मानव शरीर–रचना का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त किया।

वास्तु कला तथा अन्य कलाएँ –

यूनानी वास्तुकला और मूर्तिकला के श्रेष्ठ उदाहरण उनके मंदिरों में मिलते हैं। यूनानी मंदिरों में एक ऐसा प्रकोष्ठ होता था जिसमें देवता की मूर्ति प्रतिस्थापित की जाती थी। इस प्रकोष्ट के चारों और स्तंम्भ होते थे। इन स्तम्भों की यह शैली यहाँ की वास्तुकला की विशेषता थी। एथीना का मंदिर पार्थेनन यूनानी वास्तुकला का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है।

यूनान के निवासी मानव के सौन्दर्य और साहस का बहुत आदर करते थे। मानव सौन्दर्य को उभारने के लिए उन्होने

सुगठित, स्वस्थ और मांसल शरीरों को पत्थरों में तराशा। प्राचीन यूनान के दो प्रसिद्ध शिल्पी माइरन और फिडियस थे। माइरन की सबसे प्रसिद्ध कृति डिस्कस (तश्तरी) फेंकने वाले की मूर्ति है। फिडियस की सबसे प्रसिद्ध कृति हर्माज की वह मूर्ति है जिसमें उसे शिशु डायोनीसस को लिए हुए दिखाया गया है। प्राचीन यूनानियों की उपलब्धियाँ मानव की सांस्कृतिक विरासत का महत्वपूर्ण अंग हैं। उन्होने विश्व को ''सौन्दर्य'' दिया, और दिया आजादी का एक आदर्श, आजादी विचारों की, मन–मस्तिष्क के अनुसार कहने व लिखने की, किसी भी बात में विश्वास करने या न करने की और जीवन में आनन्द का अनुभव करने की।

रोम की सभ्यता

रोम की सभ्यता का मुख्य केन्द्र इटली था। इटली ने यूनान और रोम की संस्कृतियों को मिलाने की एक कड़ी का कार्य किया। यूनानी तथा उसके भी पूर्व की पश्चिमी एशिया की सभ्यताओं के विचार इटली होकर ही यूरोप पहुँचते थे।

इटली के सर्वप्रथम निवासी –

इटली के सर्वप्रथम निवासी उत्तरी अफ्रीका, स्पेन और फ्रांस से आकर यहाँ बसे थे। 200 ई. पू. के कुछ बाद भारत–यूरोपीय (भारोपीय) भाषाओं को बोलने वाले कुछ मनुष्य आल्प्स पर्वतों को पार करके यहाँ आकर बसने लगे। एट्रस्कन नामक जाति के लोग भी इटली के एक भाग में बस गये। इटली के निवासी इन्हीं सब जातियों के वंशज थे। रोम की सभ्यता के विकास का आरम्भ लगभग छठी शती ई. पू. में हुआ और जब यूनानी सभ्यता का पतन हो गया तो यह सभ्यता उन्नति के शिखर पर पहुँच गई।

रोम का आरम्भिक इतिहास –

रोम नगर की स्थापना टाइबर नदी के दक्षिण में लैटियम नाम के जिले में लगभग 1000 ई. पूर्व में हुई। लैटियम नामक स्थान के कारण ही प्राचीन रोम के निवासियों की भाषा का लैटिन नामकरण हुआ। प्राचीन रोम में एक राजा, एक सभा और एक सीनेट होती थी। सबसे अधिक शक्ति सीनेट के हाथ में थी। वह राजा और सभा के प्रस्तावों को अस्वीकार कर सकती थी।

छठी शती ई. पू. के अन्त में राजा का पद समाप्त कर दिया गया और गणतन्त्र की स्थापना हुई। रोम का समाज दो वर्गों में बंटा था – पैट्रिशियन और प्लीबियन। पैट्रिशियन उच्च वर्ग माना जाता था। जिसमें धनी लोग और जमींदार सम्मिलित थे। उनके हाथ में सीनेट की पूरी शक्ति थी। प्लीबियन वर्ग में मजदूर, छोटे किसान, कारीगर, छोटे व्यापारी और योद्धा सम्मिलित थे। 459 ई. पू. में कानूनों की संहिता तैयार की गई। इन कानूनों को लकड़ी की तख्तियों पर लिखा गया। वे बारह तख्तियों के कानून कहलाते थे। इससे अधिकतर व्यक्तियों को अपने कानूनी अधिकारों की जानकारी हो गई और सरकारी कर्मचारियों के लिए कानून का उल्लंघन करना कठिन हो गया।

कार्थेज से युद्ध –

सम्पूर्ण इटली पर गणतंत्रीय प्रमुख के पश्चात् रोम वालों की नए प्रदेशों पर अधिकार करने की लालसा बढ़ी। इसी कारण उन्हें अफ्रीका के उत्तरी तट पर स्थित कार्थेज नगर के निवासियों से कई युद्ध करने पड़े। कार्थेज की स्थापना नवी शती ई. पू. में फिबीशिया के निवासियों ने की थी। किन्तु बाद में वह स्वतंत्र हो गया था। सिसिली की भूमि के सम्बंध में रोम और कार्थेज में वैमनस्य हो गया जिसके कारण दोनो में युद्ध हुआ। रोम निवासियों को यह भय था कि कार्थेज निवासी सिसिली पर अधिकार कर लेंगे, इसलिए उन्होने कार्थेज पर आक्रमण कर दिया। इस आक्रमण की कड़ी में 264 से 146 ई. पू. तक चलने वाले युद्ध प्यूनिक युद्ध कहलाते हैं। कार्थेज के लोग अपने सेनापति हैन्नीवाल के नेतृत्व में वीरता से लड़े किन्तु अंत में उनकी पराजय हुई और रोम के निवासियों ने कार्थेज के नगर में आग लगा दी और वहाँ के हजारों निवासियों को दास बनाकर बेच दिया। पहली शती ई. पू. के आरम्भ तक रोम निवासियों ने यूनान और एशिया माइनर पर अधिकार कर लिया और मिश्र को भी अपने संरक्षण में ले लिया।

जूलियस सीजर –

निरन्तर लड़े जाने वाले युद्धो के परिणामस्वरूप रोम का कुलीन वर्ग अधिक से अधिक धनी तथा सम्पन्न बनता चला गया और सर्वसाधारण की स्थिति दयनीय होती गयी। इसका मुख्य कारण रोमन शासन प्रणाली में निहित दोष थे। अतः

जनता ने सुधारों की मांग को लेकर आन्दोलन छेड़ दिया। सेनापति मेरियस ने जनता का पक्ष लिया। परन्तु रोम की सरकार ने सेनापति सुला की सहायता से मेरियस को पराजित करके विद्रोह को कुचल दिया। अब सुला स्वयं तानाशाह की भांति शासन करने लगा। सुला की मृत्यु के बाद, रोम के तीन प्रमुख सेनानायकों पाम्पी, क्रेसस और सीजर ने मिलकर ''ट्राइम विरेट'' की स्थापना की और शासन चलाने लगे। कुछ दिन बाद क्रेसस की मृत्यु हो गई। सीजर युवावस्था से ही महत्वाकांक्षी था। वह हर एक व्यक्ति से घनिष्ठता पूर्वक हाथ मिलाकर बात करता था। लोगों के लिए 'रोटी और खेल तमाशों' पर धन–व्यय करके और वोटों के लिए पैसा देकर वह जनता में बहुत लोकप्रिय हो गया। उसे राजनीतिक शक्तियाँ तो पहले से ही प्राप्त थी परन्तु अब उसने अपनी एक निजी सेना की आवश्यकता का अनुभव किया। अतः उसने गॉल प्रान्त (सम्पूर्ण फ्रांस) की सूबेदारी प्राप्त कर ली। इस पद पर काम करते हुए उसने अपनी निजी सेना का संगठन किया और आठ वर्षों के निरन्तर संघर्ष में गॉल जाति को पराजित करके सम्पूर्ण जर्मनी, इग्लैंड आदि देशों पर रोम का शासन स्थापित किया। जैसे–जैसे सीजर की सफलताओं की सूचना रोम पहुँचने लगी वैसे–वैसे रोम में उसकी लोकप्रियता बढ़ती गयी परन्तु यह बात रोम के सीनेट को पसन्द नहीं आई। सीनेट ने सीजर को आदेश भेजा की वह अपनी सेना को भंग करके रोम लौट आए। सीजर लौट तो आया, परन्तु अपनी सेना सहित। उसने सीनेट की आज्ञा का उल्लंघन किया और उसके मुँह से यह प्रसिद्ध वाक्य निकला था– ''दि डाई इज कास्ट'' (पासा फेंका जा चुका है)। अब सीजर रोमन साम्राज्य का बिना ताज का सम्राट बन गया। रोम की सीनेट ने भी उसको अधिनायक स्वीकार कर लिया। रोम का अधिनायक बनने के बाद सीजर ने सारे विरोधियों का दमन करके शान्ति एवं व्यवस्था की स्थापना की। 144 ई.पू. में सीनेट ने उसको स्थायी रूप से अधिनायक बना दिया। उसे सेन्सर, कौन्सल तथा ट्रिब्यून के अधिकार सौंप दिये और उसे पौन्टीफैम्स, मैम्सीमर्स, इम्पेरेटर आदि की उपाधियाँ प्रदान की गई। उसके नाम के सिक्के ढाले गये और उसे तीन बार राजमुकुट भी पेश किया गया। परन्तु सीजर ने उसे धारण करना अस्वीकार कर दिया क्योंकि वह रोमन परम्पराओं और जनतांत्रिक संस्थाओं का अन्त करने के पक्ष में नहीं था। उसने अपना सारा ध्यान सुधार और संगठन की तरफ केन्द्रित किया। सूबों के लगान तथा अन्य करों में कमी की गई और राजस्व वसूली की ठेकेदारी प्रथा को समाप्त करके यह काम सरकारी संस्थाओं को सौंपा गया। सीजर ने अपने अल्पशासन काल में महत्वपूर्ण सुधार किये परन्तु उसके विरोधियों को उसकी सफलतायें बैचेन करने लगी। पॉम्पी के अनुयायियों – केसियस और ब्रूटस ने 15 मार्च 44 ई.पू. के दिन सीजर की हत्या कर दी।

जूलियस सीजर एक बहुमुखी प्रतिभा–सम्पन्न व्यक्ति था। सैनिक, प्रशासक, विधायक, राजनीतिज्ञ और साहित्यकार सभी दृष्टियों से वह उत्कृष्ट था। मोनसन ने लिखा है कि ''उसकी संगठन शक्ति अद्‌भुत थी। वह राजा था परन्तु राजाओं जैसा व्यवहार कदापि नहीं किया।'' वास्तव में वह अपने युग का विशिष्ट व्यक्ति था। उसके द्वारा संशोधित पंचांग (कैलेण्डर) जिसे ''जूलियनी पंचांग'' कहा जाता है, आधुनिक समय तक चलता आ रहा है।

ट्राइमविरेट –

जूलियस सीजर की हत्या के परिणाम स्वरूप रोम में उसके समर्थकों तथा विरोधियों में नवीन संघर्ष उत्पन्न हो गया और रोम में गृह–युद्ध की आशंका बढ़ गई। चारों ओर अव्यवस्था पैदा हो गई। ऐसी स्थिति में रोम में दूसरा 'ट्राइमविरेट' स्थापित किया गया जिसके सदस्य थे, आम्टेवियन, जो सीजर का दत्तक पुत्र था, मार्क एन्टोनी जो आम्टेवियन का बहनोई भी था और लेपीडस जो सीजर का अनुयायी था। इस त्रिगुट के सामने पहला काम था सीजर के हत्यारों को सजा देना। सीजर के हत्यारे केसियस और ब्रूटस अपनी सेनाओं के साथ मेसीडोनिया की तरफ चले गये थे। रोम की सेना ने उसका पीछा किया और 42 ई. पू. में फिलिपी के युद्ध में केसियस और ब्रूटस को बुरी तरह परास्त होना पड़ा। प्रतिशोधात्मक यन्त्रणा की कल्पना से घबराकर उन दोनों ने आत्महत्या कर ली। इसके बाद ट्राइमविरेट ने उन हजारों लोगों को बड़ी निर्ममता के साथ लूटा और मारा, जिनके बारे में यह संदेह था कि सीजर की हत्या से उनका कुछ भी सम्बन्ध था।

एन्थेनी की पराजय –

सीजर के विरोधियों का सफाया करने के बाद

ट्राइमविरेट के सदस्यों में सत्ता प्राप्ति के लिए आन्तरिक संघर्ष शुरू हो गया। लेपीडस इस संघर्ष से शीघ्र ही हट गया और शेष दोनों सदस्यों ने रोमन साम्राज्य को आपस में बाँट लिया। रोम सहित पश्चिमी देशों का शासन आक्टेवियन को मिला और मिश्र सहित पूर्वी देशों का शासन मार्क एन्टोनी को मिला। आम्टेवियन अत्यधिक महत्वाकांक्षी व्यक्ति था। वह सीजर के पद चिन्हों पर चलना चाहता था। मार्क एन्टोनी मिश्र की खूबसूरत रानी क्लोपेट्रा से प्रेम करने लगा और उसने आम्टेवियन की बहिन तथा अपनी प्रथम पत्नी को तलाक दे दिया, जिससे दोनों पक्षों में तनाव बढ़ता गया, जिसका निर्णय 31 ई. पू. में ऐक्टियम के नौ युद्ध में हुआ। इस युद्ध में आम्टेवियन की विजय हुई। पराजित एन्टोनी और क्लोपेट्रा ने आत्महत्या कर ली। इसके बाद गृह युद्ध का अन्त हो गया और आम्टेवियन भूमध्य सागरीय देशों का एकमात्र स्वामी बन गया।

साम्राज्यवादी युग की शुरूआत –

ऐक्टियम युद्ध में सफलता प्राप्त करके आम्टेवियन रोम आया तो उसका भव्य स्वागत किया गया। उसने सीजर की उपाधि धारण की और ''प्रिन्सेप'' और 'इम्परेटर' की उपाधियाँ भी जोड़ ली। शक्तिहीन सीनेट ने उसे ''आगस्टस'' (सौभाग्यशाली) की उपाधि से विभूषित किया। भविष्य में वह आगस्टस सीजर के नाम से विख्यात हुआ। आगस्टस ने 31 ई. पू. से 14 ई. तक शासन किया। इन काल में पूर्ण शान्ति रही और यहीं से 'पैक्रोमाना' (रोमन शान्ति) की गिनती शुरू की जाती है।

प्रशासनिक सुधार –

ऑगस्टस रोमन साम्राज्य की शान्ति और समृद्धि के लिए सीजर के कार्यक्रम को पूरा करना चाहता था। उसने अपनी सैनिक शक्ति का उपयोग साम्राज्य विस्तार के लिए नहीं अपितु साम्राज्य की सुरक्षा तक ही सीमित रखा। इसलिए उसने 'जैनस' के देवालय के द्वार भी बन्द करवा दिए। इस मन्दिर के द्वार केवल शान्तिकाल में ही बन्द करने की प्रथा थी। सीजर की भांति ऑगस्टस ने भी सूबों को नागरिकता के सभी अधिकार एवं सुविधाएँ प्रदान की ताकि वे लोग अपने आपको रोमन साम्राज्य के नागरिक अनुभव कर सकें। उसके इस व्यवहार से लोग उसे निःस्वार्थ, निर्लोभ एवं कर्तव्य परायण समझने लगे। उसने असेम्बली अथवा जनसभा में भी सुधार किया। उपद्रवी राजनीतिक दलों और उनकी संस्थाओं को बन्द कर दिया। सभा में व्याप्त भ्रष्टाचार का उन्मूलन किया गया। विरोधी और जिद्दी सदस्यों को हटा दिया गया। इस प्रकार असेम्बली पर भी उसका नियंत्रण स्थापित हो गया।

ऑगस्टस ने प्रान्तीय शासन व्यवस्था की तरफ भी पूरा–पूरा ध्यान दिया। उसने प्रान्तों में सत्यनिष्ठ सूबेदार नियुक्त किये। कर व्यवस्था में सुधार किया गया। ऑगस्टस रोमन जाति की शुद्धता और रक्त रक्षा का प्रबल समर्थक था। 41 वर्ष तक शासन करने के बाद वह परलोकगामी हुआ। उसके शासन काल में जो शान्ति व्यवस्था रही, संस्कृति के विभिन्न क्षेत्रों में जो उन्नति हुई, उसके आधार पर उसके शासनकाल को 'स्वर्ण युग' के नाम से पुकारा जाता है।

मूल्यांकन –

रोम साम्राज्य की स्थापना में ऑगस्टस की भूमिका अत्यधिक महत्वपूर्ण रही थी। वास्तव में, उसके शासनकाल से ही साम्राज्यवादी रोम का इतिहास शुरू होता है। उसने साम्राज्य–विस्तार के स्थान पर साम्राज्य को संगठित एवं सुदृढ़ बनाने की तरफ विशेष ध्यान दिया। उसने यातायात के मार्गों को उन्नत बनाकर तथा रोम को सभी प्रमुख मार्गों से जोड़कर उसे यूरोप का केन्द्र बना दिया। शिक्षा, साहित्य एवं कला को प्रोत्साहन दिया। सामाजिक एवं धार्मिक जीवन में व्याप्त बुराईयों को दूर करने के अथक प्रयत्न किये गये। वह गर्व के साथ कहा करता था कि जब उसे रोम मिला तब वह ईंटों का नगर था और जब उसने रोम को छोड़ा तब वह संगमरमर का नगर बन चुका था। अतः इसमें कोई सन्देह नहीं है कि वह मेधावी, व्यवहार कुशल और कार्यक्षम शासक था।

ऑगस्टस के उत्तराधिकारी –

ऑगस्टस के उपरान्त उसके चार वंशजों – टिबेरियस, कैलिगुला, क्लाडिअस और नीरो ने रोमन साम्राज्य पर निरंकुशतापूर्वक शासन किया। अन्तिम सम्राट नीरो ने संगीत, कला और साहित्य को प्रोत्साहन दिया और भवनों का निर्माण कराया। परन्तु नीरो वह व्यक्ति था जिसने अपनी माता, भाई, दो पत्नियों तथा अपने गुरू की हत्या की थी। जिस पर

रोम को स्वाहा (जलाने) करने का दोष भी लगाया जाता है। कहावत है ''जब रोम जल रहा था, नीरो बंशी बजा रहा था।'' नीरो ने 68 ई. में आत्महत्या कर ली थी। उसकी मृत्यु के बाद वैस्पासियन सम्राट बना। 108 ई. तक 6 अच्छे सम्राटों का शासन रहा। इसके बाद रोमन साम्राज्य की एकता खण्डित होने लग गई। अन्त में कॉन्सटेन्टाइन रोमन साम्राज्य का एक मात्र सम्राट बनने में सफल रहा।

कॉन्सटेन्टाइन (324–337 ई.) –

कॉन्सटेन्टाइन सदाचारी, संयमी, विवेकशील, कार्यकुशल और उदार विचारों का व्यक्ति था। उसने रोमन साम्राज्य के लिए एक नई विशाल राजधानी का निर्माण करवाया। और अपने नाम पर उसका नाम कॉन्सटेंटिनोपल (कुस्तुनतुनिया) रखा। राजनीतिक एवं प्रशासनिक केन्द्र हो जाने से उसका महत्व बढ़ता ही गया। उसने ईसाईयों के दो मुख्य सम्प्रदायों को मिलाकर मजहबी एकता स्थापित करने का प्रयत्न किया, परन्तु इसमें उसे विशेष सफलता नहीं मिली। एशियाई देशों के ठाट–बाट और रीति–रिवाजों का उस पर प्रभाव पड़ा। वह अपने को ईश्वर का प्रतिनिधि समझने लगा और अपने ऐश्वर्य और शान–शौकत पर इतना अधिक धन व्यय किया कि उसका राजकोष रिक्त हो गया।

कॉन्सटेन्टाइन को एक तरफ तो फारस के शासकों से और दूसरी तरफ मध्य एशिया के हूणों से हर समय चौकन्ना रहना पड़ा। हूण लोग रोमन साम्राज्य की पूर्व–यूरोपीयन सीमाओं पर छा गये। ऐसी स्थिति में 337 ई. में कॉन्सटेन्टाइन की मृत्यु हो गई। उसकी मृत्यु के बाद भयंकर उत्तराधिकार युद्ध लड़ा गया। उधर 500 ई. तक बर्बर जर्मन कबीले रोम को जीत चुके थे। रोमन साम्राज्य का पतन हो गया। परन्तु कॉन्सटेन्टाइन द्वारा निर्मित कुस्तुनतुनिया का अस्तित्व कायम रहा और इसे राजधानी बनाकर 'पूर्वी रोमन साम्राज्य' नये नाम के साथ आने वाली कुछ शताब्दियों तक रोमन साम्राज्य की याद दिलाता रहा।

रोम के निवासियों का जीवन व उनकी संस्कृति –

रोम के प्रारम्भिक निवासी अधिकतर कृषि करते, भेड़ व गाय–बैल पालते अपने कपड़े सन और ऊन से स्वयं बनाते, और मिट्टी या लकड़ी के बर्तन काम में लाते थे। प्रत्येक परिवार चूल्हे की देवी–वेस्ता की पूजा करता था क्योंकि रोम निवासियों का विश्वास था कि वह घर की रक्षा करती है। परिवार में यद्यपि पिता और पति का सर्वोच्च अधिकार था, फिर भी रोम के निवासी अपनी स्त्रियों का आदर करते थे। रोम के निवासी भी उतने ही देवी–देवताओं की पूजा करते थे जितने की यूनान के निवासी। जुपिटर उनकी फसलों के लिए वर्षा करता, मार्स युद्ध में उनकी सहायता करता, जूनो उनकी स्त्रियों की रक्षा करता और मर्करी उनके संदेश ले जाता था।

संसार के बड़े भाग पर अधिकार करने के पश्चात् रोम के निवासियों के जीवन में महत्वपूर्ण परिवर्तन हो गए। रोम का समाज इस समय चार वर्गों में बंटा था। अभिजात वर्ग के पास बड़ी–बड़ी जमींदारियाँ थी, तथा वे उच्च पदों पर नियुक्त किए जाते थे। दूसरे वर्ग में धनी व्यापारी और साहूकार थे। तीसरे वर्ग प्लीबियन में छोटे स्वतंत्र किसान और शहरों के निवासी थे जिनमें से बहुतों के पास कोई काम न था। चौथा वर्ग दासों का था जो सही मायनो में सारा काम करते थे।

कालांतर में मध्यवर्गीय निवासी कामचोर हो गए, श्रम से घृणा करने लगे और श्रम को दासो का ही कार्य समझने लगे तथा जीवन निर्वाह के लिए राज्य से आर्थिक सहायता मांगने लगे। जूलियस सीजर के शासन संभालने के समय रोम के लगभग 320000 निवासियों का भरण–पोषण राज्य किया करता था।

दासों का जीवन बहुत कठिन था। कितने ही घंटे कार्य करने के पश्चात् उन्हें कोठरियों में बंद रखा जाता था। हालांकि कुछ दासों का जीवन बेहतर स्थिति में था। कुछ दास अपने मालिक से भी अधिक शिक्षित तथा विद्वान थे।

उच्च वर्ग के अभिजात व्यक्ति और धनी व्यापारी महलों में रहते थे और अधिकतर समय भोग–विलास, हमामों तथा मनोविनोद में बिताते थे। नगरों की जनता ग्लेडिएटरों (तलवारबाजों) की प्रतियोगिताओं और रथों की दौड़ो को देखने जाती थी। ग्लेडिएटर की प्रतियोगिताओं और रथों की दौड़ों–दोनों में बहुत रक्तपात होता था।

रोम के निवासियों की देन –

रोम के शासको ने मिश्र, बेबीलोन, यूनान, पश्चिमी यूरोप और उत्तरी अमरीका पर अधिकार कर लिया था। इस प्रकार रोम तथा पश्चिमी संसार के निवासी पूर्व की सभ्यताओं

के सम्पर्क में आए तथा प्राप्त विचारों के प्रसार में योगदान दिया।

कानून और सरकार –

संसार को रोम की सबसे बड़ी देन कानून और सरकार है। रोम में इसका प्रारम्भ बारह तख्तियों के कानूनों से हुआ। कालांतर में रोम के कानून का विकास तीन शाखाओं में हुआ– दीवानी कानून, जिसका प्रयोग रोम के नागरिकों के मुकदमों में किया जाता था। जनसाधारण का कानून, जिसका प्रयोग साम्राज्य की समस्त जनता के साथ किया जाता था और प्राकृतिक कानून, जिसका सम्बन्ध अधिकतर न्याय तथा कानून के दर्शन से था। अनेक यूरोपीय व अन्य देश अपने–अपने देशों की कानून प्रणाली का विकास करने के लिए रोम के विचारों के ऋणी हैं।

रोम के शासक अधिकतर अपने कानून और शासन–प्रणाली के कारण ही अपने इतने बड़े विस्तृत साम्राज्य में केन्द्र शासित सुव्यवस्था स्थापित कर सके जबकि यूनानी ऐसा करने में समर्थ नहीं हो सके। कानूनों के कारण यात्रा और व्यापार को प्रोत्साहन मिला। भारत और चीन तक व्यापारिक वस्तुओं का विनिमय होने लगा। दक्षिण भारत में चेन्नै के निकट एरिकमेडु नामक स्थान रोम के व्यापार की चौकी था। साम्राज्य के सभी भागों को जोड़ने वाली रोम की सड़कों की व्यवस्था इतनी अच्छी थी कि यह अंग्रेजी कहावत चल पड़ी कि 'सभी सड़कें रोम को जाती हैं।' रोम के निवासियों ने गणतंत्र की भावना का विकास किया था। लेकिन यहाँ के शासक विजित जनता को दास बना लेते थे जिससे वहाँ वास्तविक लोकतंत्र का विकास नहीं हो पाया।

भाषा, दर्शन तथा साहित्य –

रोम के निवासियों ने यूनानियों से जो वर्णमाला सीखी थी उसके आधार पर उन्होंने अपनी वर्णमाला का विकास किया और लैटिन भाषा पश्चिमी यूरोप में सभी शिक्षित व्यक्तियों की भाषा बन गई। विज्ञान में अब भी लैटिन भाषा के बहुत से शब्द प्रयोग में लाए जाते हैं। कई यूरोपीय भाषाएँ – फ्रांसीसी, स्पैनिश, इतालवी का आधार लैटिन ही है।

रोम निवासियों ने यूनानी दर्शन को भी ग्रहण किया। एपीक्यूरियन और स्टोइक दर्शन रोम में बहुत लोकप्रिय थे। ल्यूक्रीटियस जिसने ''ऑन दि नेचर ऑफ थिंग्स'' (वस्तुओं के स्वरूप पर) नाम की कविता लिखी, वह आत्मा के अस्तित्व में विश्वास नहीं रखता था, किन्तु शान्ति और पवित्र हृदय का समर्थक था, भोगविलास का नहीं। सिसरो एक प्रसिद्ध वक्ता था। वह स्टोइक दर्शन के अनुयायियों की भाँति चित्त की शांति को सर्वश्रेष्ठ भलाई समझता था। उसकी सबसे बड़ी देन राजनीतिक तथा प्राकृतिक नियम की उसकी संकल्पना थी। सिसरो के अनुसार प्राकृतिक नियम वह कानून था जिसको तर्क द्वारा ज्ञात किया जा सके और जिसके द्वारा सभी मनुष्यों के प्राकृतिक अधिकारों की रक्षा की जा सके। सीनेट में दिये उनके भाषण की अच्छी शैली का आज भी अनुकरण होता है। मार्कस ऑरीलियस भी स्टोइक दर्शन को मानने वाला था उसने मेडिटेशन नाम की पुस्तक लिखी थी। उसने जीवन किस प्रकार बिताना चाहिए उस पर अपने विचार इस पुस्तक में व्यक्त किये। उसका मत था कि जीवन का उद्देश्य सुख नहीं अपितु चित्त की स्थिरता है, वह उन सब बातों पर आचरण करता था जिसका वह उपदेश देता था। यद्यपि उसकी शक्तियाँ अपार थी फिर भी वह कभी भोग–विलास का जीवन नहीं बिताता था। स्टोइक दर्शन को मानने वाला एक अन्य विद्वान सेनेका था।

रोम की सभ्यता में साहित्य का भी विकास हुआ और कविता के क्षेत्र में पर्याप्त उन्नति हुई। होरेश की कविता में एपीक्यूरियन और स्टोइक विचारधारा का समन्वित दार्शनिक रूप मिलता है।

वर्जील भी एक महान् कवि था। उसकी 'ईनीड' नाम की रचना बहुत प्रसिद्ध है। इसकी शैली यूनानी महाकाव्यों इलियड व ओडिसी जैसी है। ईनीड में ट्रॉय के इनीस नामक पौराणिक वीर नायक के देश–विदेश में घूमने और उसके साहसपूर्ण कार्यों का वर्णन है।

रोम का सबसे प्रसिद्ध इतिहासकार टैसिटस था। उसने अपनी प्रसिद्ध पुस्तकों 'एनल्स' और 'हिस्ट्रीज' में अपने समय की अराजकता और भ्रष्टाचार का वर्णन किया है।

वास्तु कला तथा अन्य कलाएँ –

रोम के निवासी कुशल निर्माता थे। उन्होंने सबसे पहले कांक्रीट (रोड़ी) का प्रयोग आरम्भ किया और वे ईंटों और पत्थरों के टुकड़ों को मजबूती से जोड़ सकते थे। उन्होंने वास्तुकला में डाट और गुम्बद बनाकर दो महत्वपूर्ण सुधार

किए। रोम में भवनों की दो–तीन मंजिलें होती थी। और इनमें डाटें गोल होती थी। ये डाट नगर के द्वारों, पुलों, बड़े भवनों और विजय स्मारकों के बनाने में काम में लाई जाती थी। डाटों का प्रयोग कोलोजियम बनाने में भी किया जाता था।

गुम्बद औंधे कटोरे के समान भवन की छत होती थी। इस प्रकार का गुम्बद रोम के प्रसिद्ध मन्दिर पेनपियन में देखा जा सकता है।

रोम की अभियांत्रिकी कला के श्रेष्ठ उदाहरण उसकी जलव्यवस्था, स्नानागार और सड़कें हैं। रोम तथा अन्य नगरों के निवासियों को पानी देने के लिए पानी के पाईप लगाए जाते थे। इन पाइपों में से कुछ तो 70 किलोमीटर तक लम्बे थे।

रोम निवासियों ने यूनानियों की मूर्तियों के अनुरूप अपनी मूर्तिकला का विकास किया किन्तु उनमें एक अन्तर भी था। यूनानी लोग अपने आदर्शों को व्यक्त करने के लिए मूर्तियाँ बनाते थे, किन्तु रोम के निवासी इस कला का उपयोग मनुष्य को यथावत मूर्त करने के लिए करते थे। रोम के निवासियों ने भित्तिचित्रों को बनाने की कला का भी विकास किया जिसके द्वारा पूरी की पूरी दीवार चित्रित की जाती थी।

विज्ञान –

लोक–सेवाओं में रोम ने पहल की। उन्होने ही सबसे पहले निर्धन रोगियों को मुफ्त औषधि देने का प्रबन्ध किया। रोमनिवासियों की दूसरी देन थी उनका पंचांग (कैलेण्डर) जो थोड़े परिवर्तित रूप में आज समस्त देशों में चलाया जाता है। किन्तु पंचांग में उनकी मौलिक देन कुछ नहीं थी क्योंकि आधारभूत सिद्धान्तों का प्रतिपादन भारत, चीन और मिश्र पहले ही कर चुके थे।

आधुनिक पाश्चात्य पंचांग में कुछ महीनों के नाम सीजर लोगों के नामों से लिए गए हैं। जुलियस सीजर से जुलाई आगस्टस सीजर से अगस्त तथा सितम्बर, अक्टूबर, नवम्बर और दिसम्बर का नाम लैटिन भाषा के उन शब्दों से है जिनका अर्थ सातवाँ, आठवाँ, नौवा और दसवाँ होता है। ये नाम तब सार्थक थे जब रोम का नया वर्ष मार्च से आरम्भ होता था।

रोम सभ्यता का पतन –

रोम सभ्यता के पतन के सभी कारणों का सम्बन्ध साम्राज्यवाद से है। साम्राज्यवाद के कारण लोकतंत्र की समाप्ति हुई, और दासता को प्रोत्साहन मिला। नगरों में जनसमुदाय आलसी हो गया। राजनीतिक संघर्ष हुए और भ्रष्टाचार फैला। दासों पर सभी कार्यों और उत्पादन की जिम्मेदारी होने से उद्योगों व कृषि की उन्नति नहीं हो सकी और दासों के लगातार विद्रोह भी होते रहे।

रोम में ईसाई मजहब फैलने से दासों पर आधारित इस साम्राज्य की शक्ति कुछ कम हो गई। ईसाई मजहब ने पीड़ित वर्ग को बहुत आकर्षित किया। इस मजहब के प्रति आस्थावान व्यक्ति सम्राटों के अत्याचारों को सहन करने और अपनी बलि देने तक को तैयार हो गए। कॉन्सेण्टाइन पहला सम्राट था, जिसने चौथी शती ई. में ईसाईयों को गिरजाघर बनाने और खुले तौर पर पूजा करने का अधिकार दे दिया। रोम के साम्राज्य पर अन्तिम प्रहार उत्तर के हमलावरों ने किया। वे लोग जर्मन कबीलों से थे। पहले वे सीमाओं पर हमले करते रहे इसके बाद वे रोम नगर पर हमला करने लगे। अंततः 476 ई. में बैंडल लोगों के एक आक्रमण ने पश्चिमी साम्राज्य के सम्राट को उखाड फेंका और उनका सरदार रोम का राजा बन बैठा।

अभ्यासार्थ प्रश्न

अतिलघुत्तरात्मक प्रश्न –

1. 'कुल चिन्ह' किसे कहते हैं ?
2. 'स्फिग्स' किसे कहते हैं ?
3. 'ममी' क्या हैं ?
4. 'बेबीलोन सभ्यता' के प्रमुख देवी–देवताओं के नाम लिखिये।
5. प्राचीन चीन के मुख्य धर्म कौन से हैं ?
6. राजस्थान में सिंधु घाटी सभ्यता का कौन सा पुरास्थल है?
7. सिंधु घाटी लिपि की विशेषता लिखिये।
8. लिरिक किसे कहते हैं ?
9. ओलंपिक खेल कहाँ एवं क्यों होते थे ?
10. रोम व्यापार की चौकी भारत में कहाँ स्थित थी?

लघुत्तरात्मक प्रश्न –

1. नवपाषाण युग की प्रमुख विशेषताएँ लिखिये।

2. प्राचीन मिश्र की सभ्यता में स्त्रियों की दशा का वर्णन कीजिये?
3. बेबीलोन सभ्यता की विश्व को प्रमुख देन क्या है ?
4. प्राचीन चीन की सभ्यता में लोक सेवा आयोग के क्या कार्य थे?
5. प्राचीन चीन की सभ्यता के प्रमुख आविष्कारों का वर्णन कीजिये।
6. सिंधु घाटी सभ्यता की जल निकास प्रणाली का वर्णन कीजिये।
7. एथेंस में सोलन के प्रमुख सुधारों का वर्णन कीजिए।
8. स्पार्टा के निवासियों की रूचियों का वर्णन कीजिये।
9. रोमन सभ्यता में दासों की भूमिका का वर्णन कीजिये।
10. जूलियस सीजर के प्रमुख कार्यों का उल्लेख कीजिये।

निबन्धात्मक –

1. प्राचीन मिश्र के राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक जीवन की विवेचना कीजिये।
2. प्राचीन चीन की सभ्यता में लाओत्से एवं कन्फ्यूसियस के विचारों का वर्णन कीजिए।
3. सिंधु घाटी सभ्यता की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
4. प्राचीन यूनान के साहित्य, दर्शन, कला एवं ज्ञान–विज्ञान के क्षेत्र में हुई प्रगति की विवेचना कीजिए।
5. आगस्टस के शासन काल को रोम इतिहास का स्वर्ण युग क्यों कहा जाता है? विवेचना कीजिए।

इकाई–2

विश्व के प्रमुख धर्म

वैदिक धर्म

वैदिक धर्म को श्रोत धर्म, आर्ष धर्म या सनातन धर्म भी कहते हैं। इसके अनुयायी आर्य या हिन्दू कहलाते है। आर्य का अर्थ श्रेष्ठ या उत्तम आचरण है। योग वासिष्ठ में लिखा है – 'जो कर्त्तव्यों का आचरण एवं अकरणीय का निषेध रखते हुए अपने स्वाभाविक चरित्र में निष्ठा रखता है, वह आर्य है। वैदिक धर्म संसार में प्राचीनतम है।

वेद शब्द का अर्थ–

वेद शब्द 'विद्' धातु से बना है, जिसका अर्थ होता है ज्ञान अर्थात् जिससे सब सत्य विद्याओं का ज्ञान होता है।

वेदों की उत्पत्ति–

हिन्दू परम्परा में वेदों को नित्य और अपौरूषेय माना जाता है अर्थात वैदिक ज्ञान अनादि है, अनन्त है अतः ये नित्य हैं। वेद किसी व्यक्ति की रचना नहीं हैं, अतः अपौरुषेय हैं।

ऋषि मंत्रदृष्टा –

वेद अपौरुषेय हैं किंतु सृष्टि के प्रारम्भ में, जिन ऋषियों ने ध्यानावस्था में योगबल से इन मंत्रों का प्रथम दर्शन या साक्षात्कार किया, उन्हें 'ऋषि' कहा जाता है। वेदों के मंत्र दृष्टाओं की संख्या लगभग 300 है। वसिष्ठ, विश्वामित्र, अत्रि, अंगिरा, गौतम, शुनः शेप, वामदेव, आदि पुरुष तो श्रद्धा, रोमशा, लोपामुद्रा, विश्ववारा, अपाला, घोषा, सूर्या, यमी आदि स्त्रियां भी मंत्र दृष्टा हैं।

वैदिक धर्म का स्रोत साहित्य–

वेद से तात्पर्य चार संहिताओं से है। वैदिक साहित्य में ब्राह्मण ग्रंथ, आरण्यक, उपनिषद्, सूत्र ग्रंथ और छः वेदांग गिने जाते हैं।

(i) वेद संहिता– चार वेदों के चार विषय हैं। ऋग्वेद का ज्ञान, यजुर्वेद का कर्म, सामवेद का उपासना, अथर्ववेद का विज्ञान। चारों वेदों के चार उपवेद क्रमशः आयुर्वेद, धनुर्वेद, गंधर्ववेद तथा अर्थवेद हैं।

(ii) ब्राह्मण ग्रंथ– ये वैदिक मंत्रों की व्याख्या करने वाले ग्रंथ हैं–

वेद		ब्राह्मण ग्रंथ
ऋग्वेद	–	ऐतरेय ब्राह्मण, सांख्यायन (कौषितकि)
सामवेद	–	साम व तण्ड्य महाब्राह्मण
अथर्ववेद	–	गोपथ ब्राह्मण
यजुर्वेद	–	तैत्तीरीय, शतपथ ब्राह्मण

(iii) आरण्यक– ये ब्राह्मण ग्रंथों के परिशिष्ट की तरह हैं, जिनमें आध्यात्मिक एवं दार्शनिक विषयों का विवेचन किया गया है। वृहदारण्य, जैमिनीय, सांख्यायन, ऐतरेय आदि नामों से आरण्यक हैं।

;(iv) उपनिषद्– आध्यात्मिक ज्ञान, तत्व चिंतन व अनुभूतियों की चरम अवस्था का वर्णन करने वाले ग्रंथ उपनिषद् हैं। उपनिषदों की संख्या 108 मानी जाती है, किंतु अधिक प्रसिद्ध उपनिषद्– ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तीरीय, छान्दोग्य, वृहदारण्यक तथा श्वेताश्वतर हैं।

(v) सूत्र ग्रंथ– इन ग्रंथों में वैदिक यज्ञों का विधान वर्णित है। ये ग्रंथ तीन प्रकार के हैं– श्रोत सूत्र, गृहय सूत्र तथा धर्म सूत्र।

(vi) वेदांग – वैदिक वाङ्मय को समझने के लिए विकसित छः सहायक अंगों को वेदांग कहा जाता है। शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छंद तथा ज्योतिष, ये छः वेदांग हैं।

वैदिक देवता– विश्व प्रकृति एक जड़ प्रवाह नहीं, बल्कि एक धर्म विधान है। जिस विधान से प्राकृतिक नियम शासित होते हैं, उसे धर्म विधान कहते हैं। इस प्रकृति का संचालन करने वाली शक्ति सत्य, चैतन्य व आनंद स्वरुप (सच्चिदानंद) है। वेद में इस चेतना सत्ता का नाम देवता है। पश्चिम देशों के मैक्समूलर जैसे अध्येताओं ने आर्यो को बाहर से आया असभ्य समूह बताया जो विकास क्रम में प्रारम्भ में 'प्राकृतिक शक्तियों के मानवीकृत

बहुदेववादी थे।' मैक्समूलर के अनुसार कालांतर में यह 'एक समय एक देवता को सर्वोपरि मानकर उपासना' (एकदा एक एवं देववाद या हेनोथीइज्म), इसके बाद एकेश्वरवाद के साथ 'सर्वेश्वरवाद' की मान्यता हुई। अंततः इसका चरम विकास उपनिषदों में 'एकतत्ववाद' या 'अद्वैतवाद' के रुप में हुआ। किंतु यह पश्चिमी मान्यता अब स्वीकार्य नहीं है क्योंकि आर्य बाहर से नहीं आए तथा वैदिक ऋषि सुसंस्कृत विद्वान थे, यह निर्विवाद है। इन मंत्रदृष्टा ऋषियों के द्वारा साक्षात्कृत आध्यात्मिक रहस्य मंत्रों के रुप में प्रकट हुए हैं। संहिता भाग भी अद्वैतवाद से अनुप्राणित है। संहिता से लेकर उपनिषद् तक वैदिक दर्शन का विकास इस केन्द्रीय आध्यात्मिक अद्वैतवाद का ही विकास है जो अपने अन्तर्गत एकेश्वरवाद और सर्वेश्वरवाद को समाहित किए है। वेदों में प्राकृतिक मानवीकृत बहुदेववाद की बात कोरी कल्पना है। वैदिक देवतागण एक ही देवता की विभिन्न शक्तियों के प्रतीक हैं। ऋग्वेद का मंत्र है– 'उस एक सत् का ही विद्वान अनेक रुपों में वर्णन करते हैं' (एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति, ऋग्वेद 1–164–46)

ऋत् का सिद्धान्त– वेदों में 'सत्' को सत्ता की दृष्टि से 'सत्य' और नैतिक नियमन की दृष्टि से 'ऋत्' तथा आनंद की दृष्टि से 'मधुमान्' कहा गया है। ऋत् का तात्पर्य अनुशासन या व्यवस्था है। ऋत् के कारण जगत की सुव्यवस्था है। देवगण ऋत् के ही स्वरुप हैं' (ऋग्वेद 1–89–10) वेदों में मानवता के कर्त्तव्यों और अनुशासनों का निरुपण किया गया है, अतः वैदिक धर्म सार्वभौमिक, मानवतावादी तथा यथार्थ मानव दृष्टि है।

सृष्टि विचार– ऋग्वेद का 'नासदीय सूक्त' सृष्टि विकास का वैज्ञानिक स्वरुप प्रस्तुत करता है। 'सृष्टि के आदिकाल में न सत् था न असत्, न वायु था न आकाश, ... न मृत्यु थी न अमरता, न रात थी न दिन, उस समय केवल वही एक था जो वायुरहित स्थिति में भी अपनी शक्ति से सांस ले रहा था, उसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं था (ऋग्वेद 10–129)

कर्म सिद्धान्त– वैदिक धर्म कर्म व उसके फल के सिद्धान्त को मानता है। पुनर्जन्म की मान्यता इसी से उत्पन्न होती है। निषिद्ध कर्मों से दूर रहकर शुद्ध आचरण करने से व्यक्ति कर्मों का अधिकारी बन सकता है। सत्कर्म के लिए तपस्या, स्मृति, पवित्र आचार, निश्छल व्यवहार तथा अन्तःकरण की शुद्धि आवश्यक है। प्रत्येक जीव अपने द्वारा किए गए कर्मो के अनुसार ही उनका फल भोगने के लिए पुनः जन्म लेता है। इस जन्म में सत्कर्मों द्वारा कर्म क्षय किया जा सकता है। यजुर्वेद में कर्म करते हुए सौ वर्ष जीने की कामना की गई है। सत्कर्म करने में जो कष्ट होता है, उसे तप कहा है।

यज्ञ– वैदिक धर्म में यज्ञ को श्रेष्ठतम कर्म कहा गया है। अग्नि में हवन सामग्री तथा घी आदि समर्पित करना मात्र यज्ञ नहीं है। इनका उपयोग पर्यावरण की दृष्टि से महत्वपूर्ण है, किंतु वास्तव में सभी श्रेष्ठ कर्मो का नाम यज्ञ है। यज्ञ के तीन भाग हैं– क. जिन कर्मो द्वारा ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना, उपासना की जाए। ख. विद्वानों, तपस्वियों का आदर किया जाए। ग. पंच तत्वों (अग्नि, जल, वायु, पृथ्वी, आकाश) को प्रदूषण मुक्त रखते हुए ठीक उपयोग किया जाए।

यज्ञ दो प्रकार के हैं– नित्य और नैमित्तिक

(अ) नित्य यज्ञ– गृहस्थाश्रम में कर्त्तव्य रुप नित्य यज्ञों को 'पंच महायज्ञ' कहते हैं। समाज को सुचारु चलाने के लिए प्रत्येक गृहस्थ के लिए इन्हें अनिवार्य माना जाता है।

(1) ब्रह्मयज्ञ :– वेद, शास्त्र तथा अन्य सत् साहित्य का अध्ययन, मनन, चिंतन करना। उपनिषद् में कहा है– 'स्वाध्याय में प्रमाद न करें।'

(2) देव यज्ञ :– देव पूजन, अर्चन, संध्या वंदन करना।

(3) पितृ यज्ञ :– माता, पिता, गुरु, आचार्य व वृद्धजनों की सेवा करना।

(4) भूत यज्ञ :– 'सर्व भूतों के हित में रत रहना' ऐसा गीता में कहा है। पशु, पक्षी, कीट–पतंगों के भरण पोषण रक्षण हेतु कार्य करना। अर्थात् खाद्य श्रंखला व जैव संतुलन तथा जैव विविधता के लिए कार्य करना।

(5) नृ यज्ञ :– मानव कल्याण हेतु कार्य करना।

नैमित्तिक यज्ञ – ऐसे यज्ञ जो व्यष्टि (व्यक्ति) या समष्टि (समस्त विश्व) के किसी प्रयोजन को पूरा करने के लिए किए जाते हैं। इसका उद्देश्य कोई फल प्राप्ति होता है जैसे– पुत्रेष्टी यज्ञ, वृष्टि यज्ञ, अश्वमेध यज्ञ, राजसूय यज्ञ, समरसता यज्ञ, विश्व मंगल यज्ञ।

वर्ण व्यवस्था– समाज व्यवस्था के अन्तर्गत गुण व कर्म के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र में विभाजन जो कालांतर में विकृत होकर जाति–व्यवस्था में बदल गया। अतः आज वर्ण

व्यवस्था काल बाह्य हो गई है।

आश्रम व्यवस्था– वेदों में सौ वर्ष को आदर्श आयु मानकर व्यक्ति के जीवन को चार भागों में बांटा था, जिन्हें चार आश्रम– ब्रह्मचर्य, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम व सन्यास आश्रम कहते हैं। ग्रह्य सूत्र में आश्रम व्यवस्था का वर्णन है।

1. ब्रह्मचर्याश्रम :– यह शिक्षा और संस्कार का काल है जिसमें व्यक्ति कठोर तप का अभ्यास करते हुए भावी जीवन में सुयोग्य नागरिक बनने की तैयारी करता है।
2. गृहस्थाश्रम :– इसे श्रेष्ठ आश्रम माना है क्योंकि यह आश्रम तीनों आश्रमों का आधार है। यह आश्रम सर्वाधिक सक्रियता, पुरुषार्थ तथा कर्त्तव्य पालन की अपेक्षा करता है।
3. वानप्रस्थाश्रम :– गृहस्थाश्रम के कर्त्तव्यों से निवृत होने तथा समाज कार्य के लिए प्रवृत्त होने की व्यवस्था को वानप्रस्थाश्रम कहते हैं। यह समाज के उपकार से उऋण होने का काल है, जिसमें व्यक्ति की वृत्ति अधिकतम समय समाजोपयोगी कार्यो में लगाने की होती है। उनकी विशेषज्ञता और अनुभव का लाभ समाज को मिलता है।
4. सन्यासाश्रम :– सांसारिक मोह बंधनों से मुक्त होकर जीवन का शेष समय भगवद् चिंतन करते हुए निर्लिप्त भाव से देह त्याग की तैयारी तथा अपनी तपस्या से सकारात्मक, सात्विक वातावरण बनाने की समयावधि को सन्यासाश्रम कहते हैं। इस आश्रम में व्यक्ति अपना समय अरण्य में किसी आश्रम में बिताता था।

संस्कार व्यवस्था – संस्कार शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग ऋग्वेद में हुआ है। वेद में इसका अर्थ धर्म की शुद्धता, पवित्रता लिया गया है। मीमांसा दर्शन के अनुसार संस्कार वह प्रक्रिया है, जिसके होने से कोई व्यक्ति या पदार्थ किसी कार्य के योग्य हो जाता है।' कुमारिल भट्ट के अनुसार 'संस्कार वे क्रियाएँ या रीतियाँ हैं, जो योग्यता प्रदान करती हैं।' मनुष्य को आसुरी या पशुवृत्ति से ऊपर उठाकर दिव्य, दैवीय गुणों से युक्त बनाने के लिए जन्म के पूर्व से लेकर मृत्यु पर्यन्त, अर्थात अगले जन्म की तैयारी तक सोलह संस्कारों की व्यवस्था की गई है।

1. गर्भाधान संस्कार– माता–पिता 'हमें कैसी संतान चाहिए' इसका विचार कर उसके अनुरुप खान–पान, आचार–विचार एवं व्यवहार प्रारम्भ करते हैं तथा गर्भधारण की योग्यता, उसके अनुकूल मन–स्थिति, स्वास्थ्य एवं अनुकूल समय का विचार कर यह अनुष्ठान करते हैं।
2. पुंर्सवन संस्कार– निषेचन के उपरान्त बढ़ते हुए भ्रूण की स्वस्थ वृद्धि के लिए दूसरे या तीसरे माह में यह संस्कार होता है।
3. सीमन्तोन्नयन संस्कार– गर्भस्थ शिशु के शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य की यह द्वितीय जाँच का संस्कार है, जो छठे या आठवें मास में होता है।
4. जात कर्म संस्कार– जन्म के उपरान्त नाल काटने तथा पिता द्वारा शिशु के स्वस्थ एवं मेधावी होने की प्रार्थना का संस्कार।
5. नामकरण संस्कार– आठ या दस दिन का होने पर जन्म के समय के ग्रहादि की स्थिति के अनुसार शिशु का गुणवाचक नाम रखने का संस्कार।
6. निष्क्रमण संस्कार – जन्म के चौथे महिने में पिता बच्चे को जच्चा गृह से बाहर लाता है ताकि वह सूर्य दर्शन करे एवं बाह्य वातावरण के अनुकूल हो सके।
7. अन्न प्राशन संस्कार– जन्म के छठे मास में उसे माँ के दूध के साथ अन्न का आहार देना प्रारम्भ करते हैं। इस संस्कार में उसे खीर खिलाते हैं तथा तीन मंत्र पढ़े जाते हैं, जिनका अर्थ है– हमें शान्ति मिले, भोजन का स्वाद मिले, सुगंधि का आनंद मिले।
8. चूड़ाकर्म संस्कार– लगभग एक वर्ष की आयु होने पर जन्म के समय के बालों का प्रथम मुण्डन किया जाता है।
9. कर्णवेध संस्कार– आंत्रवृद्धि आदि रोगों के निवारणार्थ एक्यूपंक्चर चिकित्सा का यह संस्कार है, जिसमें कानों का छेदन कर रजत या स्वर्णाभूषण पहनाते हैं।
10. विद्यारम्भ संस्कार– गुरुकुल में जाकर शिक्षा प्रारम्भ करने का संस्कार।
11. उपनयन संस्कार– इसे यज्ञोपवीत संस्कार भी कहते हैं। विद्याध्ययन आरम्भ की योग्यता तथा आध्यात्मिक जीवन में प्रवेश के द्वार रुप यह संस्कार है। यज्ञोपवीत में तीन धागे पितृ ऋण, देव ऋण तथा ऋषि ऋण के स्मरण चिह्न हैं।
12. समावर्तन संस्कार– अध्ययन तथा ब्रह्मचर्याश्रम का समय पूरा होने के बाद गृहस्थ बनने से पूर्व होने वाला दीक्षान्त

समारोह।

13. विवाह संस्कार– हिन्दू धर्म में विवाह अनुबंध या समझौता न होकर संस्कार है। गृहस्थ के कर्त्तव्यों के पालन की शपथ लेना है।

14. वानप्रस्थ संस्कार– गृहस्थ के कर्त्तव्य पूरे करने के पश्चात् समाज सेवा के कार्य की दीक्षा लेना।

15. सन्यास संस्कार– जीवन के अंतिम काल में चिंतन, मनन और लोक कल्याण के लिए जीते हुए सन्यास ग्रहण करते समय किया जाने वाला संस्कार।

16. अन्त्येष्टि संस्कार– सासांरिक जीवन का अवसान मृत्यु में और संस्कारों की समाप्ति विधि–विधान से देह को अग्नि को समर्पित करने के अन्त्येष्टी संस्कार में होती है।

पुरुषार्थ :–धर्म शब्द की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि 'जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों ही साध्य हों, वह धर्म है।' मानव जीवन के दो अंग है– एक भौतिक (फिजीकल) और दूसरा अतिभौतिक (मेटा फिजीकल)। आधुनिक विज्ञान भी यही मानता है। भौतिक साधन–सामग्री का उपार्जन, रक्षण, भोग के लिए अर्थात् भौतिक उन्नति के लिए 'अभ्युदय' शब्द है। अतिभौतिक अंग को आध्यात्मिक कहा गया है, इसकी चरम उपलब्धि मोक्ष है, जिसे 'निःश्रेयस' कहा गया है। इस अभ्युदय और निःश्रेयस रुपी धर्म की सिद्धि के लिए करणीय कार्यों को पुरुषार्थ कहा गया है। ये चार हैं– धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। धर्म के अनुरुप अर्थात् संसार के लिए शुभ हो, ऐसे कल्याणकारी मार्ग से 'अर्थ' अर्थात् धनादि भौतिक सुखोपयोग की सामग्रियों का उपार्जन करना तथा 'काम' अर्थात् इन उपार्जित सामग्रियों का संयमित, त्यागपूर्वक भोग करना। यह सब करते समय अंतिम लक्ष्य मोक्ष की तैयारी करना अर्थात् धर्म व मोक्ष के सम्पुट में अर्थ व काम को नियंत्रित रखने की वैदिक व्यवस्था को 'पुरुषार्थ चतुष्टय' कहते हैं।

विश्व परिवार (वसुधैव कुटुम्बकम्) :– अथर्ववेद के पृथ्वी सूक्त में कहा है 'भूमि हमारी माता है और हम उसकी संतान हैं' (माता भूमि पुत्रो ऽहं पृथिव्याः) इस प्रकार यह पूरा विश्व एक परिवार है और एक ही माता के पुत्र होने के कारण सब परिजन हैं। इस भाव का अनुभव करने के लिए संगठन सूक्त के तीन मंत्र ऋग्वेद में हैं। इनका भावार्थ हैं कि साथ चलने, साथ बोलने, समान मन वाले होने से कुटुम्ब भाव की अनुभूति हो सकती है। वेद के अधिकतम मंत्र सामूहिक प्रार्थना के हैं, कुछ भी अकेले के लिए नहीं मांगा है, इसीसे परिवार की संकल्पना पुष्ट होती है।

नारी का स्थान :– वैदिक धर्म में स्त्री को शक्ति माना है। नारी सृष्टि करने वाली है– 'स्त्री हि ब्रह्म बभूविथ'। वैदिक दर्शन के अनुसार जीवात्मा न तो स्त्री है, न पुरुष और न ही नपुंसक। जीवात्मा कर्म के अनुसार जिस शरीर को धारण करता है, उसी लिंग वाला हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि वैदिक काल में लैंगिक भेदभाव का स्थान नहीं था क्योंकि सभी में एक ही आत्मा है। कात्यायनी, मैत्रेयी, गार्गी आदि मंत्र दृष्टा नारियाँ थी। विवाह संस्कार व अन्य वैदिक मंत्रों से भी नारी सम्मान की भावना स्पष्ट होती है।

वैदिक सूक्तियाँ– आदर्श समाज जीवन तथा व्यक्तिगत व राष्ट्रीय चरित्र के लिए वेद में उद्बोधक, प्रेरक वचन हैं जो आज भी संसार को वैदिक धर्म की देन के रुप में मार्ग दर्शक हो सकते हैं–

1. 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्'' ऋग्वेद का मंत्र कहता है कि 'हे सत्कर्मो में निपुण सज्जनों ! परम ऐश्वर्यशालियों को बढ़ाते हुए, दुष्कर्मी पापियों का दमन करते हुए संसार को श्रेष्ठ बनाते रहो।'

2. 'वयं राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिताः'– हम राष्ट्र में जागरुक, आदर्श नागरिक बनें। अथर्ववेद (7–36–1) का मंत्र कहता है कि इस राष्ट्र को अपने सौभाग्य का कारण मानकर समृद्ध करो।

3. वैदिक राष्ट्रगीत (यजुर्वेद 22–22) में प्रार्थना की गई है कि राष्ट्र में सभा को प्रकाशित करने वाले युवक जन्म लें। ब्रह्मवर्चस्वी बुद्धिजीवी हों, राजन्य (अर्थात् शासन कर्त्ता शूर, धनुर्धारी और महारथी, सैन्य शक्ति सम्पन्न हो), दूध देने वाली गायें हों (आर्थिक समृद्धि) परिवार को धारण करने वाली स्त्रियाँ हों, समय–समय पर वर्षा हों और सभी औषधियाँ फलवती हों।

4. हम सृष्टि के न्यासी हैं अतः कमाये हुए पर केवल हमारा अधिकार नहीं है। अतः वेद कहता है– सबमें दान देने की प्रवृत्ति होनी चाहिए। 'शत हस्त समाहर, सहस्र हस्त संकिर'

(अथर्ववेद में कहा है, सौ हाथों से अर्जित कर और हजार हाथों से बांट दें।) जो अपने कमाये हुए को अकेला खाता है, बांटकर नहीं खाता, वेद ऐसे अन्न को 'पाप का अन्न कहता है।'

5. अन्न जैविक कृषि से प्राप्त हो तथा उसका उचित प्रबंधन हो इसके लिए वेद का संदेश है– ' हे अन्न का पालन (संरक्षण) करने वाले! हमको निरोगकारी व बलवर्धक अन्न धारण कराइए ..... मनुष्य और चौपायों को भी इससे शक्ति दो।'
6. हे मनुष्य! तू ऊपर की ओर जा, उत्थान कर, उन्नति कर, नीचे की ओर मत जा अर्थात् अवनति को प्राप्त मत हो। इसके लिए वेद कहता है– 'स्वस्ति पन्थामनुचरेम्' अर्थात् हम कल्याण के मार्ग पर चलें।
7. विद्यार्थी के लिए वैदिक प्रार्थना है– 'मामद्य मेधाविनं कुरुं' '' हे मेधाविन् परमात्मन्! जिस मेधा बुद्धि की प्रार्थना, उपासना और याचना हमारे देवगण, ऋषिगण और पितृगण करते आए हैं, उसी मेधा शक्ति का दान आज हम सबको प्रदान कीजिए।''
8. 'मित्रस्य चक्षुषा सर्वान् समीक्षामहे' अर्थात् मैं सबको मित्र–दृष्टि से देखूँ।
9. 'मनुर्भव जनय दैव्यं जनम्' अर्थात् मनुष्य बन। अपने भीतर दिव्यतायुक्त जन को जन्म दे।
10. अथर्ववेद का मंत्र है 'मेरा जाना मधुरतायुक्त हो, मेरा आना मधुरतायुक्त हो। मधुर वाणी बोलूँ और मैं मधुर आकृति (प्रसन्न वदन) वाला हो जाऊँ।'
11. 'आ नो भद्रा क्रतवो यन्तु विश्वतः' वेद कहता है कि संसार में सब ओर से अच्छे विचार मेरी ओर आएँ। ऋग्वेद कहता है– हम भद्र (अच्छा) सुनें, देखें। यजुर्वेद के गायत्री मंत्र में कहा है – ' यद् भद्रं तन्न आ सुव' अर्थात् जो भद्र गति है उसे हमको प्राप्त कराओ।

वेदों के विस्तृत सूक्ति संसार में से कुछ यहाँ दिए हैं। वास्तव में मानव होने का विचार और विश्वास तथा विश्व में मानवता का पथ–प्रदर्शन वेद की देन है। इसके माध्यम से हम दैवत्व तक उठ सकते हैं।

जैन धर्म

जैन धर्म की अति प्राचीन परम्परा है। जैन धर्म की स्थापना और विकास में योगदान करने वाले महात्माओं को तीर्थंकर कहा जाता है।

2.1

पहले तीर्थंकर 'ऋषभ देव' का उल्लेख ऋग्वेद, यजुर्वेद और पुराणों में मिलता है। जैन शब्द संस्कृत के 'जिन' से बना है, जिसका अर्थ है– जीतना, जो इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर ले।

पार्श्वनाथः– जैन साहित्य के अनुसार पार्श्वनाथ का जन्म

2.2 महावीर स्वामी

महावीर के जन्म से लगभग 250 वर्ष पूर्व आठवीं सदी ई. पूर्व में हुआ। वे काशी के इक्ष्वाकुवंशी राजा अश्व सेन के पुत्र थे। इन की माता का नाम वामा था इनका विवाह कुशलस्थल की राजकन्या प्रभावती के साथ हुआ था। 30 वर्ष कि उम्र में ये गृह का त्याग कर सत्य की खोज में निकल गये। 83 दिन की घोर तपस्या के बाद सम्मेद पर्वत पर इन्हें केवल्य ज्ञान प्राप्त हुआ। ज्ञान प्राप्ति के बाद 70 वर्ष तक इन्होंने धर्म प्रचार किया और 100 वर्ष कि आयु में सम्मेद शिखर पर निर्वाण को प्राप्त हुए।

पार्श्वनाथ द्वारा प्रतिपादित मार्ग पर चलने वालों को ' निर्ग्रन्थ ' कहा जाता था क्योंकि इस मार्ग पर चलकर सांसारिक बन्धनों से मुक्ति प्राप्त की जा सकती थी। पार्श्वनाथ ने चातुर्याम धर्म का प्रतिपादन किया– अहिंसा , सत्य , अस्तेय , और अपरिग्रह पार्श्वनाथ का प्रभाव, मिश्र, इरान, अफगानिस्तान, साईबेरिया तक फैला। चीनी यात्री ह्वेनसांग ने उन प्रदेशों की यात्रा में निः ग्रंथ मुनियों को देखने का उल्लेख किया है।

महावीर स्वामीः– महावीर स्वामी 24 वें तीर्थंकर थे। महावीर स्वामी ने जैन धर्म की मौजूदा व्यवस्था में सुधार करके उसे लोक प्रिय बनाया। इसलिए कुछ विद्वान उन्हें जैन सुधारक मानते हैं। महावीर स्वामी का जन्म 599 ई. पू. वैशाली के निकट कुण्डलग्राम में ज्ञातृक क्षत्रिय कुल में हुआ। पिता का नाम सिद्वार्थ व माता का नाम त्रिशला था जो वैशाली के राजा चेटक की बहन थी। इनका पालन–पोषण राजसी वातावरण में बड़े लाड प्यार से हुआ।

महावीर स्वामी 30 वर्ष तक परिवार के साथ ही रहे। लेकिन माता–पिता की मृत्यु के बाद अपने बड़े भाई नंदिवर्धन से अनुमति लेकर गृह त्याग दिया। प्रारम्भ में 13 महीने तक वस्त्र धारण किये बाद में वस्त्रों को भी त्याग दिया। 12 वर्षों तक कठोर तपस्या तथा साधना के पश्चात ऋजुपालिका ग्राम के पास ऋजुपालिका नदी के तट पर साल के वृक्ष के नीचे उन्हें सर्वोच्च ज्ञान (केवल्य) प्राप्त हुआ। इसी कारण इन्हें केवलिन माना। ज्ञान प्राप्ति के पश्चात् अपनी इन्द्रियों को जीतने के कारण 'जिन' एवं अपनी साधना में अतुल पराक्रम दिखाने के कारण महावीर कहलाये। ज्ञान प्राप्ति के पश्चात् महावीर ने अपने सिद्धान्तों का प्रचार किया। सिद्धान्तों के प्रचार के लिए वर्ष में आठ महीने भ्रमण करते तथा वर्षा ऋतु के चार महीने किसी एक स्थान पर चातुर्मास करते (विभिन्न नगरों में विश्राम करते।) 527 ई. पूर्व में में लगभग 72 वर्ष की आयु में राजगृह के पास पावापुरी में दो दिन तक लगातार प्रवचन और उपवास के साथ शरीर त्याग दिया। उनकी मृत्यु के बाद जैन धर्म का व्यापक प्रचार प्रसार हुआ।

जैन धर्म की शिक्षाएँ :– जैन धर्म की शिक्षाओं की जानकारी जैन धर्म ग्रन्थों '' आगम साहित्य '' से मिलती है। पार्श्वनाथ ने भिक्षुओ के लिए चार व्रतों का विधान किया था, अहिंसा, सत्य, अस्तेय तथा अपरिग्रह। महावीर स्वामी ने ब्रह्मचर्य को जोड़कर पंचमहाव्रत धर्म का प्रदिपादन किया।

1. अहिंसा :– यह जैन धर्म का प्रमुख सिद्वान्त है जिसमें सभी प्रकार की हिंसा का निषेध किया गया है। मन, वचन और कर्म से किसी के प्रति अहित की भावना न रखना ही वास्तविक अहिंसा है। लेकिन सांसारिक मनुष्यों के लिए संयमपूर्ण जीवन व्यवहार का निर्देश दिया गया है। अतः मध्यम मार्ग के रुप में गृहस्थों के लिए "स्थूल हिंसा" का निषेध किया गया है। स्थूल अहिंसा से तात्पर्य है किसी निरपराध प्राणी की हिंसा नहीं करना।

2. सत्य :– महावीर स्वामी ने सत्य वचन पर जोर दिया। उनका कहना था, कि बिना सत्य भाषण के अहिंसा का पालन सम्भव नहीं है। प्रत्येक मनुष्य को प्रत्येक परिस्थिति में सत्य बोलना चाहिए। हँसी और भय से भी झूठ नहीं बोलना चाहिए।

3. अस्तेयः– इसका अर्थ है चोरी नहीं करना। इसका व्यापक अर्थ है कि बिना अनुमति के किसी की भी वस्तु को नहीं लेना और न ही वस्तु लेने की इच्छा रखना। बिना गृह स्वामी की आज्ञा के घर में प्रवेश न करें न ही निवास करें। गृह स्वामी की आज्ञा के बिना किसी वस्तु का उपयोग भी नहीं करें।

4. अपरिग्रहः– इसका अर्थ है कि संग्रह न करना। महावीर स्वामी के अनुसार जो व्यक्ति सांसारिक वस्तुओं का संग्रह नहीं करता, वह संसार के पाप–जाल से दूर रहता है सांसारिक वस्तुओं के संग्रह से आसक्ति उत्पन्न होती है। प्रकृति में संसाधन सीमित हैं अतः परिग्रह का अर्थ दूसरों को वंचित करना। अपनी न्यूनतम आवश्यकता से अधिक का संग्रह प्रकृति की चोरी है।

5. ब्रह्मचर्यः– महावीर स्वामी का मानना था कि उपर्युक्त चारों बातों का पालन तब तक नहीं हो सकता तब तक मनुष्य विषय वासनाओं से दूर नहीं रहता। ब्रह्मचार्य पालन का अर्थ है कि शरीर की

समस्त वासनाओं का त्याग कर देना, अर्थात इंद्रिय संयम का अभ्यास करना।

आगम ग्रंथ :– महावीर के प्रवचनों को गणधरों ने संकलित और उत्तरवर्ती आचार्यों ने लिपिबद्ध किया जो आगम कहलाये, इनकी ज्ञात संख्या 12 है शास्त्रीय भाषा में इन्हें द्वाद्वशांगी कहा गया है। ये ग्रंथ जैन दर्शन के मूलाधार है।

अनेकान्तवाद :– इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक वस्तु अनेक धर्मात्मक होती है। सामान्य मनुष्य उसके सभी गुणों या पक्षों को पूर्ण रुप से नहीं देख पाता। उदाहरणार्थ हम उतनी ही वस्तुएँ देख सकते हैं जहाँ तक हमारी दृष्टि जाती है, किंतु पृथ्वी का बहुत बड़ा हिस्सा हमारे लिए अज्ञात है। वायुसेना या अंतरिक्ष में जाकर अधिक विस्तृत दृश्य को देख सकते हैं। अतः जितना हमें दिखाई दे रहा है, वह भी सत्य है किंतु वह पूर्ण सत्य नहीं है। जितना मैं जानता हूँ उसके परे भी सत्य है, यह भाव मनुष्य में उदारता और समन्वय की दृष्टि उत्पन्न करता है। इसे ही अनेकान्त दृष्टि कहते हैं, इससे केवल हमारा ही मत सत्य है, इस दुराग्रह का विचार समाप्त होता है। यह सिद्धान्त सोचने का एक दृष्टिकोण देकर विचारों में समन्वय स्थापित करता है जैसे 'ग्लास आधा भरा है' तथा 'ग्लास आधा खाली है' दोनों ही कथन सत्य है, किंतु इनमें से किसी एक कथन पर विश्वास करना पूर्ण सत्य नहीं है। इस प्रकार विपरीत धर्म एक ही वस्तु में दिखाई देते हैं और प्रत्येक में सत्य का अंश है। यह बताता है कि प्रत्येक व्यक्ति की बात सहानुभूतिपूर्वक सुनी जाए।

स्याद्वाद :– अनेकान्तवाद और स्याद्वाद एक ही हैं, अंतर केवल इतना है कि अनेकान्त वस्तु के अनेक धर्मा होने की घोषणा करता है, तो स्याद्वाद उसे व्यक्त करने की भाषा है। स्याद्वाद शब्द दो शब्दों से बना है। स्याद् = किसी अपेक्षा या विशेष दृष्टि से तथा वाद = मान्यता का कथन। विज्ञान का सापेक्षवाद का सिद्धान्त इसी की पुष्टि करता है। जैसे एक व्यक्ति है, उसे देखकर आप कहते है, 'ये गुरुजी है'। किंतु यह वाक्य शिष्य की दृष्टि से है। परन्तु वही व्यक्ति पुत्र की अपेक्षा से पिता, बहिन की अपेक्षा से भाई, पत्नी की अपेक्षा से पति, माता की अपेक्षा से वो पुत्र कहलाएगा। ये सभी उपाधियां सत्य होते हुए भी एकांगी है। इस प्रकार देश और विश्व में समन्वय, सौहार्द तथा सामंजस्य उत्पन्न करने के लिए विचार में अनेकान्त, वाणी में स्याद्वाद तथा व्यवहार में अहिंसा का मार्ग अपनाने की आवश्यकता है।

अनीश्वरवादीः– जैन धर्म ईश्वर को सृष्टिकर्ता नहीं मानता है। उसके अनुसार सृष्टि अनादि, अनन्त तथा नित्य है।

कर्म और पुनर्जन्म :– जैन धर्म पुनर्जन्म और कर्म में विश्वास करता है, जैन धर्म मनुष्य को स्वयं अपना भाग्य विधाता मानता है। इस प्रकार जैन धर्म में कर्म की प्रधानता को स्वीकार किया गया है। मनुष्य के समस्त सुखों–दुखों का कारण उसके अपने कर्म ही है। मनुष्य के कर्मों के कारण पैदा होने वाली सांसारिक वासनाओं के बन्धन से आत्मा का जन्म–मरण चक्र चलता रहता है। कर्मों के फल भोगे बिना जीव की मुक्ति नहीं हो सकती। इस प्रकार कर्म ही पुनर्जन्म का कारण है।

मोक्ष या केवल्य :–

जैन धर्म में जीवन का चरम लक्ष्य केवल्य (मोक्ष) की प्राप्ति ही बताया गया है। मोक्ष की प्राप्ति के लिए तीन साधन बताये गये हैं सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन, सम्यक् चरित्र।

(1) सम्यक् ज्ञान :– इसका तात्पर्य है कि सही विचार अर्थात सत्य और असत्य का भेद समझ लेना। जैन धर्म में ज्ञान के पाँच प्रकार बताये गये हैं। मति अर्थात् इन्द्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान, श्रुति अर्थात् सुनकर अथवा वर्णन के द्वारा प्राप्त ज्ञान। अवधि ज्ञान अर्थात् कहीं रखी हुई, किसी वस्तु का दिव्य ज्ञान। मनःपर्याय अर्थात् अन्य व्यक्तियों के भावों और विचारों को जानने का ज्ञान, केवल्य ज्ञान अर्थात् पूर्ण ज्ञान, जिसे प्राप्त करने के बाद कुछ भी जानना शेष नहीं रहता।

(2) सम्यक् दर्शन :– जैन तीर्थंकरों और उनके उपदेशों में दृढ विश्वास ही सम्यक दर्शन है। इसके आठ अंग बताये गये हैं सन्देह से दूर रहना, सांसारिक सुखों की इच्छा का त्याग करना, आसक्ति–विसक्ति से बचना, गलत रास्ते पर नहीं चलना, अंध– विश्वासों से विचलित नहीं होना, सही विश्वासों पर अटल

रहना, सभी के लिए समान प्रेम रखना। जैन सिद्धान्तों में पूर्ण आस्था तथा विश्वास रखना।

(3) सम्यक् चरित्रः– जो कुछ भी जाना जा चुका है तथा उसे सही माना जा चुका है उसे कार्य रूप में परिणत करना ही सम्यक चरित्र है। इसके अन्तर्गत भिक्षुओं के लिए पाँच महाव्रत तथा गृहस्थों के लिए पाँच अणुव्रत बताये गये हैं तथा सच्चरित्रता एवं सदाचार पर बल दिया गया है।

जैन धर्म में सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र को त्रिरत्न कहा जाता है। त्रिरत्नों के अनुसरण करने पर कर्मो का जीव की ओर बहाव रूक जाता है जिसे "संवर" कहा जाता है। साधना से संचित कर्म नष्ट होने लगतें है इस अवस्था को जैन धर्म में 'निर्जरा' कहा जाता है। जिससे जीव के कर्म पूर्ण रूप से समाप्त हो जाते हैं तब वह केवल्य (मोक्ष) की प्राप्ति कर लेता है। कैवल्य के पश्चात जीव का इस संसार से आवागमन का चक्र समाप्त हो जाता है तथा जीव अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन तथा अनन्त वीर्य, अनन्त सुख की प्राप्ति कर लेता है जिसे जैन धर्म में ' अनन्त चतुष्टय ' कहा जाता है।

कालान्तर में जैन धर्म श्वेताम्बर और दिगम्बर दो प्रमुख धाराओं में विभक्त हो गया। श्वेत वस्त्र धारण करने वाले श्वेताम्बर जैन व पूर्णतः निर्वस्त्र रह कर साधना करने वाले साधु दिगम्बर कहलाते हैं। काल प्रवाह में ये दोनों ही धाराएँ अनेक उप धाराओं में विभक्त हो गई लेकिन पंच महाव्रतों की मूल मान्यता सभी धाराओं की एक ही है।

जैन धर्म की विश्व को देनः– जैन धर्म ने विश्व में सांस्कृतिक समन्वय तथा एकता की भावना को सफल बनाया है । विचार–समन्वय के लिए अनेकान्तवाद दिया। आचार– समन्वय की दिशाओं में मुनि–धर्म और गृहस्थ धर्म की व्यवस्था देकर प्रवृति और निवृति दोनों मार्गों का समन्वय किया। आज भी हम इन सिद्धान्तों का अनुकरण करें तो आपसी भेदभाव एवं साम्प्रदायिक द्वेष दूर हो जायेंगे तथा संसार में शान्ति, बन्धुत्व, प्रेम एवं सहिष्णुता स्थापित की जा सकेगी।

जैन धर्म की देन साहित्य एवं कला के साथ स्थापत्य कला व लोक भाषाएँ, प्राकृत, अपभ्रंश, कन्नड़, तमिल, तेलगू आदि भाषाओं में जैन साहित्यों की रचना की गई। संस्कृत भाषा में भी जैन मुनियों द्वारा रचनायें लिखी गई। हस्त लिखित जैन ग्रन्थों पर उकेरे हुए चित्र पूर्व मध्य युगीन चित्रकला के सुन्दर नमूने हैं। जैन धर्म की सर्वाधिक महत्वपूर्ण देन कलात्मक स्मारक, मूर्तियाँ, मंदिर, मठ, और गुफा आज भी सुरक्षित हैं। उडीसा के पुरी जिले में उदयगिरी और खण्डगिरी में 35 जैन गुफाओं के अतिरिक्त एलोरा में भी जैन गुफाऐं मिली है। मध्य भारत में खजुराहो के दसवीं और ग्यारहवीं शताब्दी के जैन मंदिरों तथा राजस्थान में देलवाडा व रणकपुर जैन मंदिर, कला की दृष्टि से उत्कृष्ट हैं। कर्नाटक के श्रवणबेलगोला पर्वत पर स्थित बाहुबली की प्रतिमा दर्शकों को आश्चर्य चकित कर देती है।

पर्यावरण संरक्षण एवं प्रदूषण नियंत्रण में महावीर प्रदत्त जैन दर्शन सम्पूर्ण समाधान है। अपरिग्रह का सिद्धान्त पदार्थों के असंग्रह और इच्छाओं आवश्यकताओं के कम करने का सिद्धान्त है, प्रकृति प्रदत्त पदार्थों को कम से कम उपयोग में लेकर, विवेकपूर्वक सदुपयोग करना, दुरूपयोग कतई नहीं होने देने से यह प्रकृति लम्बे काल तक मनुष्य का पालन पोषण कर सकती है।

बौद्ध धर्म

छठी शताब्दी ईसा पूर्व भारत के पूर्व भाग में बौद्ध धर्म की स्थापना हुई। बौद्ध धर्म की स्थापना महात्मा बुद्ध ने की।

2.3 महात्मा बुद्ध

राजसी जीवन एवं सुखी दाम्पत्य जीवन को त्याग कर सत्य की खोज में घोर कष्टों एवं कठिनाईयों का सामना कर ज्ञान प्राप्त किया। ज्ञान प्राप्ति के बाद बताया कि मनुष्य स्वयं अपने भाग्य का निर्माता है। उन्होंने वर्ण भेद एवं जाति–भेद को निरर्थक बताया और दुःखी मानवता को जीवन का सही और सरल मार्ग बतलाया।

गौतम बुद्ध का जीवन :– महात्मा बुद्ध का जन्म 563 ई. पूर्व में शाक्य क्षत्रिय कुल में शुद्धोदन के यहाँ लुम्बिनी वन में हुआ। इनके बचपन का नाम सिद्धार्थ था। इसकी जानकारी अशोक के रूम्मिनदेई अभिलेख से मिलती है। गौतम की माता का नाम महामाया था जो कौशल गणराज्य की कन्या थी। माता का निधन गौतम के जन्म से सात दिन बाद ही हो गया था। इनका लालन–पालन इनकी विमाता गौतमी ने किया। गौतम के जन्म के समय ब्राह्मण "कौडिन्य" एवं तपस्वी काल देवल ने भविष्यवाणी की थी कि यह बालक बड़ा होकर या तो चक्रवर्ती सम्राट बनेगा या महान् सन्यासी। इनके पिता ने इनका लालन–पालन राजसी ऐश्वर्य एवं वैभव के वातावरण में किया तथा इन्हें राजकुमारों के अनुरूप शिक्षा दी गई। परन्तु बचपन से ही वे अत्यधिक संवेदनशील एवं चिन्तनशील स्वभाव के थे प्रायः एकान्त में बैठकर वे जीवन–मरण सुख–दुःख आदि समस्याओं पर गम्भीर रूप से विचार किया करते थे। उन्हें इस प्रकार सांसारिक जीवन से विरक्त होते देख कर उनके पिता को गहरी चिन्ता होने लगी। उन्होंने सिद्वार्थ को सांसारिक जीवन में व्यस्त करने का प्रयास किया। 16 वर्ष की आयु में ही इनका यशोधरा के साथ विवाह कर दिया गया। यशोधरा एवं सिद्वार्थ के एक पुत्र उत्पन्न हुआ जिसका नाम राहुल रखा। सिद्वार्थ के पिता ने अपने पुत्र को सांसारिक प्रवृत्तियों में लगाने के लिए प्रत्येक मौसम के अनूकूल अलग–अलग प्रासाद बनवा दिये तथा प्रत्येक प्रासाद में विभिन्न ऋतुओं के अनुसार सभी प्रकार के ऐश्वर्य और भोग विलास की सामग्री उपलब्ध करवा दी। वैभव और विलास के बीच भी सिद्वार्थ के मन में जीवन की समस्याओं को लेकर निरन्तर द्वन्द्व रहता था। 12–13 वर्ष गृहस्थ जीवन में रहने के बाद भी सिद्वार्थ का मन सांसारिक प्रवृत्तियों में नहीं लगा। एक दिन विहार के लिए जाते हुए उन्होंने प्रथम बार वृद्ध, द्वितीय बार एक व्याधि ग्रस्त मनुष्य, तृतीय बार एक मृतक तथा चतुर्थ बार एक प्रसन्नचित सन्यासी को देखा। मानव को दुःखों में फंसा हुआ देखकर उनका मन खिन्न हो गया। बुढापा, व्याधि तथा मृत्यु जैसी गम्भीर सांसारिक समस्याओं ने उनके जीवन का मार्ग ही बदल दिया और इन समस्याओं के समाधान के लिए अपनी पत्नी एवं पुत्र को सोते हुए छोडकर 29 वर्ष की आयु में गृह त्याग दिया। इस गृह त्याग को बौद्धग्रन्थों में "महाभिनिष्क्रमण" कहा गया।

ज्ञान की खोज में गौतम बौद्ध एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमते रहे। सर्वप्रथम वैशाली के निकट "आलारकलाम" नामक तपस्वी के आश्रम में ज्ञानार्जन के लिए गये जो सांख्य दर्शन के आचार्य थे तथा अपनी साधना–शक्ति के लिए प्रसिद्ध थे। परन्तु वहाँ उनकी ज्ञान पिपासा शांत नहीं हुई। इसके बाद वे राजगृह के ही एक ब्राह्मण "उद्रक रामपुत्र" के पास गये। यहाँ भी उनको शान्ति नहीं मिली। यहाँ से वे उरूवेला (बोधगया) नामक स्थान पर पहुँचे।

यहाँ उन्हें पाँच ब्राह्मण साधक सन्यासी मिले। प्रारम्भ में इन्होंने कठोर तपस्या की जिससे इनका शरीर जर्जर हो गया। बाद में ऐसी साधना प्रारम्भ की जिसकी पद्धति, पहले की अपेक्षा सरल थी, इस पर इनके साथियों से मतभेद हो गये तथा वे उनका साथ छोड़ कर सारनाथ चले गये। छः वर्षों की साधना के पश्चात् 35 वर्ष की उम्र में वैशाख पूर्णिमा की रात को पीपल के वृक्ष के नीचे उन्हें ज्ञान (आन्तरिक ज्ञान) प्राप्त हुआ। तभी से वे "बुद्ध" नाम से विख्यात हुए। उस वृक्ष का नाम बोधिवृक्ष तथा उस स्थान का नाम बोधगया हो गया। ज्ञान प्राप्ति के पश्चात् बुद्ध अपने ज्ञान और विचारों को जन साधारण तक पहुंचाने के उद्देश्य से निकल पड़े और सारनाथ पहुँचे। यहॉ उन्होनें पांचों ब्राह्मण साथियों को अपने ज्ञान की, धर्म के रूप में दीक्षा दी। यह घटना बौद्ध धर्म के इतिहास में "धर्म चक्र–प्रवर्तन" के नाम से जानी जाती है। बुद्ध 45 वर्ष तक अपने धर्म का प्रचार करते रहे।

उन्होंने साधारण बोल चाल की भाषा को अपनाते हुए जाति–पाँति और ऊँच–नीच की भावना से दूर रहते हुए सभी को उपदेश दिये। अन्त में 80 वर्ष की आयु में 483 ई. पूर्व मल्ल गणराज्य की राजधानी कुशीनगर में अपना शरीर त्याग दिया। महात्मा बुद्ध के शरीर त्यागने की घटना को बौद्ध इतिहास में "महापरिनिर्वाण" कहा जाता है। बुद्ध का अन्तिम उपदेश था – " हे भिक्षुओं ! तुम आत्मदीप बनकर विचरो। तुम अपनी ही शरण में जाओ। किसी अन्य का सहारा मत ढूंढो। केवल धर्म को अपना दीपक बनाओ। केवल धर्म की शरण में जाओ।"

बौद्ध धर्म की शिक्षाएँ :–

महात्मा बुद्ध जगत् और जीवन को लेकर चले। उन्होंने जीवन को जैसा है, वैसा ही मानकर व्यवहारिक दृष्टिकोण से इसकी समस्याओं की खोज की। उनका धर्म व्यवहारिक धर्म था जो मनुष्य की उन्नति का साधन था। बौद्ध धर्म जीवन का विषय है और इसी जीवन में "निर्वाण" की बात कहता है। वह नितान्त बुद्धिवादी है और उसमें अन्धविश्वास तथा अन्धपरम्पराओं के लिए मूल रुप में कोई स्थान नहीं है। उनके धर्म का आधार, मानव का कल्याण था।

बौद्ध धर्म की आधारशिला उनके चार आर्य सत्य हैं और उनके अन्य सिद्धान्तों का विकास इन चार आर्य सत्यों पर ही हुआ है। चार आर्य सत्य निम्न लिखित है–

1. दुःख :– बुद्ध ने सम्पूर्ण मानवता को दुःखी देखा। उनका कहना था कि जीवन दुःखों तथा कष्टों से परिपूर्ण है जिन्हें हम सुख समझते हैं वे भी दुःखों से भरे हुए हैं। चारों और दुःख ही दुःख है।

2. दुःख समुदय :– प्रत्येक कार्य का कोई न कोई कारण होता है अतः दुःख का भी कोई कारण है। दुःख का कारण अविद्या है।

3. दुःख निरोध :– जिस प्रकार संसार में दुःख है, और दुःख का कारण है, उसी प्रकार दुःख निरोध भी सम्भव है। यदि दुखों के मूल कारण अविद्या का नाश कर दिया जाए तो दुःख भी नष्ट हो जाएगा। दुःख निरोध को ही निर्वाण कहा गया है।

4. दुःख निरोध का मार्ग :– कोई भी व्यक्ति बुद्ध द्वारा बताए मार्ग पर चल कर दुःखों पर विजय प्राप्त कर सकता है। दुःख से मुक्ति का मार्ग 'आष्टांगिक मार्ग' कहलाता है। ये आठ अंग निम्नलिखित है–

1. सम्यक् दृष्टि – अर्थात् चार आर्य सत्यों का यथार्थ ज्ञान तथा बुद्ध वचनों में श्रद्धा।
2. सम्यक् संकल्प – भोगवाद से मुक्त, दूसरों के साथ पूर्ण मैत्री करना तथा सभी के साथ कल्याण की भावना करना। आर्य मार्ग पर चलने का दृढ़ निश्चय।
3. सम्यक् वाचा (वाणी)– सत्य, परस्पर सद्भाव उत्पन्न करने वाला प्रिय एवं मित भाषण। यह वाणी की पवित्रता और सत्यता है।
4. सम्यक् कर्मांत – लोगों के लिए कल्याणकारी कर्मो का आचरण। अर्थात् हिंसा, द्वेष व दुराचरण का त्याग तथा सत्कर्मो का आचरण है।
5. सम्यक् आजीव – जीवन यापन के लिए ऐसा व्यवसाय करना, जिससे समाज को हानि न पहुँचे। अर्थात् शुभ एवं सत्य मार्ग से आजीविका चलाना।
6. सम्यक् व्यायाम (प्रयत्न) – बुरे विचारों को आने से रोकना तथा मन में स्थित सुविचारों को बढ़ाना। इन चार मानसिक प्रयत्नों को सम्यक् व्यायाम कहते हैं।
7. सम्यक् स्मृति – शरीर अपवित्र पदार्थो से बना है। इसका स्मरण, शरीर के सुख–दुःखादि वेदनाओं, चित्त का अवलोकन, इंद्रियों के विषय, बंधन तथा उनके नाश के उपायों का ठीक प्रकार से विचार करना सम्यक् स्मृति है।
8. सम्यक् समाधि – चित्त को एकाग्र कर ध्यान का सम्पादन करना।

मध्यम प्रतिपदा :– दुःखों से छुटकारा पाने के लिए महात्मा बुद्ध ने जो आष्टांगिक मार्ग बतलाया है वह न तो अत्यधिक शारीरिक कष्ट व क्लेश से युक्त कठोर तपस्या को उचित मानता है और न ही अत्यधिक सांसारिक भोग विलास को। दोनों की ही अतियाँ दुःख के कारण हैं। दोनों के बीच का मार्ग 'मध्यम मार्ग' बताया है, इसका अनुसरण करना चाहिए।

त्रि रत्न :– शील, समाधि और प्रज्ञा– ये त्रि रत्न हैं तथा इन्हें निर्वाण प्राप्ति का मार्ग बताया गया है।

पंचशील :– अहिंसा, अस्तेय, सत्य, अपरिग्रह तथा ब्रह्मचर्य,– ये पंचशील कहलाते है। ये नैतिक जीवन के आधार है तथा गृहस्थ तथा भिक्षुक दोनों के लिए आचरणीय हैं।

अनात्म एंव अनीश्वरवाद :– गौतम बुद्ध ने बताया कि संसार में प्रत्येक वस्तु परिवर्तनशील अस्थायी, गतिशील है। बौद्धधर्म में इसे अनित्यवाद या "क्षणिकवाद" का सिद्धान्त कहा गया है। अतः आत्मा जैसी कोई नित्य वस्तु नहीं है। अतः उन्होंने आत्मा के अस्तित्व को अस्वीकार कर दिया। उन्होंने ईश्वर के अस्तित्व को भी स्वीकार नहीं किया।

कर्मवाद एंव पुनर्जन्मवाद :– बौद्ध धर्म कर्मवाद को मानता है। उनका कहना है कि मनुष्य जैसा कर्म करता है वैसा ही फल भोगता है। वे मनुष्यों की समस्त कायिक, वाचिक, और मानसिक चेष्टाओं को कर्म मानते थे। यही कर्म सुख–दुःख के दाता हैं। पुनर्जन्म के बारे में बौद्ध मत है कि मनुष्य का जीवन उसके कर्मो के अनुसार अच्छा या बुरा होता है। पुनर्जन्म आत्मा का नहीं अपितु अहंकार का होता है। जब मनुष्य की तृष्णाएँ एंव वासनाएँ नष्ट हो जाती हैं, तब वह पुनर्जन्म के चक्र से मुक्त हो जाता है।

कार्य–कारण संबंध :– प्रत्येक कार्य का कोई कारण होता है। बौद्ध धर्म का कार्य–कारण का सिद्धान्त प्रतीत्य–समुत्पाद के नाम से भी जाना जाता है। 'प्रतीत्य' का अर्थ है 'अपेक्षा रखकर' तथा 'समुत्पाद' का अर्थ है– 'उत्पत्ति', अतः प्रतीत्य–समुत्पाद का अर्थ हुआ– कारण पर निर्भर रहकर कार्य की उत्पत्ति।

बौद्ध धर्म के अन्तर्गत इस सिद्वान्त के तीन सूत्र बताये हैं :–

1. इसके होने पर यह होता है।
2. इसके न होने पर यह नहीं होता।
3. इसका निरोध होने पर यह निरूद्ध हो जाता है।

इस कार्य–कारण की श्रंखला के 12 क्रम बताये हैं

1. अविद्या
2. संस्कार
3. विज्ञान (चैतन्य)
4. नाम रूप
5. षडायतन (पांचों इन्द्रियों तथा मन समूह)
6. स्पर्श
7. वेदना
8. तृष्णा
9. उपादान (सांसरिक विषयों में लिपटे रहने की इच्छा)
10. भव (शरीर धारण करने की इच्छा)
11. जाति (शरीर धारण करना)
12. जरा–मरण

इस श्रंखला को "द्वादश निदान" या "भव चक्र" भी कहते हैं। मरण इस चक्र का अंत नहीं है। मरण के बाद भी अविद्या और कर्म संस्कार रहते है जो नये जन्म का कारण बनते हैं। इस प्रकार यह चक्र चलता रहता है।

मोक्ष :– बौद्ध धर्म में जीवन का अन्तिम लक्ष्य निर्वाण (मोक्ष) है। इसका शाब्दिक अर्थ बुझ जाना या शान्त हो जाना है। दुःख के मूल कारण तृष्णा के बुझ जाने पर निर्वाण की स्थिति आ जाती है। निर्वाण की प्राप्ति पर मनुष्य जन्म–मृत्यु के बंधनों से मुक्त हो जाता है।

बौद्ध धर्म का प्रचार एवं विकास :– गौतम बुद्ध ने बौद्ध धर्म का प्रचार योजनाबद्व तरीके से किया। वे वर्षा ऋतु में विभिन्न नगरों में विश्राम करते तथा शेष ऋतुओं में एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूम–घूम कर अपने मत का प्रचार करते। उन्होंने अपने मत के प्रचार के लिए बौद्ध संघ और बौद्ध विहारों की स्थापना की। यही कारण रहा कि गौतम बुद्ध के समय और कालान्तर में राज्याश्रय के कारण बौद्ध धर्म का प्रचार भारत में ही नहीं अपितु चीन, जापान, श्रीलंका, तिब्बत, इण्डोनेशिया, बर्मा (म्यांन्मार), कोरिया, नेपाल, मंचूरिया सुमात्रा, मलाया, कम्बोडिया तथा वियतनाम आदि देशों में हुआ। अशोक और कनिष्क ने तो बौद्ध धर्म के प्रसार के लिए अथक प्रयास किया। चीनी यात्री ह्वेनसांग ने हर्ष के समय 10 हजार बौद्ध विहारों का उल्लेख किया है। जिनमें 75 हजार भिक्षु– भिक्षुणियाँ रहते थे। नालन्दा बौद्ध धर्म

का प्रमुख केन्द्र था। बौद्ध संघ द्वारा उनके मत का अधिक प्रचार प्रसार हुआ।

महात्मा बुद्ध की शिक्षाओं को लेखबद्ध करने और बौद्ध धर्म भिक्षुओं में आ रहे मतभेद को दूर करने तथा बौद्ध धर्म के प्रचार–प्रसार के लिए चार बौद्ध संगीति अथवा महासभाओं का आयोजन हुआ।

प्रथम बौद्ध संगीति – बुद्ध की मृत्यु के तत्काल बाद राजगृह की सप्तपर्णि गुफा में आयोजित की गई थी। इस समय मगध का शासक अजातशत्रु था। इस संगीति की अध्यक्षता महाकस्यप ने की तथा बौद्ध की शिक्षाओं का संकलन किया जिन्हें सुत्त पिटक व विनय पिटकों में बांटा गया। सुत्त पिटक का संकलन आनन्द ने किया और इसमें बौद्ध धर्म के सिद्धान्त रखे गये। दूसरा विनय पिटक जिसका संकलन उपालि ने किया जिसमें भिक्षुओं के आचार–विचार के नियम थे।

द्वितीय बौद्ध संगीति :– द्वितीय बौद्ध संगीति का आयोजन कालाशोक के शासन काल में गौतम बुद्ध की मृत्यु के 100 वर्ष बाद 383 ई. पू. वैशाली में किया गया। इस सभा को बुलाने का कारण बौद्ध भिक्षुओं में आये मत–भेदो ं को दूर करना था। इस बौद्ध संगीति के बाद भिक्षु संघ दो संम्प्रदायों में बंट गया। एक परम्परागत नियम में आस्था रखने वालों का सम्प्रदाय जिसका नेतृत्व महाकच्चान ने किया, स्थाविर अथवा थेरवादी कहलाया तथा दूसरा, जिसका नेतृत्व महाकस्यप कर रहा था, जो परिवर्तन के साथ विनय को स्वीकार करने वालों का सम्प्रदाय, महासांघिक अथवा सर्वास्तिवादी कहलाया।

तृतीय बौद्ध संगीति :– यह महासभा मौर्य शासक अशोक के काल में पाटलिपुत्र में बुलाई गई।इसकी अध्यक्षता मोगलीपुत्त तिस्त ने की। उन्होने कथावत्थु नामक ग्रन्थ का संकलन किया, जो अभिधम्म पिटक का भाग है। जिसमें बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों की दार्शनिक व्याख्या मिलती है।

चतुर्थ संगीति :– यह सभा कुषाण शासक कनिष्क के समय कश्मीर के कुण्डलवन में हुई। इसकी अध्यक्षता वसुमित्र ने की तथा अश्वघोष इसके उपाध्यक्ष थे। इसमें बौद्ध ग्रन्थों के कठिन अंशों पर सम्यक् विचार–विमर्श हुआ। इसी समय बौद्ध धर्म हीनयान और महायान दो स्पष्ट एवं स्वतन्त्र सम्प्रदायों में विभाजित हो गया।

बौद्ध धर्म के प्रमुख संम्प्रदायः– 1. हीनयान 2. महायान 3. वैभाषिक सम्प्रदाय 4. सौत्रान्तिक सम्प्रदाय 5. माध्यमिक (शून्यवाद) सम्प्रदाय 6. विज्ञानवाद (योगाचार) सम्प्रदाय 7. वज्रयान सम्प्रदाय।

बौद्ध धर्म की विश्व संस्कृति को देन

इस धर्म ने भारत ही नहीं विश्व संस्कृति के विभिन्न पक्षों को प्रभावित किया।

1. इस धर्म ने सर्वप्रथम विश्व को एक सरल तथा आडम्बर रहित धर्म प्रदान किया। जिसका अनुसरण अमीर–गरीब सभी कर सकते थे। धर्म के क्षेत्र में अहिंसा एवं सहिष्णुता का पाठ पढाया। बौद्ध धर्म ने युद्व विजय की नीति को त्याग कर धम्मविजय की नीति को अपनाया तथा लोक कल्याण का आदर्श समस्त विश्व के समक्ष प्रस्तुत किया।

2. बौद्ध धर्म के उपदेश तथा सिद्धान्तों को पाली तथा स्थानीय भाषाओं में लिपिबद्ध किया गया, जिससे स्थानीय भाषाओं का विकास हुआ।

3. बौद्ध संघों के संचालन में जनतान्त्रिक प्रणाली को अपनाया गया था जिसको बाद में राज शासन में भी अपनाया गया।

4. बौद्ध धर्म ने भारत ही नहीं विश्व के देशों में अहिंसा, शान्ति, बन्धुत्व, सह–अस्तित्व का आदर्श प्रस्तुत किया। इसी कारण भारत का विश्व के देशों पर नैतिक आधिपत्य कायम हुआ।

5. बौद्ध धर्म ने विश्व के लोगों को समानता का आधार प्रदान किया तथा नैतिक स्तर पर ऊँचा उठाने, जन–जीवन में सदाचार एवं सच्चरित्रता की भावना का विकास को प्रधानता दी।

6. बौद्ध धर्म ने तर्क शास्त्र का विकास किया तथा बौद्ध

दर्शन में शून्यवाद तथा विज्ञानवाद की दार्शनिक पद्धतियों का उदय हुआ जिसका विश्व के दर्शन में उच्च स्थान है।

7. बौद्ध धर्म ने भारत के सांस्कृतिक सम्बन्ध विश्व के विभिन्न देशो से बनाये। भारत के बौद्ध भिक्षुओं ने विश्व के विभिन्न भागों में जा कर बौद्ध धर्म की शिक्षाओं और सिद्धान्तों का प्रचार किया। महात्मा बुद्ध की शिक्षाओं से आकर्षित होकर अनेक विदेशी यात्रियों ने बौद्ध धर्म ग्रहण किया जिसमें प्रमुख शक, पार्थिय, कुषाण आदि थे। यवन के शासक मिनेण्डर तथा कुषाण शासक कनिष्क ने बौद्ध धर्म को राज धर्म बनाया। अनेक विदेशी विद्वानों ने बौद्ध धर्म के अध्ययन करने तथा पवित्र बौद्ध स्थलों को देखने के लिए भारत की यात्रायें की। फाहियान, ह्वेनसांग तथा इत्सिंग आदि चीनी यात्रियों ने भारत में वर्षो तक निवास किया तथा बौद्ध धर्म का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त किया।

8. बौद्ध धर्म की महत्व पूर्ण देन कला एवं स्थापत्य के विकास में रही है। इस धर्म की प्रेरणा से भारत ही नहीं विश्व में अनेक स्तूप, विहार, चैत्यगृह, गुहायें, मूर्तियाँ आदि बनाई गई। जिन्होंने भारत के साथ–साथ विश्व कला को समृद्ध बनाया। सांची, सारनाथ, भरहुत आदि के स्तूपों तथा अजन्ता की गुफाओं के चित्र तथा मूर्तियाँ अनुपम है।

9. वृहत्तर भारत के निर्माण में योगदान :– भारत से बाहर देशों में भारतीय संस्कृति का प्रचार–प्रसार हुआ उन देशों को सम्मिलित रूप से वृहत्तर भारत या सांस्कृतिक भारत कहा जाता है। इस कार्य में बौद्ध प्रचारकों ने अपूर्व साहस, समर्पण भाव से पूर्ण योगदान दिया। अशोक ने बौद्ध धर्म प्रचारकों को विदेशों में भेजने की शुरूआत की थी।

इस्लाम धर्म

सातवीं शताब्दी के आरम्भ में अरब में एक धर्म आन्दोलन की शुरूआत हुई, जिसने कबीलों और जातियों में बिखरे अरब वासियों को संगठित किया और बाद में एक विशाल साम्राज्य की नींव डाली। यह धार्मिक आन्दोलन विश्व में इस्लाम धर्म के नाम से जाना जाने लगा।

अरब के अधिकांश लोग कबीले के रूप में चारागाह तथा आजीविका की खोज में इधर– उधर घूमते रहते थे। प्रत्येक नगर और कबीले का अलग–अलग नेता होता था, जिसे शेख कहते थे। यह नेता कबीले और नगर का शासक होता था। यहाँ के प्रत्येक नगर व कबीले के अलग–अलग कानून और रीति–रिवाज होते थे। इन कबीलो में एकता और राष्ट्रीयता का पूर्ण रूप से अभाव था। इनमें प्रादेशिक भावना प्रबल थी इसलिए ये आपस में लड़ते रहते थे। अरब लोग बहुदेववाद में विश्वास रखते थे। प्रत्येक कबीले का अलग–अलग देवता होता था।

इस्लाम धर्म के संस्थापक हजरत मोहम्मद थे। इनका जन्म 570 ई. में अरब प्रायद्वीप के मक्का नगर में हुआ था। इनके पिता का नाम अब्दुल्ला तथा माता का नाम आमिना था। ये कुरैशी नामक कबीले से सम्बन्धित थे। मुहम्मद के बचपन में ही उनके माता–पिता का देहान्त हो गया था। इनका लालन–पालन चाचा अबूतालिब के द्वारा किया गया था। इनका प्रारम्भिक जीवन सुख–सुविधाओं से वंचित रहा। जीवन के प्रारम्भिक काल में ये ऊँट तथा भेड़–बकरियाँ चराया करते थे। बड़े होने पर उन्होंने व्यापार करना प्रारम्भ कर दिया तथा अपनी ईमानदारी के लिए प्रसिद्व थे। बाद में एक धनी महिला व्यापारी के सम्पर्क आने पर इन्होंने उसके यहाँ नौकरी कर ली। 25 वर्ष की उम्र में अपने से बड़ी 40 वर्षीय इसी विधवा महिला खदीजा से विवाह कर लिया। इस प्रकार वे एक समृद्ध व्यापारी बन गये और लौकिक सुविधाओं की सारी वस्तुऐं सुलभ हो गई। किन्तु मोहम्मद का मन सांसारिक भोग–विलास में नहीं लगा और वे आध्यात्मिक चिन्तन में लीन रहने लगे। मक्का के नजदीक हिरा की पहाड़ी गुफा में बैठकर वे ध्यान लगाते तथा अलौकिक सत्ता के बारे में चिन्तन करते रहते थे। उन्हें ध्यान करते हुए देवदूत जिब्राईल के माध्यम से अल्लाह का पैगाम मिला कि सत्य का प्रचार करें। जिब्राइल ने उन्हें नये धर्म की स्थापना करने और उस धर्म का पैगम्बर बनने का सन्देश दिया। उस समय अरब में सब जगह अन्धविश्वास और अज्ञानता का बोलबाला था। कुछ अरबवासी बहुदेवों, भूतप्रेतों आदि में विश्वास करते थे। मुहम्मद ने मूर्तिपूजा का विरोध किया तथा "एक अल्लाह" की अवधारणा वाले मज़हब का उपदेश दिया।

हजरत मुहम्मद को एक के बाद एक अल्लाह के संदेश प्राप्त हुए जिनसे उन्हें पूरा विश्वास हो गया कि अल्लाह ही की एक मात्र सत्ता है, स्वयं वे ही एक मात्र अल्लाह के पैगम्बर हैं। उन्होंने लोगों के सामने वे सभी अलौकिक बातें रखी, जो अल्लाह के सन्देश के रुप में सुनी थी। पारम्परिक धार्मिक व्यवस्था में विश्वास रखने वाले लोग उनके शत्रु बन गये। अन्त में ऐसी परिस्थितियाँ बन गईं कि 622 ई. में उन्हें मक्का छोड़कर मदीना जाना पड़ा। इसी घटना को "हिजरत" कहते हैं। इसी दिन से (622 ई. से) हिजरी संवत् प्रारम्भ होता है। इस्लाम धर्म मानने वाले इस वर्ष को हिजरी कहते हैं। सेवाइन ने लिखा है कि "उनका मदीना पलायन, जिसे हिज्र कहा जाता है, इस्लाम के विकास में परिवर्तन का केन्द्र था क्योंकि इसी समय से उसका प्रचार शुरू हुआ।" हजरत मुहम्मद की मृत्यु 632 ई. में हुई। हजरत मुहम्मद अपनी आय का अधिकांश भाग दान कर देते थे। उन्होंने अपने जीवन में इस्लाम के सिद्धान्तों का प्रचार किया।

हजरत मुहम्मद की शिक्षाएँः–

हजरत मुहम्मद के जीवन–व्यवहार के उदाहरणों व उनके कथनों का संकलन उनके शिष्यों के द्वारा "हदीस" नामक ग्रन्थों में किया गया एवं इस्लाम के सिद्धान्तों का संकलन उनके शिष्यों द्वारा "कुरान" नामक ग्रन्थ में किया गया। कुरान में इस्लाम धर्म के वे सिद्धान्त हैं, जो मुहम्मद साहब को अल्लाह से प्राप्त हुए थे। कुरान शरीफ में 144 सुरा (अध्याय) हैं। कुरान और हदीस दोनों ही पुस्तकें मुसलमानों के पवित्र धार्मिक ग्रन्थ हैं।

1. इस्लाम धर्म के अनुसार अल्लाह एक है जो सर्व शक्तिमान है। हजरत मुहम्मद उसके एक मात्र पैगम्बर हैं ।

2. हजरत मुहम्मद ने अरब में प्रचलित मूर्ति पूजा का विरोध किया ।

3. हजरत मुहम्मद ने प्रत्येक मुसलमान को पाँच कर्त्तव्यों का पालन करने का आदेश दिया–

(i) कलमा पढ़ना (शहादहः) – '' अल्लाह एक है और मुहम्मद उसका पैगम्बर है'' यही इस्लाम का मूल मंत्र है। अल्लाह के एकत्व और मुहम्मद के प्रेषितत्व पर श्रद्धा का प्रमाण देना 'शहादहः' कहलाता है ।

(ii) नमाज पढ़ना (सलातः) – इस्लाम के अनुयायियों को पाँच बार नमाज पढ़ना चाहिये। पाँचों नमाजों के समय (i) फज्र– सूर्योदय से पूर्व (ii) जोहर– मध्याह्न (iii) अस्र– अपराह्न (iv) मगरीब– सूर्यास्त के समय (v) इशा– रात्रि काल में । शुक्रवार को दोपहर में सभी मुसलमानों को सामूहिक रूप से एक साथ नमाज पढ़नी चाहिये ।

(iii) रोजा रखना (सौमः) –शारीरिक दृष्टि से सक्षम हर मुसलमान को प्रति वर्ष रमजान के महीने में रोजे रखने चाहिये। अरबी भाषा के सौमः शब्द का फारसी पर्याय रोजा है। सूर्योदय से सूर्यास्त तक का उपवास रोजा कहलाता है।

(iv) जकात (जकातः) – इसका शाब्दिक अर्थ शुद्धिकरण' तथा पारिभाषिक अर्थ 'कुरान प्रणीत धर्म कर' है। इस्लाम के अनुयायियों को प्रतिवर्ष अपनी आय का 40 वां हिस्सा जकात (दान) देना चाहिये ।

(v) हज (हज्जः) – प्रत्येक मुसलमान को जीवन में एक बार हज (मक्का व मदीना की तीर्थ यात्रा) अवश्य करना चाहिये ।

4. इस्लाम की मान्यता है कि मनुष्य को मृत्यु के पश्चात अपने कर्मो के अनुसार जन्नत या जहन्नुम में जाना पड़ता है ।

5. इस्लाम के अनुसार खुदा की इबादत के लिए किसी मध्यस्थ की आवश्यकता नहीं है।

6. इस्लाम पुनर्जन्म को नहीं मानता।

काबा :–

"काबा" मक्का की विशाल मस्जिद में बनी संगरमरमर की एक छोटी सी इमारत है जिसका निर्माण सच्चे अल्लाह की इबादत (अराधना) के लिए अब्राहम ने करवाया था। इसी इमारत में एक

पवित्र "काला पत्थर" भी लगा है जिसके बारे में मान्यता है कि उसे जन्नत से आदम के साथ ही धरती पर फेंका गया था, तथा "काबा" के निर्माण के समय "जिब्राइल" ने उसे अब्राहम को दिया था। यह पत्थर काबा की मस्जिद में आज भी लगा हुआ है। हाजी इसकी जियारत करते हैं। यह नियम है कि प्रत्येक मुसलमान जहाँ कहीं भी हो, उसे सदैव काबा की ओर मुँह करके नमाज पढ़नी चाहिये। इसे किबला कहते हैं।

इस्लाम के मूल सिद्धान्त –

इस्लाम शब्द का अरबी भाषा में अर्थ– 'समर्पण' (अल्लाह के प्रति) तथा 'शांति' होता है। जो व्यक्ति इस्लाम में श्रद्धा रखता है, 'मोमिन' कहलाता है। इस्लाम के मूलभूत श्रद्धा बिन्दुओं को 'उसूले दीन' कहते हैं, जो इस प्रकार हैं–

1. तौहीद– एक ईश्वर (अल्लाह) पर अविचल श्रद्धा। अल्लाह के साथ किसी अन्य को भागीदार बनाना 'शिर्क' कहलाता है जैसे–

(i) अल्लाह का अस्तित्व किसी अन्य में या विपरीत कल्पना करना।

(ii) किसी अन्य को अल्लाह के समकक्ष मानना।

(iii) किसी को अल्लाह का पिता या पुत्र मानना।

(iv) अल्लाह के गुण विशेष में किसी को सहभागी मानना।

(v) 'शिर्क' करने वाला व्यक्ति 'मुशरिक' कहलाता है।

2. रिसाल्लाह या नुबूवत – अल्लाह के बाद इस्लाम में सबसे महत्वपूर्ण शब्द 'रसूल' अथवा 'नबी' है। रसूल का अर्थ प्रेषित या भेजा हुआ होता है। अर्थात अल्लाह का संदेश लोगों तक पहुँचाने के लिए भेजा हुआ दूत'। नबी का अर्थ पद चिह्न अर्थात् जिसका अनुसरण किया जाना चाहिए। हजरत मुहम्मद को सन् 610 ई. में नुबूवत मिली तथा इन्हें अंतिम पैगम्बर मानते हैं।

3. मलायकह– फरिश्ते, ईशदूत पर श्रद्धा 'मलायकह' कहलाती है। सातवें आसमान पर अल्लाह के सिंहासन के निकट चार फरिश्ते 'हमलत अल अर्ष' कहलाते है। अल्लाह की स्तुति करने वाले फरिश्ते करुबियून, इनके पश्चात् जिब्रील, मिकाईल आदि फरिश्तों का क्रम आता है। अल्लाह से पैगम्बर तक कुरान का अवतरण जिब्राइल द्वारा हुआ था। फरिश्तों की संख्या अनगिनत है।

4. कुतुबुल्लाह – इस शब्द का अर्थ है– अल्लाह के ग्रंथों पर श्रद्धा रखना। जिनके पास अल्लाह के ग्रंथ हैं, वे 'किताब वाले' कहलाते हैं जैसे– मुसलमान, ईसाई, यहूदी। इस्लामिक मान्यता के अनुसार इन सबमें कुरान ही शुद्ध है।

5. योग अल्–कियामह – अल्लाह के निर्धारित किए समय तक मनुष्य अल्–दुनिया (पृथ्वी लोक) में रहता है। मृत्यु के बाद का समय उसे कब्र में बिताना होगा, इसे 'बरझख' की स्थिति कहते हैं। इसके बाद की स्थिति 'योग अल्–कियामह' (पुनरुत्थान दिवस) आती है अर्थात् कयामत (प्रलय) के दिन सभी को जीवित किया जाएगा और अल्लाह के सामने लाया जाएगा और कर्मानुसार जन्नत या जहन्नम में भेजा जाएगा।

6. अल्–कद्र – अल्लाह की योजनानुसार सब घटित होता है और आगे भी होगा, इस श्रद्धा को 'अल् कद्र' कहते हैं।

7. मिशाक – इसका अर्थ 'इकरारनामा' (अनुबंध) है। अल्लाह अपने चयनित लोगों से अनुबंध करता है। वर्तमान में 'उम्मतु मुहम्मदी' अर्थात मुसलमान अल्लाह के अनुबंधित, चयनित लोग हैं, ऐसी इस्लाम की मान्यता है।

इस्लाम के फिरके – हजरत मुहम्मद की मृत्यु के बाद उनके ससुर अबु बक्र को प्रथम खलीफा बनाया गया। किंतु इस चयन से सभी लोग प्रसन्न नहीं थे। कुछ लोग हजरत मुहम्मद के भतीजे तथा दामाद अली को प्रथम खलीफा बनाना चाहते थे। यहीं से मुस्लिमों में शिया–सुन्नी विभाजन हुआ। शिया प्रथम तीन खलीफाओं (अबु बक्र, उमर और उस्मान) को नहीं मानते। इस्लामी परिभाषा में 'शिया' शब्द 'शियत अली' (अली का पक्ष

या गुट) का लघु रुप है। 'सुन्नाह' (पैगम्बर की परम्परा) शब्द से 'सुन्नी' शब्द बना। इस्लाम में 73 फिरकों की बात की जाती है। शियाओं के फिरके इमामी, फातिमी, जाफरी अथवा अशरियाह, इस्माईली, नज्जरिया, मुस्तालिया (क्रमशः खोजा, बोहरा कहलाए) बोहरा में भी दाउदी, सुलेमानी आदि उप विभाजन हैं। भारत में हनफी सुन्नी भी देवबंदी व बरेलवी गुट में बँटे हैं।

ईसाई धर्म

उद्‌भव और विकास:– ईसाई धर्म के प्रवर्तक ईसा एक यहूदी थे। उनके जीवन का प्रामाणिक वर्णन तो उपलब्ध नहीं है लेकिन ' न्यूटेस्टामेन्ट' (बाईबल का नया नियम) के आधार पर इतनी जानकारी अवश्य मिलती है कि बचपन से ही उनकी धार्मिक ग्रंथों को पढ़ने में रूची थी। ईश्वर को समझने और सत्य की खोज करने की जिज्ञासा उनके हृदय में प्रारम्भ से ही थी। जब भी उनको समय मिलता तो विद्वानों व सन्तों से बातचीत करते थे। ईसाई धर्म के मनाने वालों की मान्यता के अनुसार ईसा मसीह का जन्म बेथलेहम (जोर्डन) में कुमारी माता मरियम के गर्भ से हुआ था। उनके पिता युसुफ थे जो पेशे से बढई थे।

आध्यात्मिक जीवन :– ईसा के जीवन की मुख्य घटना यहुन्ना से मिलना था। यहुन्ना भी यहूदी था और जोर्डन नदी के तट पर निवास करता था। ईसा ने उनसे दीक्षा ली। यहीं से ईसा मसीह के आध्यात्मिक जीवन की शुरूआत मानी जाती है। जब यहुन्ना को शासकों द्वारा कैद कर लिया गया तब ईसा मृत सागर और जोर्डन नदी के निकटवर्ती प्रदेशों में उपदेश देते रहे। ईसा मसीह ने कहा कि संसार में पाप का राज्य है शैतान यहाँ का राजा है सभी उसकी आज्ञा का पालन करते हैं। शासक महात्माओं को मरवा देता है। विद्वान और महात्मा लोग जैसा कहते है, वैसा आचरण नहीं करता है। भले लोगों को इस संसार में न्याय तक नहीं मिलता है। पाप का घड़ा भर गया है और फूटने वाला है। ईसा मसीह लोगों को छोटी–छोटी कथाओं के माध्यम से प्रेम, दया, क्षमा, भाई चारे, शान्ति, अहिंसा का उपदेश देते थे। वे हमेशा यही कहते थे कि '' तुझे केवल प्रेम करने का अधिकार हैं।'' इंसान को स्वार्थ भावना का त्याग करना चाहिए।

अन्तिम भोजः– ऐसी कथा है कि ईसा मसीह ने एक दिन अपने शिष्यों के साथ भोजन करते हुए अपने हाथ से शिष्यों को रोटी दी और कहा '' लो इसे खाओ यह मेरा शरीर है, तुम्हारे लिए दिया जाता है, ''इसके बाद उन्होंने अंगूरों का रस देते हुए कहा कि '' यह मेरा रक्त है, इसे पी जाओ। यह पापियों की क्षमा के लिए तब तक बहाया जाएगा, जब तक प्राणियों का उद्धार न हो जाए। अन्तिम भोजन के बाद वे अपने शिष्यों के साथ घूम रहे थे लेकिन मन की बैचेनी बढ़ने के कारण उनका साथ छोड़कर एकान्त में चले गये। उन्होंने प्रार्थना में ईश्वर से कहा कि '' दुःख उठाना और मरना मनुष्य के लिए दुख दायी है। हे पिता, यदि तेरी इच्छा हो तो ऐसा ही होगा। '' लौट कर अपने शिष्यों से कहा वह समय आ गया है कि जब एक विश्वासघाती मुझे शत्रुओं के हाथों सौंप देगा। तब ही जूड़ास नामक शिष्य उनकी गिरफ्तारी के लिए सशस्त्र सिपाहियों को साथ लेकर आ गया और ईसा को गिरफ्तार कर लिया गया। ईसा की गिरफ्तारी के बाद रोमन अदालत में मुकदमा चलाया गया तथा यहूदियों के प्रधान पुरोहित कैफस ने ईसा पर आरोप लगाया कि उसने अपने को "ईश्वर का पुत्र कह" कर 'जेहोवा' देवता का अपमान किया है । कैफस ने उन्हें राजद्रोही, धर्म विरोधी और पाखण्डी घोषित कर दिया । इसके बाद उसे रोमन गवर्नर 'पाइलेट' के यहाँ भेज दिया गया। पाइलेट ने जीसस को राजद्रोही एवं अपराधी मान कर सूली की सजा दे दी ।

सूली पर चढ़ाने से पहले ईसा को घोर यातनायें दी गई। सूली के तख्त को ढ़ोना पड़ा और कांटों के ताज को पहनाया गया । 29 ई. में बसन्त ऋतु में शुक्रवार को यरूसलम के बाहर गोलगाथा नामक स्थान पर ईसा को सूली पर चढ़ा दिया गया । उस समय जीसस ने ईश्वर से प्रार्थना की ''हे ईश्वर इन्हें क्षमा करना, क्यों कि ये नहीं जानते कि ये क्या कर रहे हैं।''

ईसाईयत के विश्वास के अनुसार ईसा ने अपनी मृत्यु के बाद पुनर्जीवित होकर चालीस दिन तक अपने शिष्यों को दर्शन दिये और उन्हें अपने उपदेशों के प्रचार के लिए कहा। मृत्यु के बाद पुनः प्रकट या जीवित होकर उपदेश देने की घटना को ईसाई धर्म में ''रिसरेक्सन' कहा जाता है। ऐसी मान्यता है कि जीसस मृत्यु के तीसरे दिन रविवार को जीवित हुए थे, तब से इसाई उस रविवार को "इस्टर सण्डे" के रूप में मानते हैं ।

ईसा के शिष्यों ने ईसा के उपदेशों का जरूसलम, जूडिया गेलिली, एशिया माइनर तथा मिस्र आदि देशों में प्रचार किया। ईसा के उपदेश ईसाईयत के सिद्धान्त बन गये और इन सिद्धान्तों में विश्वास करने वाले व्यक्ति ईसाई कहलाये ।

ईसा की शिक्षायें :–

1. पृथ्वी पर ईश्वर की सत्ता है
2. मनुष्य ईश्वर–प्रेम से पवित्र होकर, ईश्वर में पूर्ण आस्था रख कर, ईश्वर–राज्य की स्थापना कर सकता है।
3. ईसा मसीह ईश्वर को पिता और अपने को ईश्वर का पुत्र मानते थे।
4. ईश्वर एक है अनादि और अनन्त है और सर्वशक्तिमान है।
5. ईश्वर के स्वरूप को कोई मूर्ति व्यक्त नहीं कर सकती।
6. ईसा मसीह मनुष्य को पवित्र बनने ईश्वरीय आराधना करने तथा ईश्वरीय नियमों के अनुसार जीवन जीने का उपदेश देते हैं।
7. पाप के कारण मनुष्य की दुर्गति देख कर ईश्वर ने मुक्ति का मार्ग बताया तथा उस मार्ग को तैयार करने के लिए उसने यहूदी जाति को ही अपनी प्रजा के रूप में ग्रहण किया है। अर्थात् यहूदी ईश्वर के चुने हुए लोग हैं।

8. एक ही ईश्वर में तीन व्यक्ति हैं– पिता (गॉड), पुत्र (जीसस) और पवित्र आत्मा (होली घोस्ट)। तीनों समान रूप से अनादि, अनन्त और सर्वशक्तिमान हैं क्योंकि वे एक ही तत्व के अंश हैं। इसे 'ट्रिनिटि (त्रित्व) का सिद्धान्त' कहते है।

9. मनुष्य की अमर आत्मा एक ही बार मानव शरीर धारण कर संसार में जीवन व्यतीत करती है। ईसाई मत का मानना है कि कयामत (डूम्स डे) के दिन सभी मनुष्य सशरीर जी उठेंगें और ईसा उनका न्याय करने के लिए स्वर्ग से आएगे। जो ईसा की शरण में आए, वे 'पैराडाइज' (स्वर्ग) में तथा पापी 'हेल' (नरक) में जाएँगे।

10. ईसाईयत में पुनर्जन्म को नहीं मानते।

11. ईसा को अपना तारक मानने वालों को ईसा पाप से मुक्त करता है। वह पापियों की मुक्ति के लिए ही सूली पर चढ़े। मनुष्य मूलतः पापी है, इसे 'ऑरिजनल सिन' कहते हैं।'

ईसाईयत के संस्कार :–

ईसा ने जीवन के कुछ नियम बनाये जिन्हें संस्कार कहते है ईसाईयत के संस्कारों को बाइबिल में ''सेक्रामेन्ट'' कहा जाता है । सैक्रामेन्ट संख्या में सात हैं – संत आगस्टाइन ने पाँचवी शताब्दी में सेक्रामेन्टो की परिभाषा इस प्रकार व्यक्त की – ''सैक्रामेन्ट एक आन्तरिक ईश्वर प्रार्थना व गौरव की बाहरी या लौकिक प्रदर्शनी है ।'' इन सेक्रामेन्टों में गिरजाघरों को ईसा का प्रतीक बताया गया और दैनिक जीवन में इनके पालन पर जोर दिया गया ।

1. नामकरण – इस संस्कार को बैपटाइजेशन (बपतिस्मा) कहते हैं। जब बालक तीन वर्ष का हो जाता है तो पादरी पवित्र जल छिड़ककर उसका नाम रखता हैं। इसे नामकरण संस्कार कहते हैं। इस संस्कार से बालक ईसाई रिलिजन का अनुयायी हो जाता हैं । यह किसी भी व्यक्ति को ईसाई घोषित करने का संस्कार हैं।

2. प्रमाणी करण – इसे कनफरमेशन संस्कार भी कहते हैं। जब बालक 12 वर्ष का हो जाता है तब उसके नाम की सार्वजनिक घोषणा की जाती है । इसे प्रमाणीकरण संस्कार कहते है । इस संस्कार से उसके ईसाई होने की पुष्टि होती है।

3. प्रभु का भोजन – ईसा ने अपनी मृत्यु से पूर्व अपने बारह अनुयायियों के साथ भोजन किया था। इस दिन को ईसाई लोग पवित्र त्यौहार कहते हैं । सभी एक साथ बैठकर भोजन करते हैं ।

4. प्रायश्चित– ईसाईयत के अनुसार यदि कोई भी अपराधी पादरी के समक्ष ईसा से अपने अपराधों की क्षमा मांग ले तथा बुरे कर्मो का प्रायश्चित कर ले तो

ईश्वर उसको क्षमा कर देता है। इसमें 'कन्फेशन' या पापों की स्वीकृति तथा 'पेनेंस' या प्रायश्चित, यह क्रम रहता है।

5. अन्तिम स्नान – इस संस्कार में मरणासन्न मनुष्य को अन्तिम पवित्र स्नान करवाया जाता है ताकि उसकी आत्मा से सांसारिक दाग साफ हो जाएं ।

6. दीक्षा –यदि कोई व्यक्ति 18 वर्षों की आयु से अधिक हो और पादरी बनना चाहता हो, तो उसे दीक्षा दी जाती है जिससे ''औरडीनेशन'' (ईश्वरीय अनुकम्पा) दीक्षा संस्कार कहते है ।

7. विवाह– इस संस्कार में स्त्री और पुरूष के वैवाहिक बंधन में, बधने के पश्चात उनके गृहस्थ जीवन में प्रवेश को मान्यता दी जाती है।

ईसाईयत का प्रमुख ग्रन्थ बाइबिल है। ओल्ड टेस्टामेन्ट (पुराना नियम) व न्यू टेस्टामेन्ट (नया नियम) से मिलकर बाइबिल बनी है। आरम्भ में ईसाई यहूदियों के मूलग्रन्थ ओल्ड टेस्टामेंट को अपना पवित्र ग्रन्थ मानते हैं क्योंकि उनके कई सिद्धान्त इस ग्रन्थ में है। ईसाईयों का मानना था कि ओल्ड टेस्टामेन्ट की घोषणा के अन्तर्गत ईसा का जन्म हुआ था । ईसा के शिष्य, मार्क, मैथ्यू, ल्यूक और जोन ने चार गोस्पल (सुसमाचार) की रचना की, इनका संग्रह 'न्यूटेस्टामेन्ट' के नाम से प्रसिद्ध है । इसमें ईसा के जीवन, उनके उपदेश, उनके दर्शन तथा जीवन की रोचक कथाओं को संग्रहीत किया गया ।

अभ्यासार्थ प्रश्न

अति लघूरात्मक प्रश्न (दो पंक्तियों में उत्तर दिजिये) :–

1. वैदिक साहित्य में किन ग्रन्थों का सम्मिलित किया जाता है ?
2. सबसे प्राचीन वेद कौन सा है ?
3. पंच महायज्ञ कौन से हैं ?
4. महावीर स्वामी को ज्ञान किस स्थान पर प्राप्त हुआ ?
5. जैन धर्म के पंच महाव्रत कौनसे हैं।
6. महात्मा बुद्ध का जन्म कहाँ हुआ ?
7. बौद्ध धर्म में महाभिनिष्क्रमण क्या है ?
8. हजरत मोहम्मद को मक्का क्यों छोड़ना पडा ?
9. मुस्लिम धर्म का पवित्र ग्रन्थ कौनसा है ?
10. रिसरेक्सन क्या है ?
11. न्यू टेस्टामेण्ट क्या है?

लघूत्तरात्मक प्रश्न (आठ पंक्तियों में उत्तर दीजिये)

1. वैदिक धर्म को परिभाषित कीजिये ?
2. वैदिक धर्म में उपासना विधि कौन सी है ?
3. वैदिक धर्म में देवताओं के नाम लिखिए।
4. जैन धर्म में सम्यक् दर्शन क्या है ?
5. जैन धर्म की विश्व को क्या देन है ?
6. जैन धर्म में कर्म और पुनर्जन्म का सिद्वान्त क्या है ?
7. बौद्ध धर्म में निर्वाण (मोक्ष) कैसे प्राप्त किया जा सकता है ?
8. मोहम्मद पैगम्बर के जीवन पर टिप्पणी लिखिये ?
9. बौद्ध धर्म की विश्व संस्कृति को क्या देन है ?
10. ईसाई धर्म के संस्कार कौन कौन से हैं?
11. ईसा के जीवन के बारे संक्षिप्त में लिखिये?

निबन्धात्मक प्रश्न :–

1. वैदिक धर्म में पुरुषार्थ व आश्रम व्यवस्था की विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
2. जैन धर्म के अनुसार मनुष्य केवल्य (मोक्ष) कैसे प्राप्त कर सकता है ?
3. गौतम बुद्ध के जीवन का वर्णन कीजिये तथा उनके आष्टांगिक मार्ग पर प्रकाश डालिये ?
4. हजरत मोहम्मद की शिक्षाओं का वर्णन कीजिए?
5. ईसा मसीह की शिक्षाओं का वर्णन कीजिए ?

इकाई 3

यूरोप में पुनर्जागरण एवं धर्म सुधार आन्दोलन तथा औद्यौगिक क्रान्ति

1. यूरोप में पुनर्जागरण

यूरोप का मध्यकाल प्राचीन रोम और यूनान की समृद्ध संस्कृति की विलुप्ति का काल था। सर्वत्र निराशा और उत्साह हीनता व्याप्त हो गयी। मनुष्य के मस्तिष्क पर रूढ़िवादी चर्च का आवरण छा गया। बौद्धिक विकास अवरूद्ध हो गया। 15वीं शताब्दी में शनैः शनैः मानव की मनोदशा में चेतना का उदय हुआ। इस नवचेतना के अभ्युदय को पुनर्जागरण कहा गया। तर्क शक्ति के उदय ने मनुष्य में अपने जीवन के प्रति दृष्टिकोण में परिवर्तन किया, तथा चर्च के रुढ़िवाद, सामन्तीय शोषण, शासकीय अराजकता और अज्ञान जनित आलस्य की जकड़न को तिलांजलि देकर स्वछन्द वातावरण में श्वास लेना प्रारम्भ किया।

यूनान और रोम की प्राचीन युग की सभ्यता की समाप्ति से ही यूरोप में मध्ययुग प्रारम्भ हो चुका था। वहाँ के मानव मस्तिष्क पर रूढिवादी परम्पराओं का आवरण छा गया था। यूरोप में चारों ओर उदासीनता एवं निराशा का वातावरण फैल गया था। लेकिन 13वीं से 16वीं शताब्दी के मध्य कुछ ऐसी विशिष्ट परिस्थितियाँ पैदा हुई जिन्होंने मनुष्य को चेतनायुक्त बनाया। यही चेतना पुनर्जागरण कहलाती है। इस चेतना युक्त मानव ने इस काल में उन आदर्शों तथा मूल्यों को महत्व दिया जो मध्यकाल में नगण्य समझे जाते थे। जैसे लौकिक जगत के प्रति आस्था, मानववाद का विकास, रूढ़िवादिता के स्थान पर तर्क की महत्ता, प्राकृतिक सौन्दर्य की अनुभूति पुनर्जागरण काल में महत्वपूर्ण हो गयी।

पुनजार्गरण काल सामान्यतः 1350 ईस्वी से 1550 ईस्वी के मध्य माना जाता है। इस काल में सांस्कृतिक एवं बौद्धिक क्षेत्र में आए परिवर्तन दिखाई देने लगे। अंधविश्वास के स्थान पर वैज्ञानिक दृष्टि, धार्मिक संकीर्णता के स्थान पर मानसिक स्वतन्त्रता तथा आत्मनिर्भर कला और साहित्य की धर्म से मुक्ति तथा प्रादेशिक भाषाओं का विकास संभव हो सका।

पुनर्जागरण का अर्थ :– पुनर्जागरण के लिए यूरोप में प्रयुक्त शब्द "रेनेसाँ" फ्रेंच भाषा का है जिसका प्रथम प्रयोग इटली के "वैसारी" ने 16 वीं शताब्दी में स्थापत्य एवं मूर्तिकला में आये क्रांतिकारी परिवर्तनों के लिए किया। 18वीं शताब्दी में फ्रांसीसी विद्वान "दिदरों" ने भी कला एवं साहित्य के नव सृजन हेतु रेनेसाँ शब्द का उपयोग किया था। हेनरी एस.लुकस के अनुसार, "पुनर्जागरण से तात्पर्य मध्यकालीन विचारों के तरीकों में परिवर्तन से है जो 13वीं शती के बाद इटली में विकसित हुए उन सांस्कृतिक परिवर्तनों से है जो 1600 ईस्वी तक यूरोप के अन्य भागों में फैले थे।'' प्रोफेसर डेविड के शब्दों में "पुर्नजागरण शब्द मानव के स्वतन्त्रता प्रिय और साहसपूर्ण विचारों को अभिव्यक्त करता है जो मध्ययुग में धर्माधिकारियों के यहाँ कैद थे।" जे.ई.सैन के अनुसार ''पुनर्जागरण शब्द ऐसा शब्द है जो उत्तर मध्यकाल और आधुनिक काल के समस्त मानसिक परिवर्तनों को सामूहिक रूप से व्यक्त करता है। इसमें भूतकाल के प्रति अभिरूचि एवं वर्तमान को आत्मसात् करने के लिए बौद्धिक चेतना उपस्थित थी।'' पुनर्जागरण की व्याख्या करते हुये फ्रांस के इतिहासकार जूलन मिसीलेट दो ऐसे व्यापक आयामों की ओर संकेत करते हैं जिनमें पुनर्जागरण के सुधारवादी समग्र प्रयत्न आ जाते हैं। ये दो आयाम हैं "दुनिया की खोज और मनुष्य की खोज"। दुनिया की खोज से तात्पर्य पन्द्रहवीं एवं सोलहवीं शताब्दी की उन भोगोलिक उपलब्धियों से है जिन्होने अटलांटिक, प्रशांत एवं हिन्द महासागर को व्यापार के लिए खोला और पुरानी दुनिया के लोगों को अमेरीका की नई दुनिया तथा दक्षिणी अफ्रीका व आस्ट्रेलिया का परिचय कराया। मनुष्य की खोज के अन्तर्गत मानव शक्ति के उस पक्ष को लिया गया , जिसके द्वारा उसने मध्यकालीन पोपशाही को अस्वीकार किया तथा विकसित एवं स्वतंत्र दृष्टि का अवलम्बन किया। सेबाइन के शब्दो में "पुनर्जागरण एक सामुहिक अभिव्यक्ति है

जिसका प्रयोग मध्यकाल के अन्त और आधुनिक युग के आरम्भ के समय दृष्टिगोचर सभी बौद्धिक परिर्वतनों के लिए किया गया।'' पुनर्जागरण को परिभाषित करते हुए इतिहासकार फिशर ने लिखा है कि "मानवतावादी आन्दोलन का प्रारम्भ धर्म के प्रति नवीन दृष्टिकोण, स्थापत्य एवं चित्रकला का नया स्वरूप, व्यक्तिवादी सिद्धान्तों का विकास, वैज्ञानिक दृष्टिकोण और छापे खाने का अविष्कार इत्यादि विशेषताओं को सामूहिक रूप में सांस्कृतिक नवजागरण कहते हैं।"

उपर्युक्त विद्वानों के विचारों से यही स्पष्ट होता है कि पुनर्जागरण एक ऐसा बौद्धिक एवं उदार सांस्कृतिक आन्दोलन था जिसमें मनुष्य मध्यकालीन बन्धनों से मुक्त होकर स्वतंत्र चिन्तन की ओर अग्रसर हुआ था। व्यापक अर्थ में पुनर्जागरण प्राचीन के पुनरोदय तक ही सीमित नहीं रहा बल्कि वर्तमान में हुए परिवर्तनों को भी इसमें सम्मिलित कर लिया गया, जिसमें तर्क , जिज्ञासा और शिक्षा के द्वारा ज्ञान विज्ञान, कृषि, उद्योग कला साहित्य एवं संस्कृति के क्षेत्र में हुई चहुँमुखी प्रगति को पुनर्जागरण कहा जा सकता है।

पुनर्जागरण की जन्म स्थली इटली :– पुनर्जागरण की नवीन विचार धारा का प्रारम्भ इटली से ही शुरू हुआ। इटली से पुनर्जागरण के प्रारम्भ होने के कई कारण रहे। इतिहासविदों की मान्यता है कि इटली में प्राचीन रोम साम्राज्य की महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ धुंधले रूप से नजर आ रही थी और ज्ञान प्राप्त करने की प्राचीन परम्परा पूर्ण रूप से अवरूद्व नहीं हुई थी। अनेक व्यक्ति कला और साहित्य को संरक्षण दे रहे थे। इटली से पुनर्जागरण के प्रारम्भ होने के प्रमुख कारण निम्नलिखित रहे–

1. विदेशी व्यापार का प्रमुख केन्द्र :– इटली की भौगोलिक स्थिति भूमध्य सागरीय देशों में सबसे अनुकूल स्थिति थी जिससे अरब और एशिया के व्यापारियों द्वारा लाया गया माल अधिकांश इटली में ही बिकता था और यहीं से एशिया की वस्तुएँ यूरोपीय देशों में व्यापार के लिए जाती थी जिससे इटली एक प्रसिद्व व्यापारिक केन्द्र के रूप में प्रसिद्व हुआ। इस विदेशी व्यापार से इटली में एक समृद्ध मध्यमवर्ग का उदय हुआ। यह मध्यमवर्ग धार्मिक नियंत्रणों की उपेक्षा करने लगा।

2.समृद्ध नगरों की स्थापना :– इटली विदेशी व्यापारियों की गतिविधियों का प्रमुख केन्द्र होने से नेपल्स, फ्लोरेन्स, मिलान, वेनिस जैसे समृद्ध नगरों की स्थापना हुई जिससे इन नगरों में निवास करने वाले लोगों के रहन–सहन, खान–पान, सभ्यता और संस्कृति उच्च कोटि की हुई। जिसने पुनर्जागरण की प्रेरणा दी।

3. समृद्ध मध्यम वर्ग का उदय :– इटली व्यापार का प्रमुख केन्द्र होने के कारण समृद्ध मध्यम वर्ग का उदय हुआ। यह व्यापारी वर्ग इतना शक्तिशाली हो गया कि उसने सामन्तों एवं पोप की परवाह नहीं की और मध्य कालीन मान्यताओं को नहीं माना, इससे इटली में पुनजार्गरण की नवीन प्रवृत्ति का संचार हुआ।

4. पूर्व की समृद्ध संस्कृति से सम्पर्क :– पूर्वी देशों के व्यापारी इटली में कुछ समय के लिए प्रवास करते थे एवं इटली के व्यापारी एशिया के विभिन्न देशों में व्यापार के लिए जाते थे। एशिया के लोगों के रहन–सहन, धर्म सभ्यता एवं संस्कृति की समृद्धता ने उन्हें आकर्षित किया। यूरोप के अज्ञान एवं धार्मिक रूढिवादिता की तुलना समृद्ध पूर्वी देशों से किया जाना स्वभाविक था। इसी तुलना ने इटली में पुनर्जागरण की प्रवृत्ति को सशक्त आधार प्रदान किया।

5.इटली प्राचीन रोमन सभ्यता की जन्म स्थली :– इटली के नगरों में मौजूद प्राचीन सभ्यता के बहुत से स्मारक अभी भी लोगों को गत वैभव की याद दिलाते थे। प्राचीन रोम जैसी महत्ता तथा अपने देश को पुनः गौरवशाली बनाने का विचार लोगों के मन में छाया हुआ था। इसी विचार ने इटली को पुनर्जागरण का केन्द्र बिन्दु बना दिया।

6 कुस्तुन्तुनिया के पतन पर विद्वानों का इटली में आश्रय लेना:– यूरोप के प्रवेश द्वार कुस्तुन्तुनिया पर 1453 ई. में तुर्कों के अधिकार हो जाने के कारण यूनानी विद्वान, कलाकार और व्यापारी इटली आकर बस गये। यह विद्वान अपने साथ प्राचीन यूनानी साहित्य भी साथ लेकर के आये। इनमें निहित ज्ञान से यूरोप अभी अनभिज्ञ था। इस साहित्य के अतुल ज्ञान विज्ञान एवं विचार पद्धति ने यूरोप को जागृत कर दिया।

7. शिक्षा के स्वरूप में परिवर्तन :– मध्ययुग में शिक्षा धर्म से विशेष प्रभावित व केन्द्रित थी। इटली में व्यापार और आर्थिक समृद्धि के कारण शिक्षा के नये स्वरूप की आवश्यकता हुई। इसमें भौगोलिक ज्ञान, व्यवसायिक ज्ञान,

विज्ञान, मानवोपयोगी तथा तर्क युक्त विषयों को समुचित स्थान दिया गया। ऐसी शिक्षा ने इटली में पुनर्जागरण का आधार बना दिया।

पुनर्जागरण की विशेषताएँ

(1). पुनर्जागरण ने मध्ययुगीन धर्म और परम्पराओं के नियंत्रण से मुक्त होकर तर्क एवं चिन्तन की विचार– धारा को बढावा दिया।

(2). पुनर्जागरण में मानव जीवन के महत्व को स्वीकार किया गया।

(3). प्रादेशिक भाषाओं एवं लौकिक साहित्य का विकास हुआ।

(4). नवीन भौगोलिक खोज हुई।

(5). विचारों की पुष्टि के लिए नवीन प्रयोग पर बल दिया गया। जिससे मानव उपयोगी वैज्ञानिक अन्वेषण हुए।

(6). सहज सौन्दर्य की उपासना, पुनर्जागरण की विशेषता रही।

यूरोप में पुनर्जागरण के कारण :–

पुनर्जागरण यूरोप के अनेक देशों में अलग–अलग समय पर धीरे–धीरे हो रही घटनाओं का प्रभाव था। ये घटनाएँ इस प्रकार थी–

1. धर्म युद्ध :– ईसाइयों व मुस्लिमों के पवित्र तीर्थ स्थल जेरूशलम को लेकर 11वीं शताब्दी से 13वीं शताब्दी के मध्य मुस्लिम जगत (सैल्जुक तुर्को) व ईसाई जगत के मध्य होने वाले युद्धों को धर्म कहा गया। धर्म युद्ध के कारण यूरोप वासियों का पूर्व के लोगों से सम्पर्क हुआ। उन्होंने पूर्व के लोगों की उच्च सभ्यता एवं संस्कृति को निकटता से देखा। अरब लोगों ने यूनान तथा भारतीय सभ्यता के सम्पर्क से अपनी सभ्यता को विकसित कर लिया था। अरब लोगों के सम्पर्क ने यूरोपीय लोगों को धर्म पर आधारित जीवन पद्धति में परिवर्तन हेतु प्रेरित किया। इन युद्धों ने यात्राओं तथा भौगोलिक अध्ययन को प्रोत्साहित किया। धर्म युद्ध में भाग लेने वाले लोग पूर्वी लोगों से मिले और उनसे नये विचार ग्रहण करने का अवसर मिला तथा नवीन एवं प्रगतिशील ज्ञान का बोध हुआ। हिन्दू अंक, बीज गणित, दिशा दिग्दर्शन यंत्र, कागज बारूद आदि का ज्ञान यूरोप पहुँचा। जो लोग युद्ध से लौटकर यूरोप पहुँचे उन्हें अपने संकीर्ण जीवन से अरूचि हो गई। यूरोप के लोगों को यह विश्वास था कि व्यक्ति की लौकिक और अलौकिक जीवन की सभी आवश्यकताएँ ईसाईयत के द्वारा पूरी हो सकती है। लेकिन पूर्वी सभ्यता के सम्पर्क में आने से नवीन अनुभव प्राप्त करके लौटने वाले लोगों ने इस विश्वास का खण्डन किया। जिससे लोगों के मस्तिष्क पर चर्च का अत्यधिक प्रभाव, निर्बल पड़ने लगा। इस प्रकार पूर्व से प्राप्त नवीन विचार ने यूरोप में पुनर्जागरण को संम्भव बनाया।

2.व्यापारिक समृद्धिः– पुनर्जागरण का सबसे बडा कारण व्यापार का विस्तार था। धर्म युद्ध के बाद यूरोप के पूर्वी देशों के साथ व्यापार सम्बन्ध स्थापित हुए। यूरोप के व्यापारी अधिक लाभ प्राप्त करने के लिए जेरूशलम, एशिया माईनर होते हुए पूर्वी देशों की ओर आने लगे। चर्च प्रतिबंधित जलमार्गो का उपयोग किया जाने लगा, जिससे व्यापार में काफी वृद्धि हुई। इस कारण से नये शहरों का उदय हुआ और उनका महत्व बढने लगा। यूरोप के ये नगर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक केन्द्र बनने लगे, जिससे यहाँ से निरन्तर विभिन्न देशों के व्यापारियों एवं यात्रियों का आना जाना बना रहा। इसके कारण विचारों का आदान–प्रदान हुआ और ज्ञान के विकास में सहायता मिली। इन नगरों के स्वतन्त्र वातावरण ने स्वतन्त्रता को प्रोत्साहन दिया। अब लोग चर्च और चर्च से संबंधित संस्थाओं को सन्देह की दृष्टि से देखने लगे। उसकी अच्छाई और बुराई के बारे में वाद विवाद करने लगे, जिससे विचार–स्वतंत्रता बढी और ज्ञान की प्रगति हुई। इस भावना ने पुनर्जागरण के विकास को गति प्रदान की तथा व्यापार की समृद्धि के कारण यूरोप में एक नये समृद्ध वर्ग का जन्म हुआ। इस समृद्ध वर्ग ने धन को विद्या अध्ययन में लगाया। मध्य युग के आरम्भ में विद्या अर्जन का अवसर केवल पादरियों को ही मिलता था। लेकिन अब जन साधारण को भी अवसर मिलने लगा। इस नये समृद्ध वर्ग ने कला और संस्कृति के उत्साहियों को प्रश्रय दिया। जिससे कला और साहित्य के क्षेत्र में उच्च कोटि का सृजन एवं विज्ञान के क्षेत्र में अनेक खोजें प्रारम्भ हुई।

3.कागज और मुद्रण यंत्र का अविष्कार :– यूरोप वासियों ने कागज बनाने की कला मध्यकाल में अरब वासियों के माध्यम

से सीखी। 15वीं शताब्दी के मध्य में जर्मनी के जोहन्नेस "गुटेनवर्ग" नामक व्यक्ति ने एक टाईप मशीन बना दी। इस मुद्रण यंत्र के आविष्कार में बौद्धिक विकास का मार्ग खोल दिया। 1477 ई. में "कैक्सटन" ने ब्रिटेन में छापाखाने की स्थापना की। इस छापाखाने के आविष्कार से प्राचीन यूनानी व रोमन साहित्य का प्रसार एवं नवीन विचारों का यूरोप के जन–जन तक पहुँचाना अब सरल हो गया। ज्ञान पर वर्ग विशेष का एकाधिकार समाप्त हो गया। "पुस्तकों में ऐसा लिखा है'' कह कर अब सामान्यजन को गुमराह नहीं किया जा सकता था क्योंकि अब आवश्यकता पड़ने पर सामान्यजन स्वयं पढ़ सकता था । इससे यूरोप के लोगों में आत्म विश्वास जागृत हुआ। ज्ञान के प्रसार से अन्धविश्वास व रूढ़ियाँ कमजोर पड़ने लगी तथा व्यक्ति की बौद्धिक लालसा को शांत करने का मार्ग प्रशस्त हुआ। इस प्रकार कागज एवं मुद्रण यंत्र पुनर्जागरण के प्रसार में महत्वपूर्ण कारक सिद्ध हुए।

4. कुस्तुन्तुनिया पर तुर्कों का अधिकार :– तुर्कों ने पूर्व रोमन साम्राज्य की राजधानी कुस्तुन्तुनिया पर 1453 ई. में अधिकार कर लिया। कुस्तुन्तुनिया पर तुर्कों का अधिकार हो जाने से यूरोप से भारत आदि पूर्वी देशों के साथ होने वाला व्यापारिक स्थल मार्ग बन्द हो गया। यूरोप में पूर्वी देशों की विलासिता की वस्तुओं व मसालों की अत्यधिक मांग थी। यूरोप वासी नवीन वैकल्पिक मार्गों की खोज, सम्भवतः जल मार्ग की खोज करने लगे जिससे अमेरिका, भारत एवं पूर्वी द्वीपों के मार्ग ढूंढे गए। कुस्तुन्तुनिया पिछले 200 वर्षों से यूनानी सभ्यता एवं संस्कृति, दर्शन, कला का महान् केन्द्र रहा था। तुर्कों की विजय के पश्चात् यूनानी विद्वान, कलाकार, दार्शनिक अपनी आजीविका उपार्जन एवं सुरक्षा हेतु , यूरोप में इटली, फ्रांस, जर्मनी, इंग्लैण्ड आदि देशों में चले गए और जाते समय अपने साथ प्राचीन रोम एवं यूनान का ज्ञान ,विज्ञान तथा नई चिन्तन पद्धति अपने साथ ले गए। अकेला कार्डिनियल बेसारियो 800 पाण्डुलिपियों के साथ इटली पहुँचा था। यूनान एवं रोम की संस्कृतियों में परस्पर समन्वय स्थापित हुआ जिसने पुनर्जागरण के प्रसार में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

5. मानवतावाद का विकास :– पुनर्जागरण का अन्य मुख्य कारण मानवतावाद माना जाता है। मध्यकाल में मानवतावादी लेखकों की चर्च के स्थान पर, जीते जागते मनुष्य और उनकी खुशियों व गमों में दिलचस्पी थी। मानवतावादियों की समझ में जीवन का लक्ष्य या सर्वोपरि सुख, ईश्वर की सेवा करना या सैनिक कारनामा कर दिखाना नहीं , बल्कि लोगों की भलाई करने के लिए काम करना था। अब लोगों के चिन्तन का केन्द्र बिन्दु मनुष्य बन गया था तथा मानवतावादियों ने जनता को सुसंस्कृत बनाने के लिए प्राचीन रोमन ओर यूनानी साहित्य पर जोर दिया। पैट्रार्क को मानवतावाद का जनक माना जाता है। उसने अंधविश्वासों एवं पादरियों की जीवन प्रणाली की खिल्ली उड़ाई।

6. मंगोल साम्राज्य का उदय :– विशाल मंगोल साम्राज्य के उदय से एशिया और यूरोप के बीच सम्पर्क स्थापित होने से भी पुनर्जागरण का प्रसार हुआ। कुबलई खां का दरबार विद्वानों, धर्म प्रचारकों एवं व्यापारियों का केन्द्र रहा। मंगोल दरबार में पोप के दूत, भारत के बौद्ध भिक्षु, पेरिस, इटली तथा चीन के दस्तकारों, कुस्तुन्तुनिया और आर्मीनिया के व्यापारियों, सबका सम्पर्क फारस में भारत के गणित और ज्योतिष शास्त्रियों के साथ होता था, परस्पर विचार–विनिमय होने से विद्वानों को बड़ा लाभ हुआ। वेनिस यात्री मार्कोपोलो, कुबलाई खां के दरबार में 1272 में गया था। वहाँ से लौटकर अपने यात्रा वृतांत में उसने मंगोल साम्राज्य की समृद्धि के बारे में लिखा। उसके यात्रा वृतांत ने यूरोपवासियों के मानस को लम्बे समय तक उद्वेलित किया।

पुनर्जागरण का प्रभाव :– पुनर्जागरण काल में पुराने से सामंजस्य कर नवीन के निर्माण की शुरूआत हुई, जिसने साहित्य, कला एवं विज्ञान ही नहीं मानव जीवन के हर पहलू को प्रभावित किया। पुनर्जागरण का प्रभाव सम्पूर्ण यूरोप में एक जैसा नहीं था। इसकी गति व व्यापकता में क्षेत्रगत स्थिति के अनुरुप अन्तर रहा। इटली की तुलना में यूरोप के उत्तरी देशों में चित्रकारी, मूर्तिकला और स्थापत्य ने कम महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। इसके विपरीत उत्तरी यूरोपीय देशों में मानवतावादी दर्शन और साहित्य ने अधिक महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। यद्यपि उत्तरी देशों का मानवतावाद इटली से ही लिया गया था, लेकिन उसका स्वरूप भिन्न था। जहाँ इतालवी मानवतावाद ईसाई आदर्शों

के विरूद्ध लौकिकता के खुले विद्रोह का प्रतीक था, वहीं उत्तरी देशों के मानवतावाद ने ईसाईयत को मानवीय बनाने का प्रयास किया ।

यूरोप में पुनर्जागरण के प्रमुख प्रभाव निम्नलिखित थे–

1.साहित्य के क्षेत्र में :– पुनर्जागरण काल से पहले यूरोप में साहित्य का सृजन केवल लैटिन भाषा एवं यूनानी भाषा में होता था। देशी व क्षेत्रीय भाषाएँ असभ्य मानी जाती थी। किन्तु पुनर्जागरण काल में साहित्य का सृजन, अध्ययन–अध्यापन, फ्रेंच, स्पेनिश, पुर्तगाली, जर्मन, अंग्रेजी, डच, स्विडिस आदि क्षेत्रीय भाषाओं में प्रांरभ हुआ। मध्यकालीन साहित्य की मुख्य विषय वस्तु चर्च था पुनर्जागरण काल साहित्य में धार्मिक विषयों के स्थान पर मनुष्य के जीवन और उसके कार्यकलाप को महत्व दिया गया। अब साहित्य आलोचना प्रधान, मानवता प्रधान, और व्यक्तिवादी हो गया। इटली के फ्लोरेंस निवासी दांते (1265–1321) को पुनर्जागरण का अग्रदूत कहा जाता है। दांते की विश्वविख्यात रचना "डिवाईन कामेडी" है। जिसमें ईसाई कहानियों एवं धर्म शास्त्रों की चर्चा है। दांते की दूसरी रचना "डि मोनार्किया" है जो राजनैतिक पुस्तक है, जिसमें वह पवित्र रोमन स्रामाज्य के नेतृत्व में इटली के एकीकरण की बात करता है। दांते की एक अन्य रचना "बितानोओ" है जो प्रेम गीत संग्रह है। फ्रोसंस्को पैट्रार्क (1321–1374 ई.) ने स्थानीय भाषा टक्सन में प्रेम गीत लिखे है। पैट्रार्क मानवतावादी के रूप में पुनर्जागरण का प्रतिनिधित्व करने वाला प्रथम व्यक्ति था, इसलिए उसे "मानवतावाद का जनक'' कहा जाता है। पैट्रार्क के शिष्य बोकेसियो की सबसे श्रेष्ठ रचना "डेकोमेरोन" है इसमें एक सौ कहानियों का संग्रह है। दूसरी रचना "जीनियोलोजी ऑफ गोड्स" है। फ्रांस में पुनर्जागरण साहित्य रचना रेबेलेस ओर मान्टेन की है। रेबेलेस की रचना "पांतागुवेल" और ''गारगेंतुआ'' वैचारिक और साहित्यक धरातल पर एक ताजी हवा की तरह सिद्ध हुई, जिसमें सांस लेकर फ्रांस को नई स्फूर्ति मिली इसीलिए उसकी पहली पुस्तक को "नया सन्देश" कहा जाता है। अंग्रेजी साहित्य के पुनर्जागरण कालीन कवि जाफरे चौसर (1340–1400 ई.) को अंग्रेजी काव्य का पिता कहा जाता है। उसकी कृति "कैन्टरबरी टैल्स" है जिसमें उसने पहली बार "सैक्सन बोली" का कलात्मक प्रयोग किया। इसी से विकसित होकर राष्ट्रीय भाषा अंग्रेजी का उदय हुआ। चौसर की रचनाओं में सांसारिक चीजों, मनुष्य की कमजोरियों और उसके स्वभाव का वर्णन है।

चौसर के बाद सर टामसमूर (1478–1535) ने अपनी कृति "यूटोपिया" में एक आदर्शवादी समाज की कल्पना की है। इसमें अपने समय के जन–जीवन में व्याप्त सामाजिक बुराईयों और आर्थिक दोषों का निरूपण किया गया है। पुनर्जागरण की ब्रिटेन को सबसे बड़ी देन विलियम शेक्सपियर (1564–1616) है जिसको एक महान कवि एवं नाटककार माना जाता है। उसके नाटक उस द्वन्द्व को प्रस्तुत करते हैं जो सामंती और मध्यमवर्गी समाज के मध्य पैदा हो गया था। इसके प्रमुख नाटकों में "मर्चेन्ट ऑफ वेनिस" "रोमियो जूलियट", ''हेमलेट'', ''मेकबेथ'' आदि प्रमुख है। अन्य अंग्रेजी साहित्यकार एडमंड स्पेंसर का '' फेयरी क्वीन '' और क्रिस्टोफर मार्लो का '' तैमूरलंग ग्रेट '' एड वर्ड '' ,'' द ज्यु ऑफ माल्टा '' और डा. फॉस्टस'' जैसी कृतियों में राष्ट्रवाद, व्यापार के विस्तार और भौतिकवाद की छवि दिखाई दी। हालैण्ड के इरैस्मस की कृति ''मूखर्ता की प्रशंसा'' (इन द प्रेज ऑफ फॉली) तथा स्पेन के सरवेन्टीज ने डान क्विग्जोट की रचना की जिसमें उस युग के सामन्ती जीवन पर व्यंग्य है। राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में फ्रांस के मार्सिग्लियों की कृति ''डिफन्डर ऑफ पीस'' में पोप के राजनीतिक हस्तक्षेप को गलत बताया गया। मैकियावेली (1469–1527) की ''द प्रिंस'' में वर्णन हैं कि चिन्तन धर्म से परे है। इसमें स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि राज्य को धर्म निरपेक्ष होना चाहिए। मैकियावेली ने राजनीति के कुछ ऐसे सिद्वान्त प्रतिपादित किए, जिनके कारण उसे आधुनिक चाणक्य कहा जाता है।

2. कला पर प्रभाव :– इस काल में कला के हर क्षेत्र में पुरानी परम्परा को त्याग कर एक नई और स्वतन्त्र शैली का विकास हुआ। पुनर्जागरण काल के चित्रकारों ने धार्मिक विषय वस्तु को नहीं छोड़ा और मुख्यतः ईसा और मरियम से संबंधित विषय–वस्तु को ही चित्रित किया, लेकिन उन चित्रों का प्रस्तुतीकरण मानवीय और लौकिक था। प्लास्टर और लकड़ी के फलक (पैनल) के स्थान पर कैनवास का

इस्तेमाल शुरू हुआ, तेल चित्रों की परम्परा शुरू हुई। इस काल में लियोनार्डो द विंची एक चित्रकार और मूर्तिकार के अतिरिक्त वैज्ञानिक, गणितज्ञ, इंजिनियर, और संगीतकार व दार्शनिक भी था, जिसके चित्रों में 'लास्ट सपर' और 'मोनालिसा' अनुपम है।

लास्ट सपर में ईसा मसीह और उसके अनुयायी केवल व्यक्ति नहीं बल्कि विभिन्न जीवन मूल्यों के प्रतिनिधि लगते हैं मोनालिसा केवल किसी सुन्दर स्त्री का चित्र नहीं है, बल्कि उस साधारण सी दिखाई पड़ने वाली महिला की रहस्यमय मुस्कान का अर्थ आज भी दर्शकों के लिए रहस्यमय बना हुआ है।

'वर्जिन ऑफ रॉक्स' में लियोनार्डो ने वर्जिन मेरी और शिशु ईसा की सुंदरता एवं लावण्य का चित्रण किया है। माइकेल एंजेलो मूर्तिकार एवं चित्रकार था जो मनुष्य को ईश्वर की दैवी शक्ति और प्रभुता की सबसे सुन्दर अभिव्यक्ति समझता था। माइकेल एंजेलो ने पोप के वेटिकन में स्थित सिसटाइन चैपल की छत को बाइबिल की , सृष्टि से प्रलय तक की कथाओं को अमर बना दिया। उसके सबसे महान चित्र 'लास्ट जजमेंट' को देखने से पता चलता है कि मनुष्य भय और आतंक से ग्रस्त है तथा ईश्वर के प्रेम और दया की कोई आशा नहीं है। राफेल द्वारा निर्मित 'मेडोना' का दिव्य नारीत्व का चित्रांकन सजीवता और सुन्दरता के कारण संसार के अत्यन्त प्रसिद्ध चित्रों में गिना जाता है। बैसेलो टिसियन ने सामन्तों और सम्राट परिवार की महिलाओं के अनेक पोट्रेंट बनाये। इसका 'दस्ताने पहने हुए आदमी' का चित्र प्रमुख एवं आकर्षक है। पुनर्जागरण कालीन मूर्तिकला, धर्म के बन्धन से मुक्त होकर बृहत्तर संदर्भों में जुड़ी। इस काल के प्रमुख मूर्तिकारों में लोरेंजो गिबेर्ती, दोनातेल्लो और माइकेल एंजलो प्रमुख है। गिबेर्ती ने फ्लोरेंस के गिरजाघर के सुन्दर दरवाजों को निर्मित किया। इन पर ओल्ड टेस्टामेंन्ट में वर्णित दृश्यों का अंकन है। माइकेल एंजेलो ने इनकी प्रशंसा करते हुए कहा कि ये स्वर्ग के द्वार पर रखे जाने योग्य हैं। एंजेलो की 15 फीट उँची ''पेता'' की मूर्ति प्रसिद्ध हुई। पुनर्जागरण कालीन स्थापत्य कला में प्राचीन यूनान और रोम शैली का समन्वय स्थापित हुआ। इस स्थापत्य को यूनान से स्तम्भ और क्षैतिज रेखाएँ, रोम से गुम्बद मेहराब और विशालता प्राप्त हुई। इसका उदाहरण फ्लॉरेंस का कैथेड्रल और संत पीटर का गिरजाघर है।

3. विज्ञान के क्षेत्र में प्रभाव :– पुनर्जागरण का विज्ञान पर भी प्रभाव पड़ा। पुनर्जागरण ने मनुष्य को धर्म के नियन्त्रण से मुक्त करके स्वतन्त्र रूप से विचार करने का अवसर दिया। नवीन दृष्टिकोण ने मानव मन में प्रकृति के रहस्य को जानने की जिज्ञासा को जन्म दिया। फ्रांसिस बेकन ने वैज्ञानिक दृष्टि कोण का वर्णन करते हुए कहा ''ज्ञान की प्राप्ति प्रेक्षण और प्रयोग करने से ही हो सकती है।'' 16 वीं शताब्दी से तो यूरोप में वैज्ञानिक फ्रान्ति का युग आ गया। पौलेण्ड के वैज्ञानिक कोपरनिकस ने बताया कि पृथ्वी एक उपग्रह है जो सूर्य के चारो और घूमती है। इटली के वैज्ञानिक ब्रूनों ने कोपरनिकस के सिद्वान्त का अनुमोदन किया। इस प्रतिपादन को बाइबिल के विरुद्ध मानकर रोम के पादरियों ने उसे जिन्दा जला दिया। जर्मन खगोल शास्त्री जॉन कैपलर ने कोपरनिकस के सिद्धान्तों की गणितीय प्रमाणों द्वारा पुष्टि की। इंग्लैण्ड के वैज्ञानिक और गणितज्ञ आइजक न्यूटन के ''गुरूत्वाकर्षण के सिद्वान्त'' ने विश्व में हलचल पैदा कर दी। अब यह स्पष्ट हो गया कि सम्पूर्ण

विश्व सुव्यवस्थित नियमों के अनुसार चल रहा है, न कि देव शक्ति से। फ्रांसीसी गणितज्ञ एवं दार्शनिक देकार्ते ने बीज गणित का ज्यामिती में प्रयोग करना सिखाया और इटली वासी गैलीलियो (1564–1642) ने पेण्डुलम के सिद्वान्त, वायु मापन यन्त्र और दूरबीन का आविष्कार किया।

4. मानवतावाद :– पुनर्जागरण से सबसे अधिक प्रभावित मनुष्य का दृष्टिकोण हुआ। अब मनुष्य की दिलचस्पी ईश्वर में न होकर मनुष्य में हो गई। मानवतावादी चिन्तकों ने धार्मिक ग्रंथों के वैराग्य और आध्यात्मिकता को तिलांजली देकर सौन्दर्य ,माधुर्य, मानव प्रेम और भौतिक सुखों को जीवन का सार स्वीकार किया।

पुनर्जागरण के परिणाम –:

1.अभिव्यक्ति की भावना का विकास :– पुनर्जागरण ने मनुष्य को अपनी बात को कहने–सुनने के लिए स्वतंत्र कर दिया था। अब वह सम्राट या पोप के आदेशों के अनुसार कार्य करने के लिए बाध्य नहीं था। वह अपने विचारों को अभिव्यक्त करने के लिए स्वतंत्र था।

2.भौतिकवादी दृष्टिकोण का विकासः– पुनर्जागरण ने मनुष्य को भौतिकवादी बना दिया। मध्य कालीन धर्म केन्द्रित सभ्यता को आधुनिक मानव केन्द्रित सभ्यता बना दिया। अब मनुष्य ने परलोक के नाम पर त्याग करना छोड़ दिया। अपने भौतिक जीवन की सुख की ओर ध्यान दिया। पुनर्जागरण कालीन वैज्ञानिकों विद्वानों, साहित्यकारों और कलाकारों ने मानव संसार को सुन्दर और समृद्ध बनाने की बात कही। जनता को जीवन और जग का सम्बंध समझ में आ गया साथ ही मनुष्य को भौतिक जीवन का महत्व ध्यान में आ गया। वैज्ञानिक आविष्कारों द्वारा प्रकृति पर विजय तथा भौगोलिक खोज मनुष्य का लक्ष्य बन गया।

3.वैज्ञानिक दृष्टि कोण का विकास :– पुनर्जागरण ने पुराने धार्मिक संस्थानों विचारों तथा परम्पराओं को झकझोर दिया। मध्य काल में मानव मस्तिष्क पर धर्म का जो विशेष प्रभाव था, उसे पुनर्जागरण ने दूर किया तथा निकट भविष्य में होने वाले सुधारों के लिए बाध्य किया। इस वैज्ञानिक दृष्टि कोण व तार्किक विवेचन ने प्राचीन धर्म ग्रन्थों में चली आ रही परम्पराओं और सिद्वान्तों को हिला के रख दिया। बौद्धिक दृष्टि कोण के विकास ने ईसाई धर्म के विश्वासों और प्रचलनों को तर्क की कसौटी पर कसना प्रयास प्रांरभ किया।

4.पुरातन के प्रति मोह भंग होनाः– यूरोप में मध्यकाल के लोगों को पुरातन ज्ञान में कोई रूचि नहीं रही थी।

5.राष्ट्रवाद का विकास :– पुनर्जागरण में चर्च और पोप के प्रभाव में कमी आने से लोगों में राष्ट्रवाद की भावना का विकास हुआ। राष्ट्रवाद की भावना ने लोगों में राष्ट्र के विकास में रूचि बढ़ाई।

2. यूरोप में धर्म सुधार आन्दोलन

सोलहवीं शताब्दी से पूर्व मध्यकालीन यूरोप का समाज चर्च के बन्धनों में जकड़ा हुआ था। मनुष्य जन्म से लेकर मृत्यु तक चर्च के प्रभाव में रहता था। ईसाई चर्च का संगठित तंत्र रोम से संचालित था। पादरियों को असीमित विशेषाधिकार प्राप्त थे। इन पादरियों के विशेषाधिकार का विरोध करने की कल्पना, सामान्य जन तो क्या राजा भी नहीं कर सकता था। पुनर्जागरण से सामन्तवाद और उससे जुड़ी आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक तथा बौद्धिक मान्यताएँ टूट रही थी। छापेखाने के आविष्कार ने स्थानीय भाषाओं के विकास और लेखकों की लेखनी को गति दी। बौद्धिक चेतना से उत्पन्न नयी चिन्तन–धारा ने धार्मिक अन्धविश्वासों और कुप्रथाओं को जड़ से झकझोर दिया। मध्यमवर्ग और वाणिज्य व्यापार के उदय तथा राष्ट्रीय राज्य के उत्कर्ष और तर्क पर आधारित ज्ञान विस्तार ने ईसाईयत और चर्च में सुधारवादी परिवर्तन आवश्यक कर दिये। मानवतावादी साहित्यकारों ने धर्म और चर्च की प्रचलित मान्यता पर गहरा प्रहार किया।

धर्म सुधार आन्दोलन का अर्थ :– सोलहवीं शताब्दी में पुनर्जागरण से प्रभावित लोगों ने पोप की सांसारिकता व प्रभुत्व के विरूद्व और चर्च की कुरीतियों, आडम्बरों, पाखण्डों तथा शोषण को समाप्त करने के लिए जो आन्दोलन आरम्भ किया उसे धर्म सुधार आन्दोलन कहा गया। सेबाइन लिखते है कि धर्म सुधार आन्दोलन ने "सर्वव्यापी चर्च के एकाधिकार पर आक्रमण किया, जो मध्ययुग की सबसे बड़ी समस्याओं में से एक थी।" हेज ने

लिखा है कि "विवेक की जागृति के परिणाम स्वरूप बहुसंख्यक ईसाई, कैथोलिक चर्च के आडम्बरों के कटु आलोचक हो गए थे। वे चर्च नामक संस्था में परिवर्तन चाहते थे। इसी सुधारवादी प्रयास के परिणाम स्वरूप जो धार्मिक उथल–पुथल हुई और जिसके कारण ईसाईयत के नवीन सम्प्रदाय अस्तित्व में आये, इसी को धार्मिक सुधार कहते हैं। सारांशतः धर्म सुधार आन्दोलन प्रत्यक्षतः तो ईसाई लोगों के नैतिक, आध्यात्मिक जीवन को ऊँचा उठाने तथा पोप के व्यापक अधिकारों के विरूद्ध हुए विद्रोह की दृष्टि से राजनैतिक व धार्मिक आन्दोलन था, लेकिन इसमें आर्थिक, बौद्धिक और सामाजिक पक्ष भी सम्मिलित थे।

3. धर्म सुधार आन्दोलन के कारण :–

1.पुनर्जागरण का प्रभाव :– मध्यकालीन यूरोप पुनर्जागरण के कारण धर्म बन्धनों से मुक्त हो गया। बौद्धिक चेतना ने स्वतन्त्र चिन्तन शक्ति प्रदान की। प्रचलित अन्ध विश्वास और परम्पराओं को तर्क की कसौटी पर कसने लगे। धर्म के सात्विक स्वरूप को जाना और चर्च और पादरी पर निर्भरता को समाप्त किया। प्रगतिवादी साहित्य सृजन और मानवतावाद के उदय ने मनुष्य का सीधा ईश्वर के साथ संबंध स्थापित कर दिया। पुनर्जागरण के कारण चर्च की मध्यस्थता का परित्याग तथा अज्ञानता के आवरण को हटाकर यूरोप के लोगों ने धर्म सुधार आन्दोलन शुरू किया।

2.चर्च के अन्तर्गत व्याप्त बुराईयाँ :– धर्म सुधार आन्दोलन का प्रमुख कारण चर्च में आई बुराइयाँ थी। पादरियों की अज्ञानता और विलासिता ने चर्च के पदों की बिक्री शुरु कर दी तथा अपने सम्बन्धियों के बीच चर्च के लाभकारी पदों को बांटना शुरु कर दिया। पोप , पादरी तथा चर्च के पदाधिकारी प्रतिबन्ध मुक्त, भ्रष्ट और विलासी जीवन जी रहे थे। चर्च के अधिकारियों पर किसी भी राजा का कानून लागू नहीं होता था। पोप स्वयं को सम्पूर्ण ईसाई जगत का सम्राट और धर्म प्रमुख मानता था। इसके प्रतिनिधि "लिमेंट एवं नन सिमस" राज्यों पर नियन्त्रण रखते थे। "एक्स कम्यूनिकेशन" नामक विशेषाधिकार से किसी भी राजा को धर्म व पद से हटाया जा सकता था। "इन्टरडिक्ट" नामक विशेषाधिकार से किसी राज्य के चर्च को बन्द किया जा सकता था। राजा और प्रजा दोनों ही चर्च से भयभीत रहते थे।

3.आर्थिक कारण :– आर्थिक कारणों ने धर्म सुधार आन्दोलन में उल्लेखनीय भूमिका अदा की। राजाओं को सेना एवं प्रशासन का खर्चा चलाने के लिए अधिक धन की आवश्यकता थी, परन्तु पादरियों द्वारा वसूल किया गया कर रोम चला जाता था तथा पादरी धनी होने के साथ ही कर देने से मुक्त थे। राजा चाहते थे कि राज्य का शासन चलाने के लिए चर्च पर टैक्स लगाया जाए।

4.मध्यम वर्ग की महत्वाकांक्षा :– पुनर्जागरण से पूर्व यूरोप के लोगों का जीवन चर्च और सामन्तों द्वारा नियंत्रित था। पुनर्जागरण काल में व्यापार के विकास और राष्ट्रीय राज्यों के उदय से यूरोप में एक नवीन मध्यम वर्ग का उदय हुआ, जो पूंजी निवेश द्वारा अपनी शर्तों पर उत्पादन कराने को तत्पर था। इस नए वर्ग ने स्वयं द्वारा अर्जित धन से ऐश्वर्य का जीवन बिताने की चाह में चर्च के प्रतिबन्ध से मुक्ति हेतु प्रयत्न शुरू किए। इस वर्ग ने रोजगार के नये साधन प्रदान कर दयनीय कृषकों तथा श्रमिकों को अपनी ओर आकृष्ट किया। अब वे चर्च और सामन्तवर्ग पर निर्भर नहीं रहे। यह नवीन वर्ग चर्च में एकत्रित अतुल सम्पत्ति का विरोध करता था। इस मध्यम वर्ग ने चर्च के विरूद्व समुद्री यात्रा और ब्याज का लेन–देन शुरू कर दिया। मध्यम वर्ग द्वारा शासकों को अधिक कर देने के कारण राजकीय संरक्षण प्राप्त हुआ। इस प्रकार इस मध्यम वर्ग ने अपनी महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति करने के लिए प्रचलित रूढिवादी परम्पराओं के विरूद्ध विद्रोह कर धर्म सुधार आन्दोलन को गति प्रदान की।

5.वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास :– यूरोप का ईसाई समाज अपने को आजन्म चर्च और चर्च के अधिकारियों के पूर्ण प्रभाव में रहना ही अपनी नियति समझता था। चर्च संबंधी विषयों पर तर्क करना पाप करना समझता था। प्रयोग और परीक्षण की नवीन वैज्ञानिक पद्धति ने सृष्टि व मानवोत्पत्ति की रूढिवादी सोच को नकार दिया। "अरस्तु" का चिन्तन कि, ''सृष्टि की प्रत्येक वस्तु वायु, जल, और अग्नि का परिणाम है,' पुनः मान्य होने लगा। "कोपरनिकस" का सिद्वान्त कि पृथ्वी अपनी कक्षा में सूर्य का चक्कर लगाती है'' मान्य हुआ। धार्मिक मान्यताओं के विरूद्ध इन विचारों को विद्रोही कहा गया और इन्हें दबाने के प्रयास किये गए। किन्तु दमन के प्रयास प्रभावशाली न हो सके।

6.पोप का राजनीति में हस्तक्षेप :– मध्यकाल में यूरोप में पोप ने असीमित सत्ता प्राप्त कर राजा तथा राज्य को गौण बना दिया था। पोप को विशेष दैवीय अधिकार प्राप्त थे। इन अधिकारों से पोप अपने को शासकीय व्यवस्था तथा कानून से ऊपर समझता था। सम्प्रभु पोप अपनी शक्तियों का दुरूपयोग करने और राजा के राजनैतिक कार्यों में ही नहीं, व्यक्तिगत जीवन में भी हस्तक्षेप करने लगा। चर्च का न्यायालय राजा के न्यायालय के निर्णयों को रद्द करने लगा। राजा और जन सामान्य इस दोहरी एवं विरोधाभासी व्यवस्था से दुःखी हो गए। पोप और राजा की व्यवस्था में टकराव होने लगा। पुनर्जागरण के बाद राष्ट्रीय शक्ति सम्पन्न राजा पोप के अनुचित राजनैतिक अधिकारों को स्वीकार करने को तैयार नहीं थे। राजा चाहते थे कि राष्ट्र के अन्दर रहने वाले सभी व्यक्ति और सारी संस्थाओं की श्रद्वा और भक्ति राष्ट्र के प्रति हो। रोम का पोप सभी देशों के चर्च संगठनों का प्रधान था। लेकिन राजा अब पोप द्वारा पादरियों की नियुक्ति के अधिकार को चुनौती देने लगे। पोप का दावा था कि वह प्रत्येक देश के आन्तरिक मामलों में दखल दे सकता है। इसलिए चर्च राजा का राजनीतिक प्रतिद्वन्द्वी भी था। इन कारणों से राजा चर्च के प्रभुत्व और उसके प्रधान पोप का विरोधी था। यूरोप के बहुत से ऐसे राजा थे जो धर्म सुधार आन्दोलन के समर्थक थे।

6.बौद्धिक प्रक्रिया :– यूरोप के प्रबुद्ध बुद्धिवादी लोगों में चर्च के अनैतिक, भ्रष्ट एवं विलासितापूर्ण जीवन के विरूद्ध प्रतिक्रिया होने लगी कि ''पोप या पादरी जो स्वयं पतित और पापी है, पापों से मुक्ति कैसे दिला सकता है ?'' भौतिकवादी, मानवतावादी और सुधारवादी बौद्धिक विचारक अपने तर्कों से इसका विरोध करने लगे। भौतिकवादी विचारक चर्च के प्रति पूर्ण श्रद्धा और भक्तिभाव से मुक्ति चाहते थे। पादरी इरबर्ट को नैतिक एवं सात्विक जीवन यापन का आह्वान करने पर दण्ड दिया गया। दाते, लोरेन्जो, बोकेसिओ आदि मानवतावादी चिन्तक जीवन के सुख को चर्च से अधिक महत्व देते थे। सुधारवादी चर्च में व्याप्त दुर्व्यवस्था और पुरोहितों के जीवन चरित्र में सुधार लाना चाहते थे। इनमें मार्टिन लूथर, जॉन वाई क्लिक एवं जॉन हंस जैसे सुधारक थे। इन्होंने चर्च व पादरियों की कटु आलोचना की और मूल धार्मिक पुस्तक (बाइबिल) को ही धर्म का सच्चा पथ–प्रदर्शक घोषित किया। बाइबिल की सात्विक व्याख्या प्रस्तुत की। पोप ने उन्हें धर्म विरोधी घोषित किया। प्रतिक्रियास्वरुप यूरोप में धार्मिक क्रान्ति उत्पन्न हुई।

7.तत्कालीन कारण :– धर्म सुधार आन्दोलन की शुरूआत क्षमापत्रों के बिक्री का मार्टिन लूथर द्वारा विरोध से मानी जाती है। धन की लालसा चर्च के अधिकारियों को इतनी बढ़ गई कि चर्च के ठेकेदारों ने मुक्ति का व्यापार शुरू कर दिया। पोप लियो दशम् ने पाप मोचन पत्र बनवाये जिन्हें खरीद कर कोई भी ईसाई अपने पापों से मुक्ति प्राप्त कर सकता था। धनवान लोग अनैतिक तरीके से कमाये धन से इन क्षमा पत्रों को खरीद लेते थे। आर्क बिशप "अलवर्ट" को पोप ने यह कार्य सौंपा, जिसने एक पादरी "टेटजेल" को इन क्षमापत्रों की बिक्री हेतु अधिकृत किया। इन्हें खरीदने वालों को बिना पश्चाताप (कन्फेशन) के पाप से मुक्ति की गारन्टी दी जाती थी। 1517 ई. में पादरी टेटजेल जर्मनी के "विटनवर्ग" पहुँचा जहाँ मार्टिन लूथर ने इसे क्षमापत्रों की बिक्री करते देखा तथा भारी विरोध किया। पोप ने मार्टिन लूथर को पंथ बहिष्कृत कर दिया। इस घटना से ही रोमन कैथोलिक पंथ के विरूद्व आन्दोलन प्रारम्भ हो गया। सोलहवीं शताब्दी के अन्त तक चर्च के विरूद्व पांथिक, राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, बौद्धिक असन्तोष चरम सीमा तक पहुँच चुका था। विद्रोह के लिए सिर्फ एक चिंगारी की आवश्यकता थी जो क्षमापत्रों की बिक्री ने पूरी कर दी।

प्रमुख सुधारक

1. जॉन वाईक्लिफ (1320 –1384) :– आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में कार्यरत थे। ईसाई चर्च के आडम्बरों एवं भ्रष्ट तंत्र की आलोचना करते हुए घोषणा की कि पोप पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिनिधि नहीं है तथा विवेकहीन पादरियों के मजहबी उपदेश निरर्थक है। प्रत्येक व्यक्ति को स्वयं मूल बाइबिल का अध्ययन करना चाहिए और तद्नुसार आचरण करना चाहिए। उन्होंने कहा कि जन भाषाओं में बाइबिल का अनुवाद करना चाहिए। चर्च के पास पड़ी अपार धन सम्पदा पर राज्य को अधिकार कर लेने की वकालत की। जॉन वाई क्लिफ के प्रगतिवादी विचारों को परम्परावादी सहन नहीं कर पाए। उसे पदच्युत कर दिया गया तथा उसे पाखण्डी घोषित किया गया।

उसके विचारों ने जनता पर छाप छोड़ी और उसे "द मार्निंग स्टार ऑफ रिफोर्मेशन" कहा गया। उसके अनुयायी "लोलार्ड्स" कहलाए।

2. जॉन हँस (1369–1415 ई.) :– बोहेमिया नगर का निवासी था और वाईक्लिफ के विचारों से प्रभावित था। प्राग विश्व विद्यालय में प्रोफेसर था। उसका विचार था कि एक सामान्य ईसाई को बाईबिल के अध्ययन से मुक्ति मिल सकती है और इसके लिए उसे चर्च जाने की आवश्यकता नहीं है। उसने पोप के आदेशों को न मानने का आह्वान किया। जॉन हँस को चर्च और धर्म की निन्दा करने वाला तथा नास्तिक घोषित कर जिन्दा जलवा दिया गया।

3. सेवानरोला–(1452–1488 ई.) :– फ्लोरेन्स निवासी सात्विक जीवन जीने वाला विद्वान पादरी था। इसने पोप द्वारा सांसारिक भोग विलास युक्त जीवन जीने की आलोचना की। सेवानरोला का मानना था कि पादरियों को सरल, सादा, पंथनिष्ठ जीवन जीना चाहिए। पोप अलेक्जेण्डर षष्ठम् ने उसे चर्च तथा पादरियों के जीवन की निंदा करने से रोकने का आदेश दिया। पोप के आदेशों की अवहेलना करने पर उसे ईसाई परिषद् के समक्ष बुलाकर प्राण दण्ड दिया और जीवित अग्नि को समर्पित कर दिया।

4. इरेस्मस (1466–1536 ई.):– हालैण्ड निवासी प्रसिद्ध मानवतावादी लेखक, उच्चकोटि का विद्वान एवं विचारक था। इरेस्मस को लेखन शैली की प्रभावोत्पादकता के कारण शीघ्र ही लोकप्रियता प्राप्त हो गई। उसने 1511 ई. में "मूर्खता की प्रशंसा" (द प्रेज ऑफ फॉली) नामक पुस्तक लिखी। इस पुस्तक में उसने व्यंग्यपूर्ण शैली में पादरियों की अज्ञानता एवं उनके पाखण्डों की कटुआलोचना की। 1516 ई. में उसने "न्यू टेस्टामेन्ट" का नवीन संस्करण प्रकाशित कराया जिसमें ईसाइयत के मूल सिद्वान्तों की सात्विक व्याख्या की। ''द प्रेज ऑफ फॉली'' के बारे में कहा जाता है कि लूथर के क्रोध की अपेक्षा इरेस्मस के उपहासों ने पोप को अधिक हानि पहुँचाई।

5. मार्टिन लूथर–(1483–1546 ई.):– जर्मनी के एक साधारण किसान परिवार में 1483 ई. में जन्म लिया। उसके पिता उसे वकील बनाना चाहते थे। उस की रूचि धर्म शास्त्रों के अध्ययन में थी। जब उसने विश्व विद्यालय में धर्म शास्त्रों का अध्ययन शुरू किया, उसका मन उद्वेलित रहने लगा तथा आत्मा की शान्ति के लिए वह आगस्टीनियन भिक्षुओं में शामिल हो गया।

सन्त पॉल के पत्रों को पढ़ कर उसे ऐसा लगा कि मुक्ति का मार्ग अच्छे कर्म, संस्कार और कर्मकाण्ड नहीं, बल्कि ईसा में सरल आस्था है। दूसरे शब्दों में ईसा मसीह में अटूट विश्वास के द्वारा मनुष्य मुक्ति प्राप्त कर सकता हैं। जब वह विटनवर्ग में धर्म शास्त्र का प्रोफेसर नियुक्त हुआ तो उसे और अध्ययन का मौका मिला। उसका विश्वास और अधिक बढ़ गया कि केवल आस्था और विश्वास से मुक्ति मिल सकती है। उसने अनुभव किया कि पूजा, प्रायश्चित, प्रार्थना, आध्यात्मिक ध्यान और क्षमा–प्रदान पत्रों की खरीद से पाप से मुक्ति नहीं मिल सकती है। अपनी धार्मिक शंकाओं के निवारण के लिए

चित्र – मार्टिन लूथर

1511 ई. में वह रोम गया। रोम में पोप की वैभवशाली, पतित, निरंकुश और स्वेच्छाचारी जीवन शैली को देखकर वह अत्यन्त क्षुब्ध एवं निराश हुआ। अब उसके मस्तिष्क में विद्रोह की चिंगारी जल चुकी थी।

1517 ई. में उसे क्षमापत्रों की बिक्री करता हुआ, पोप लियो दशम् का अधिकृत प्रतिनिधि, टेटेजेल विटनवर्ग में मिला। इस कार्य को देखकर वह अत्यन्त व्यथित हुआ। उसने क्षमापत्रों के विरोध में अपनी शंकाएं एवं आलोचनाएं कुछ प्रतिस्थापनाओं के रूप में लेटिन भाषा में शब्दांकित की और उन्हें ''95'' थीसिस (95

प्रतिस्थापनाएं) के नाम से विटनबर्ग के कैसल चर्च के प्रवेश द्वार पर लटका दिया। उसने दलील दी कि क्षमापत्रों के द्वारा व्यक्ति चर्च के लगाये दण्ड से तो मुक्त हो सकता है, किन्तु मृत्यु के पश्चात् वह ईश्वर के लगाये दण्ड से तो छुटकारा नहीं पा सकता, न अपने पाप के फल से बच सकता है। उसके विचारों ने तहलका मचा दिया। उसके समर्थकों की संख्या बढ़ने लगी। उसने कई पत्रक (पम्पलेट) लिखकर चर्च की कमजोरियों पर प्रहार किया, पोप के अधिकारों को चुनौती दी, चर्च की सम्पत्ति जब्त करने और चर्च पर नियंत्रण करने का आह्वान राजाओं से किया।

1519 ई. में "लिपजिंग" में पोप के प्रतिनिधि और लूथर के मध्य एक खुले वाद –विवाद में उसने ईश्वर और मनुष्य के बीच पोप को निरर्थक सिद्ध किया। उसने चर्च की कमजोरियों पर प्रहार किया। पोप के अधिकारों को चुनौती दी। अपने विचारों को जनता तक पहुंचाने के लिए उसने तीन पत्रक (पम्पलेट) प्रकाशित किए –

(i)जर्मन सामंत वर्ग को सम्बोधन – इस पत्रक में लूथर ने कहा कि ईसाई अधिकारी वर्ग में कुछ भी विशेष नहीं है। तुरन्त उनके विशेष अधिकार समाप्त होने चाहिए। उसने चर्च की अपार सम्पत्ति का अधिग्रहण करते हुए जर्मन शासकों को विदेशी प्रभुत्व से मुक्त होने की लिए कहा।

(ii) ईश्वर के चर्च की बैबीलोनियाई कैद :– इस पत्रक के द्वारा उसने पोप और उसकी व्यवस्था पर प्रहार किया।

(iii) ईसाई व्यक्ति की मुक्ति :– इसमें उसने मुक्ति के अपने सिद्धान्तों का उल्लेख किया। इसी समय उसने बाईबिल का जर्मन भाषा में अनुवाद किया।

पोप ने 1520 ई. में लूथर को दो माह में अपने प्रकाशित विचारों को रोकने व पूर्णतः खण्डन करने का आदेश दिया तथा कहा कि अन्यथा उसे पंथद्रोही घोषित कर दण्डित किया जाएगा। पोप के इस आदेश का लूथर ने सार्वजनिक सभा में दहन किया। पोप द्वारा उसे धर्म से बहिष्कृत कर दिया गया और उसकी हत्या हेतु ईसाई जनता को प्रोत्साहित किया। किंतु अनेक पोप विरोधी राजाओं ने लूथर की सहायता की और संरक्षण दिया। 1521 ई. की "वर्म्स" की सभा में पुनः लूथर को चर्च विरोधी प्रचार बंद करने को कहा गया। लूथर ने स्पष्ट घोषणा कि वह ऐसा तभी कर सकता है, यदि तर्क द्वारा उसके एक भी विचार को धर्म विरूद्ध सिद्ध कर दिया जाए। उसने कहा कि "पाप केवल पश्चाताप से नष्ट हो सकता है जो कि मन का विषय है, चर्च के आडम्बरों से उसका कोई लेना–देना नहीं है।''

इस समय जर्मनी में सामाजिक एवं धार्मिक खलबली पैदा हो चुकी थी। दक्षिण–पूर्वी और मध्य जर्मनी के किसानों ने लूथर के उपदेशों से प्रेरणा लेकर विद्रोह कर दिया। शुरू में लूथर को इस आन्दोलन से सहानुभूति थी। लेकिन 1529 ई. के बाद आन्दोलन के जनवादी और हिंसक चरित्र से घबराकर उसने शासकों से आग्रह किया कि वे इस विद्रोह का दमन कर दें। वह यह जानता था कि यदि अशान्ति बढी तो उसके विचारों के प्रसार में अवरोध आ जाएगा और नेतृत्व उसके हाथ से निकल जाएगा। इसीलिए उसने जन विरोधी फैसला लिया। 1526 ई. में स्पीयर की प्रथम पांथिक सभा में धार्मिक मतों का निराकरण करने का असफल प्रयास किया गया, जिसमें जर्मन शासक गण लूथरवाद तथा कैथोलिक समर्थक दलों में विभाजित हो गए।

1529 ई. में ही स्पीयर में दूसरी धर्म सभा का आयोजन किया गया, किन्तु इस सभा ने भी सुधार आन्दोलन को मान्यता नहीं दी। इसके विपरीत धर्म सुधार आन्दोलन के खिलाफ कई सख्त प्रस्ताव पारित किए गए। इन प्रस्तावों का लूथरवाद के समर्थक शासकों ने 19 अप्रैल 1529 ई. को औपचारिक विरोध किया। इस विरोध या प्रतिवाद (प्रोटेस्ट) के कारण लूथर के इस सुधार आन्दोलन को प्रोटेस्टेंट कहा गया। 1530 ई. में "आक्सवर्ग स्वीकृति" द्वारा प्रोटेस्टेंट वाद को सैद्धान्तिक स्वीकृति मिल गई। जर्मनी में 1546 ई. से 1555 ई. तक भीषण गृह युद्ध चलता रहा। जब चार्ल्स ने रक्तपात से तंग आकर सिंहासन त्याग दिया तो उसके उत्तराधिकारी सम्राट फर्डिनेण्ड ने प्रोटेस्टेंट से समझोते की नीति अपनाते हुए 1555 ई' में आंग्सबर्ग की सन्धि की। सन्धि के अनुसार :–

1.प्रत्येक शासक ने अपनी–अपनी प्रजा को पंथ चुनने की स्वतन्त्रता दी।

2.1552 ई. से पूर्व प्रोटेस्टेंट द्वारा चर्च की जो सम्पत्ति छीनी गई उसको मान्यता दे दी गई।

3.लूथरवाद के अलावा अन्य पंथ धर्म को मान्यता नहीं दी गई।

4.कैथोलिक बहुल क्षेत्रों में लूथरवादियों को मत परिवर्तन करने के लिए बाध्य नहीं किया जायेगा।

5.कैथोलिक पादरियों को प्रोटेस्टेंट मत स्वीकार करने पर अपना धारितपद त्यागना होगा।

मार्टिन लूथर के विचार बहुत सरल थे। उसने ईसा और बाईबिल की सत्ता स्वीकार की, लेकिन पोप और चर्च की दिव्यता और निरंकुशता को नकार दिया। चर्च द्वारा निर्धारित कर्मों के स्थान पर उसने आस्था को मुक्ति का साधन बताया। संस्कारों में उसने केवल तीन– नामकरण, प्रायश्चित और प्रसाद या पवित्र भोज (बप्टिज्म, पेंनेंस और यूख़ारिष्ट) को ही माना। चर्च में चमत्कारों को नहीं माना। उसने पोप, कार्डिनल और बिशप के पदानुक्रम को समाप्त करने की मांग की तथा सभी आस्थावानों की पुरोहिताई की घोषणा की। उसने राजाओं को चर्च का प्रधान माना। पादरियों के ब्रह्मचर्य पालन की अनिवार्यता को समाप्त करने का विचार दिया।

2.ज्विंगली (1484–1531) :– लूथर के समकालीन ज्विंगली का जन्म स्विट्जरलैण्ड के टोगेनबर्ग प्रान्त में 1484 ई. में हुआ। वह यथार्थवादी एवं मानववादी चिन्तक तथा प्राचीन साहित्य के प्रति गहन रूचि रखने वाला था। उसने पोप का सक्रिय विरोध किया और पवित्र बाईबिल को ही मनुष्य का एक मात्र निर्देशक घोषित किया। उसने इरेस्मस के मानवतावादी विचारों तथा लूथर के चर्च विरोधी विचारों के साथ समन्वय करके ईसाईयों के लिए सरल प्रार्थना की परम्परा का सूत्रपात किया। 1525 ई. में सुधारवादी चर्च (रिफार्म्ड चर्च) की स्थापना की। पवित्र भोज (यूखारिष्ट) के प्रश्न पर वह मार्टिन लूथर से भिन्न विचार रखता था। उसने शक्ति का प्रयोग कर कैथोलिक को सुधारवादी चर्च मे सम्मिलित करने का प्रयास किया जिससे स्विट्जरलैण्ड में 1531 ई. में गृह युद्ध शुरू हो गया। इस गृह युद्ध में वह मारा गया। बाद में "केपल की संधि" हुई जिसके द्वारा वहां पर कैथोलिक व प्रोटेस्टेंट दोनों मतों को मान्यता मिल गई।

3.कॉल्विन (1509–1564 ई.) – काल्विन का जन्म 1509 ई. में फ्रांस में हुआ। प्रोटेस्टेंट मत की स्थापना में लूथर के बाद कॉल्विन का ही नाम आता है। कॉल्विन पहला सुधारक था, जो अटूट विश्वास के साथ, एक ऐसा पवित्र सम्प्रदाय स्थापित करना चाहता था जिसे अन्तर्राष्ट्रीय मान्यता और ख्याति प्राप्त हो। कॉल्विन ने पेरिस विश्व विद्यालय में धार्मिक साहित्य का गहरा अध्ययन किया। लूथर के विचारों को पढकर 24 वर्ष की उम्र में ही प्रोटेस्टेण्ट मत को अपना लिया तथा फ्रांस के रोमन कैथोलिक चर्च से संबंध तोड़ लिए। फ्रांस के रोमन कैथोलिक चर्च और फ्रांस की सरकार के क्रोध से बचने के लिए वह फ्रांस छोड़कर स्विजरलैण्ड चला गया और वहीं उसने ईसाईयत की स्थापनाऐं (इन्स्टीट्यूट्स ऑफ द क्रिश्चियन रिलीजन) नामक पुस्तक की रचना की। यह धार्मिक पुस्तक बाद में प्रोटेस्टेंटवाद के इतिहास में सबसे प्रभावशाली ग्रंथ साबित हुई।

कॉल्विन के सिद्वान्तों का आधार ईश्वर की इच्छा की सर्वोच्चता है। ईश्वर की इच्छा से सब कुछ होता है, इसलिए मनुष्य की मुक्ति न कर्म से हो सकती है न आस्था से, वह केवल ईश्वर के अनुग्रह से ही हो सकती है व्यक्ति का जन्म होते ही यह निश्चित हो जाता है कि उसको मुक्ति मिलेगी या नहीं। इसे ही पूर्व में तय नियति का सिद्धान्त कहते हैं। इस सिद्धान्त से घोर भाग्यवादिता बढ़नी चाहिये थी, लेकिन काल्विन ने ठीक इसके विपरीत अपने अनुयायियों में एक नवीन उत्साह और दैविक प्रेरणा का संचार किया। कॉल्विन मत को मानने वालों में व्यापारी वर्ग अधिक था। 1536 ई. से अपनी मृत्यु 1564 ई. तक उसने अपना कार्य क्षेत्र जिनेवा को ही रखा। उसने इस काल में जिनेवा की धार्मिक संस्थाओं का ही नहीं, बल्कि उसकी शिक्षा एवं स्वास्थ्य व्यवस्था तथा व्यापार का भी संचालन किया। काल्विनवाद का प्रचार स्विट्जरलैण्ड, डच, नीदरलैण्ड, स्कॉटलैण्ड और जर्मन पैलेटिनेट में हुआ। इंग्लैण्ड और फ्रांस में भी उसके अनुयायी थे।

4.ब्रिटेन में एंग्लीकनवाद :– ब्रिटेन में धर्म सुधार आन्दोलन का नेतृत्व इंग्लैण्ड के राजाओं द्वारा किया गया। शुरूआत हेनरी अष्टम के द्वारा राष्ट्रीय चर्च की स्थापना से हुई। हेनरी अपनी पत्नी कैथरीन के साथ विवाह को पोप से अमान्य घोषित करवाना चाहता था। पोप हेनरी के लिए यह कर तो सकता था, लेकिन उसे डर था कि कैथरीन के विवाह को अमान्य करने से उसका भतीजा सम्राट चार्ल्स पंचम नाराज हो जाएगा। सम्राट चार्ल्स पंचम से पोप डरता था, क्योंकि रोम की सुरक्षा सम्राट चार्ल्स पंचम की सेना करती थी और कैथरीन सम्राट चार्ल्स की बुआ थी। जब हेनरी ने पोप से यह कार्य करने को कहा तो उसने टाल दिया। तब हेनरी ने संसद से एक्ट ऑफ सुपरमेसी पास करवाया तथा स्वयं ब्रिटेन के चर्च का सर्वोच्च अधिकारी बन गया। इस प्रकार ब्रिटेन ने रोमन चर्च से

संबंध तोड़ लिए तथा ब्रिटेन के चर्च को एंग्लीकन चर्च का नाम दिया गया। पोप को वार्षिक कर भेजना बन्द कर दिया गया। हेनरी के उत्तराधिकारी एडवर्ड छठें के शासन काल में आंग्ल चर्च प्रोटेस्टेण्ट बन गया। कैमर ने बुक ऑफ कामन प्रेयर नामक पुस्तक प्रकाशित करवाई और प्रसिद्ध बयालीस सिद्धान्तों की घोषणा की। ब्रिटेन का यह धर्म सुधार आन्दोलन एंग्लीकनवाद के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

धर्म सुधार आन्दोलन के परिणाम :

1. ईसाई धर्म का विभाजन :– इस आन्दोलन का महत्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि सम्पूर्ण यूरोप में एक मात्र कैथोलिक चर्च की प्रभुसत्ता सदा के लिए समाप्त हो गई। अब यूरोप में प्रोटेस्टेंट वाद से प्रभावित ईसाई चर्च की स्थापना होने लगी।
2. प्रतिवादी सुधार आन्दोलन :– पुनर्जागरण ने जो वातावरण तैयार किया उसमें कैथोलिक चर्च में सुधार के लिए वाईक्लिफ और हंस जैसे लोगों ने आवाज उठाई तो उन्हें दबा दिया गया और पोप तथा पादरी विलासिता में डूबे रहे। किन्तु जब लूथर और कॉल्विन ने विद्रोह किया तो कैथोलिक चर्च के लिए जीवन – मरण का संकट पैदा हो गया। जब यूरोप में एक के बाद एक प्रोटेस्टेण्ट राज्य बनते जा रहे तो कैथोलिक चर्च को बचाने व प्रोटेस्टेण्ट आन्दोलन को रोकने के लिए कुछ सुधारात्मक उपाय किए गए। ये सुधारात्मक उपाय धर्म सुधार आन्दोलन के प्रतिवाद (प्रतिक्रिया स्वरूप) में ही शुरू किये गए। अतः इसे प्रतिवादी सुधार आन्दोलन कहते हैं। इस सुधार का उद्देश्य चर्च के संगठन और धार्मिक सिद्धान्तों में आए दोषों को दूर करना व चर्च के अन्दर व्याप्त भ्रष्ट आचरणों को रोकना था।

ट्रेन्ट की सभा :– उत्तरी इटली के ट्रेन्ट नामक स्थान पर कैथोलिक पंथ सभा का आयोजन किया गया। इस सभा में ऐसे अनेक सुधारवादी चिन्तकों को बुलाया गया, जो कैथोलिक धर्म के सिद्धान्तों की सात्विक व्याख्या कर सकें। इस सभा में दो तरह के निर्णय लिए गए सिद्धान्तगत और सुधार संबंधी। चर्च के मूल सिद्धान्तों में कोई परिवर्तन स्वीकार नहीं किया गया। बाईबिल की व्याख्या का अधिकार केवल चर्च को ही दिया गया। सातों संस्कार अपरिवर्तनीय माने गए। मुक्ति का आधार चर्च के माध्यम से सम्पन्न कार्य बताये गए और चमत्कार में आस्था व्यक्त की गई। पोप को चर्च का सर्वोच्च अधिकारी और सर्वमान्य व्याख्याकार स्वीकार किया गया। सुधारात्मक उपायों में चर्च के पदों की बिक्री समाप्त कर दी गई। पादरियों को निर्देश दिये गए कि वे अपने कार्यक्षेत्र में रहकर आदर्श नैतिक जीवन बितायें। पादरियों को उचित शिक्षा देने का प्रबंध किया गया। धर्म की भाषा तो लैटिन रखी गई लेकिन लोक भाषाओं का प्रयोग करने की भी आज्ञा मिल गई। क्षमापत्रों की ब्रिकी रोक दी गई और संस्कार संबंधी कार्यो के लिए आर्थिक लाभ लेने पर प्रतिबंध लगा दिया। ऐसी पुस्तकों की भी सूची बनाई गई जो पूर्णतः या अंशतः चर्च विरोधी थीं। कुछ पुस्तकों को पूरी तरह प्रतिबंधित किया गया और कुछ के निषिद्ध अंश निकालकर पढ़ने योग्य समझा गया।

धर्म परीक्षण अदालत की स्थापना प्रोटेस्टेंटवादियों की प्रगति को रोकने तथा ढुलमुल कैथोलिक का पता लगाकर उन्हें दण्डित करने तथा नास्तिक, धर्म विरोधियों, विद्रोही मिशनरियों को कठोरतम दण्ड दिये जाने का प्रावधान इस न्यायालय के माध्यम से किया गया। सोसाइटी ऑफ जेसस की स्थापना 1534 ई. में की गई। इस सोसाइटी की स्थापना करने वाला "इग्नेशियस लोयोला" था जो स्पेन निवासी एक बहादुर सैनिक था तथा जिसने अपना सारा जीवन कैथोलिक चर्च के लिए समर्पित कर दिया था। इस सोसाइटी के सदस्य उच्च प्रतिभा, अच्छे स्वास्थ्य, आकर्षक व्यक्तित्व वाले होते थे। इनको दो वर्ष तक प्रशिक्षण दिया जाता था। प्रशिक्षण में सफल होने पर उन्हें पादरी, डाक्टर, शिक्षक, कूटनीतिक दूत इत्यादि विशिष्ट कार्य दिया जाता था। इस संस्था के सदस्यों को अनुशासन बद्ध रहकर कैथोलिक पंथ की निःस्वार्थ सेवा करने, दीनता, पवित्रता का जीवन जीने तथा आज्ञापालन एवं पोप के प्रति समर्पण की शपथ लेनी होती थी। इस संस्था के सदस्यों को कैथोलिक ईसाई मत का प्रचार–प्रसार करने के लिए भारत, चीन, अमेरिका आदि अनेक देशों में भेजा गया।

इस प्रकार कैथोलिक प्रतिवादी धर्म सुधार आंदोलन (कैथोलिक काउण्टर रिफोरमेशन) ने प्रोटेस्टेंट आंधी को रोक दिया तथा ट्रेन्ट की सभा द्वारा किये गए आत्म निरीक्षण तथा लोयोला जैसे उत्साही लोगों के प्रयासों ने विरोध के स्पष्ट

मुद्दे समाप्त कर दिए और व्यवस्था के अन्दर जो खोखलापन आया था उसे नए आत्मविश्वास के साथ दूर कर दिया गया।

3. राष्ट्रवाद का विकास :– धर्म सुधार आन्दोलन ने राष्ट्रीय राजा की शक्ति और प्रतिष्ठा का विकास किया। राष्ट्रवादी राजाओं के कारण ही प्रोटेस्टेंट पांथिक सुधार आन्दोलन सफल हुआ। रोमन कैथोलिक चर्च अन्तर्राष्ट्रीय संस्था थी और राजाओं की सर्वोच्च सत्ता को नहीं मानती थी। प्रोटेस्टेंट आन्दोलन की सफलता ने राज्यों को अपना पंथ चुनने की स्वतन्त्रता प्रदान की और रोमन कैथोलिक पोप के आधिपत्य को समाप्त किया। राष्ट्रीय चर्चों की स्थापना हुई। प्रतिवादी सुधार आांदोलन के पश्चात् कैथोलिक पोप ने भी राष्ट्रीय चर्च के पादरियों की नियुक्ति का अधिकार राजाओं को दे दिया। राज्यों की शक्ति में वृद्धि के साथ ही लोगों में राष्ट्रवाद की भावना का भी विकास हुआ।

4. धर्म गृह युद्धों का प्रारम्भ :– धर्म सुधार आन्दोलन के कारण यूरोप का ईसाई धर्म दो भागों में विभाजित हो गया और इस विभाजन के कारण यूरोपीय राज्यों में गुटबन्दी पनपी जिससे परस्पर संघर्ष प्रारम्भ हो गया। इनमें हालैण्ड में धर्म युद्व, फ्रांस में ज्विंगली के समर्थकों ने धार्मिक स्वतन्त्रता हेतु युद्ध किया। जर्मनी के राज्यों में भी धर्म के नाम पर युद्ध हुए।

5. शिक्षा का प्रचार–प्रसार :– धर्म सुधार आन्दोलन, के कारण सुधारवादियों ओर कैथोलिक मतानुयायियों ने शिक्षा के प्रसार पर जोर दिया। इसके अन्तर्गत सामाजिक संस्थाओं और राज्य द्वारा विद्यालय प्रारम्भ किए गए। अब प्रगतिशील तर्क आधारित, वैज्ञानिक दृष्टिकोण युक्त शिक्षा दी जाने लगी।

6. साहित्य एवं भाषा के क्षेत्र में विकास :– धर्म सुधार आन्दोलन के कारण अब लैटिन भाषा के साथ–साथ प्रादेशिक भाषाओं को भी मान्यता दी गई, जिससे प्रादेशिक भाषाएँ समृद्ध हुई। जनभाषाओं के विकास के लिए अनेक मजहब शास्त्र और नीतिशास्त्र , जनभाषाओं में लिखे गए। सुधारवादियों ने अनेक साहित्यिक ग्रन्थों की रचना जनभाषाओ में की।

7. आर्थिक विकास एवं पूंजीवादी प्रवृत्ति को प्रोत्साहन :– तत्कालीन अर्थव्यवस्था पर धर्म सुधार का गहरा प्रभाव पड़ा। कॉल्विनवाद ने व्यापार और वाणिज्य का समर्थन किया। सुधार आन्दोलन के पश्चात् चर्च की भूमि को कृषकों में वितरित किया गया, जिससे राज्य के राजस्व में वृद्धि हुई। चर्च के बंधन से मुक्त होकर व्यापारी पूंजी निवेश द्वारा व्यापार, वाणिज्य एवं उद्योग धन्धों का विकास करने लगे। राष्ट्रीय पूंजी में वृद्धि हुई। श्रम की महत्ता स्थापित हुई जिसका राष्ट्र के औद्योगिक विकास में उपयोग हुआ।

8. समाज में नैतिक अनुशासन बढा :धर्म सुधार आन्दोलन से पूर्व नैतिकता का मापदण्ड चर्च के आदेश ही माने जाते थे। धार्मिक आडम्बर विरोधी गतिविधियों ने मनुष्य को सरल, सादा, त्यागमय और नैतिकता से परिपूर्ण जीवन यापन की शिक्षा दी। प्रोटेस्टेंटवादियों ने ही ईश्वर की प्राप्ति का मार्ग विशुद्ध नैतिकता बताया। कॉल्विन के अनुयायियों ने सरल एवं सादा जीवन, वैयक्तिक नैतिक अनुशासन के आदर्श प्रस्तुत किए तो जेसुइट भी पीछे नहीं रहे।

3. औद्योगिक क्रान्ति

पुनर्जागरण और धर्म सुधार आन्दोलन से यूरोप में बौद्धिक चिन्तन को गति मिली और इसी के परिणाम स्वरूप 18 वीं शताब्दी तक वाणिज्य और औद्योगिक क्षेत्र में अभूतपूर्व क्रान्ति हुई, जो ब्रिटेन से प्रारंभ होकर सम्पूर्ण यूरोप में फैल गई। अठारहवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में आर्थिक और तकनीकि क्षेत्र में जो परिर्वतन आये उसके कारण घरेलू, हस्त शिल्प और हथकरघा उद्योगों का स्थान कारखाना पद्धति ने ले लिया, परिणामस्वरुप उत्पादन में अत्यधिक वृद्धि होने लगी। औद्योगिक क्रान्ति ने अर्थव्यवस्था, सामाजिक व्यवस्था के साथ–साथ राजनैतिक व्यवस्था को भी प्रभावित किया। औद्योगिक क्रान्ति पूर्व नियोजित या ब्रिटेन की अर्थ नीति के कारण नहीं थी बल्कि कुछ विशेष परिस्थितियों की देन थी। जब मांग में वृद्धि हुई तो उस की पूर्ति करने के लिए उत्पादन में वृद्धि करने हेतु मशीनों का आविष्कार और प्रयोग तीव्र गति से हुआ। जब उत्पादन हुआ तो अतिरिक्त उत्पादन को खपाने के लिए विदेशी बाजारों की खोज हुई अतः विदेशी व्यापार में वृद्धि हुई। उत्पादक देशों के लोगों की आर्थिक आय में वृद्धि हुई। इस प्रकार औद्योगिक क्रान्ति ने मनुष्य के जीवन को भी परिवर्तित किया।

औद्योगिक क्रान्ति का अर्थ :– 'औद्योगिक क्रान्ति' शब्द का प्रयोग यूरोपीय विद्वानों फ्रांस के जार्जिस मिशले और जर्मनी के क्राइड्रिक एंजेन्म द्वारा किया गया। अंग्रेजी में इस शब्द का

प्रयोग सर्वप्रथम दार्शनिक और अर्थशास्त्री अरनॉल्ड टॉयनबी द्वारा उन परिवर्तनों का वर्णन करने के लिए किया गया जो ब्रिटेन के औद्योगिक विकास में 1760 ई. से 1820 ई. के बीच हुए थे। उन्होंने अपनी पुस्तक 'लेक्चर्स ऑन इण्डस्ट्रियल रिवोल्यूशन इन इग्लैण्ड' में औद्योगिक क्रान्ति को स्पष्ट करते हुए लिखा कि यह कोई आकस्मिक घटना नहीं थी।

इस का सूत्रपात शताब्दियों पूर्व हुआ जो क्रमशः अपनी गति से चलती रही और आज भी चल रही है। इतिहासकार जी. डब्लू.साउथगेट के अनुसार औद्योगिक क्रान्ति, औद्योगिक प्रणाली में परिवर्तन था जिसमें हस्त शिल्प के स्थान पर शक्ति संचालित यंत्रो से काम लिया जाने लगा तथा औद्योगिक संगठन में परिवर्तन हुआ। घरों में उद्योग चलाने की अपेक्षा कारखानों में काम होने लगा। इतिहासकार सी. डी. हेजन का मत है कि कुटीर उद्योग का मशीनीकरण औद्योगिक क्रान्ति है। डेविज के अनुसार औद्योगिक क्रान्ति का तात्पर्य उन परिवर्तनों से है जिन्होंने यह सम्भव कर दिया था कि मनुष्य उत्पादन के प्राचीन उपायों को त्याग कर विस्तृत रूप से कारखानों में वस्तुओं का उत्पादन कर सके। एन्साइक्लोपीडिया ऑफ सोशल साइंसेज खण्ड आठ के अनुसार "आर्थिक और तकनीकि विकास जो अठारहवीं शताब्दी में अधिक सशक्त और तीव्र हो गया था, जिसके फलस्वरूप आधुनिक उद्योगवाद का जन्म हुआ जिसे औद्योगिक क्रान्ति कहा जाता है।''

औद्योगिक क्रान्ति का अर्थ उस आर्थिक व्यवस्था से है जो परम्परागत कम उत्पादन और विकास की निम्न अवस्था से निकलकर आधुनिक औद्योगिक क्षेत्र में प्रविष्ट होती है, जिससे अधिक उत्पादन, जीवन का रहन–सहन और प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि होती है और उत्पादन दर निरन्तर बढती रहती है, जिसका मनुष्य, समाज और राज्य पर व्यापक प्रभाव पडा।

औद्योगिक क्रान्ति से ब्रिटेन में हुए परिवर्तन –:

1. उत्पादन संबंधी कार्य जो पहले हाथ से किये जाते थे वे अब मशीनों से किये जाने लगे।
2. मशीनों के संचालन हेतु जलशक्ति के स्थान पर वाष्प शक्ति, खनिज तेल तथा विद्युत शक्ति का प्रयोग किया जाने लगा।
3. इस्पात की मांग की पूर्ति के लिए इस्पात के कारखाने खोले गए।
4. कृषि का व्यवसायीकरण किया गया । कृषि कार्य में मशीनों का प्रयोग किया जाने लगा।
5. पूँजी का उपयोग बढ़ा और बैंकिग पद्वति का विकास हुआ।
6. कम मानव श्रम एवं अधिकतम उत्पादन के सिद्धान्त को अपनाया गया।
7. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में वृद्वि हेतु संगठित व्यापार तंत्र विकसित किया गया ।
8. यातायात के त्वरित विकास के लिए रेल इंजन और यन्त्र चालित जहाजों में आमूल परिवर्तन किया गया।

औद्योगिक क्रान्ति का इग्लैण्ड में आरम्भ :–

इंग्लैण्ड पहला देश था जहाँ सबसे पहले आधुनिक औद्योगीकरण का अनुभव किया गया। यूरोप के अन्य देशों की अपेक्षा ब्रिटेन में अनेक ऐसी परिस्थितियाँ थी जिन्होंने वहाँ औद्योगिक क्रान्ति आरम्भ की।

1. लोहे एवं कोयले की खानो का पास – पास होना।
2. इंग्लैण्ड के पास विस्तृत औपनिवेशिक साम्राज्य।
3. मांग के अनुरूप उत्पादन की व्यवस्था।
4. जनसंख्या वृद्धि।
5. बाजार व्यवस्था में स्थानीय प्राधिकरणो का हस्तक्षेप नहीं होना।
6. पूँजी की उपलब्धता प्रचुर मात्रा में होना व बैंकिग प्रणाली स्थापित होना।
7. व्यापारी वर्ग का प्रभावी होना।
8. इंग्लैण्ड की अनुकूल भौगोलिक स्थित।
9. राजनैतिक स्थायित्व एवं सुशासन का होना।
10. वैज्ञानिक अविष्कारों को प्रोत्साहन देना।
11. कृषि क्रान्ति का होना।

औद्योगिक क्रान्ति के कारण विभिन्न क्षेत्रों में हुए परिवर्तन :–

1. कृषि क्षेत्र में :–यह माना जाता है कि कृषि क्रान्ति के बिना औद्योगिक क्रान्ति सम्भव नहीं थी। सत्रहवीं शताब्दी तक कृषि क्षेत्र में सामान्यतः पुरानी पद्धति को ही काम में लिया जाता था कृषि की तकनीक में परिवर्तन नहीं होने का कारण यह था कि कृषि जन्य वस्तुओं की मांग राज्य की खपत से अधिक नहीं

थी। लेकिन जैसे ही उद्योगों का विस्तार हुआ नगरों की आबादी बढ़ी, त्यों ही गाँव के किसानों को शहरों में रहने वालों के लिए अधिक अन्न और कारखानों के लिए अधिक कच्चा माल उत्पादन करना पड़ा। जब कृषि जन्य वस्तुओं की मांग अधिक बढी तो कृषि उत्पादन उसी अनुपात में बढ़ाने के लिए कृषि उपयोगी मशीनों की आवश्यकता हुई।

दूसरा कारण अब लोग मुनाफे के लिए खेतों में पूँजी लगा रहे थे। कृषि के क्षेत्र में पूँजी के प्रयोगों ने कृषि क्रान्ति की। सर्वप्रथम यार्कशायर के जमीदार जेर्थोटल ने बीज बोने की मशीन (ड्रिल मशीन) बनाई, जिससे बीज बोने का कार्य अधिक व्यवस्थित तथा सुचारू रूप से होने लगा। टाउनशैड ने फसल चक्र का सिद्धान्त दिया जिसमें फसलों को अदल बदलकर बोने से भूमि की उर्वरा शक्ति बनाई रखी जा सकती थी, अब परती छोड़ने की आवश्यकता नहीं रही तथा प्रति एकड़ फसल उत्पादन अधिक हो गया। 1770 ई. के आस पास राबर्ट बैकबैल ने कृषि के साथ–साथ पशुपालन को एक लाभदायक व्यवसाय बना दिया। इंग्लैण्ड के किसान आर्थर यंग ने नई खेती का प्रसार किया, जिनमें वह छोटे खुले खेतों को मिलाकर बड़े– बड़े कृषि फार्म और बड़े फार्मो के लाभों के बारे में बताया और अपने विचारों के प्रसार के लिए "एनल्स ऑफ एग्रीकल्चर" नामक पत्रिका शुरु की। 1793 ई. में अमेरीका निवासी विह्टन ने अनाज को भूसे से अलग करने की मशीन तथा 1834 ई. में साइरस के एच. मैक कोरनिक ने फसल काटने वाली मशीन का आविष्कार किया।

2. वस्त्र उद्योग में परिवर्तन :– औद्योगिक क्रान्ति वस्त्र उद्योग से शुरु हुई थी। 18वीं शताब्दी के मध्य तक यूरोप के उद्योग में वस्त्र बनाने की प्राचीन प्रणाली वस्त्रों की मांग को पूरा करने में असमर्थ थी। इंग्लैण्ड में पहले सूती कपड़े भारत से आयात किये जाते थे। लेकिन जब भारत के कई हिस्सों पर ईस्ट इण्डिया कम्पनी का राजनीतिक नियंत्रण स्थापित हो गया तब इंग्लैण्ड ने कपड़े के साथ–साथ कपास का आयात करना भी प्रारम्भ कर दिया। इस प्रकार कपास की धुनाई से वस्त्र निर्माण तक समस्त कार्य वहीं होने लगे। यूरोप में वस्त्रों की बढ़ती मांग को पुराने तरीके से पूरा नहीं किया जा सकता था। 1733 ई. में जॉन नामक बुनकर ने फ्लाइंग शटल की खोज की जिस से कपड़े बुनने में तेजी आई। 1764 ई. में जेम्स हार ग्रीब्स ने "स्पिनिंग जेनी" का आविष्कार किया जिससे एक साथ सूत के आठ धागे काटे जा सकते थे। 1769 ई. में रिचर्ड आर्कराइट ने स्पिनिंग जेनी में सुधार करके जल शक्ति से चलने वाली "वाटर फ्रेम" नामक सूत कातने की मशीन बनाई।

3. लौह उद्योग में नये तकनीकी परिवर्तन :– नई–नई मशीनें बनाने के लिए लोहे की मांग बढ़ी। पुरानी पद्धति से इस मांग की पूर्ति नहीं की जा सकती थी। यह पुरानी पद्धति श्रमसाध्य एवं महँगी थी। अतः लौह अयस्क को शुद्ध करने के लिए विभिन्न विधियों की खोज की जाने लगी। 1709 ई. में अब्राहम डर्बी द्वारा धमन भट्टी का अविष्कार किया जिसमें सर्वप्रथम कोक (पत्थर का कोयला) का प्रयोग किया गया। जिसमें लौह अयस्क को पिघलाने और साफ करने का कार्य सुगम हो गया। इस आविष्कार ने धातु कर्म उद्योग मे क्रान्ति ला दी। द्वितीय डर्बी (1711–68 ई.) ने ढलवाँ लोहे से पिटवाँ लोहे का विकास किया, जो कम भंगुर था। हेनरी कोर्ट (1740–1823 ई.) ने संडोलन भट्टी की ऐसी विधि का आविष्कार किया जिसके द्वारा शुद्ध और अच्छा लोहा बनाना संम्भव हुआ। लोहे से बनी मशीनें काफी वजनदार होती थीं और उसमें जंग भी लग जाता था। इस समस्या से छुटकारा दिलाने के लिए इस्पात की खोज की गई। इस्पात बनाने के लिए लोहे को शुद्ध करके उसमें कुछ मात्रा में कार्बन, मैगनीज तथा अन्य पदार्थो को मिला कर तैयार किया जाता, जो अपेक्षाकृत हल्का मजबूत, जंगरोधी और लचकादार होता था। 1856 ई. से पूर्व इस्पात बनाने कि विधि काफी महँगी थी। हेनरी बेस्सेमर ने इस्पात बनाने कि एक विधि खोजी जिसमें जल्दी और सस्ता इस्पात तैयार होने लगा। यह विधि बेसेमर प्रक्रिया नाम से प्रसिद्ध हुई। इस विधि से ढलवाँ लोहे से सीधा इस्पात तैयार किया जाता था। ब्रिटेन के लौह अयस्क उद्योग में इतना परिवर्तन हुआ कि 1800 ई. से 1830 ई. के दौरान अपने लौह उत्पादन को चौगुना बढा लिया। 1820 ई. में जहाँ एक टन ढलवाँ लोहा बनाने के लिए आठ टन कोयले की आवश्यकता होती थी, 1850 ई. तक आते–आते यह दो टन तक ही रह गई।

4. भाप की शक्ति के आविष्कार से परिवर्तनः–जब नई मशीनों की खोज हुई तो इन्हें चलाने के लिए शक्ति के नये स्रोतों की

आवश्यकता हुई। अभी तक जल और पवन शक्ति का प्रयोग किया जाता था, लेकिन इसकी सीमाएँ थी। भाप शक्ति का उपयोग सर्वप्रथम खनन उद्योगों में किया गया। खानों में पानी भरने की गम्भीर समस्या थी, इसी समस्या से मुक्ति पाने के लिए 1712 ई. में टामसन न्यूकोमेन ने एक वाष्प इंजन का अविष्कार किया किंतु इस इंजन में उर्जा खपत अधिक थी तथा गहराई से पानी निकालना सम्भव नहीं था। जैम्सवाट ने 1769 ई. में न्यकोमेन के वाष्प इंजन के दोषों को दूर कर, कम खर्चीला तथा अधिक उपयोगी वाष्प इंजन बनाया। जिससे कारखानों में शक्ति चालित उर्जा मिलने लगी।

5. नवीन तकनीक से परिवहन के साधनों में परिवर्तनः– बढ़ते व्यापार एवं उद्योग के कारण परिवहन के साधनों में सुधार की आवश्यकता हुई। परिवहन को आसान और सस्ता बनाने के लिए स्कॉटलैण्ड वासी जॉन लूडो मकाडम ने सड़क निर्माण का एक नया तरीका निकाला जिसमें सड़क के निचले भाग में भारी पत्थरों की परत उसके बाद छोटे–छोटे पत्थरों की परत और उसके बाद मिट्टी के गारे से सख्त सतह बना दी जाती थी।

भारी सामान के परिवहन को सस्ता करने के लिए ब्रिटेन ने नहरों का निर्माण कराया। इंग्लैण्ड में पहली नहर वर्सली कैनाल, 1761 ई. में जैम्स ब्रिंडली द्वारा बनाई गई। इससे माल ढोने का खर्चा आधा रह गया। 1788 ई. से 1796 ई. तक का काल "नहरोन्माद" के नाम से पुकारा जाने लगा। इस अवधि में 46 परियोजनाएँ हाथ में ली गई थी। 1869 ई. में फ्रांसिसी इंजिनियर फर्दिनांद द लैस्सैप ने स्वेज नहर, जो भूमध्य सागर और लाल सागर को मिलाती है, का निर्माण कराया, जिससे यूरोप और भारत के मध्य की दूरी एक तिहाई कम हो गई।

भाप से चलने वाला रेल इंजन "स्टीफेनम का राकेट" 1814 ई. में बना, इसी के साथ रेल गाडियाँ, परिवहन का एक ऐसा साधन बन गई, जो वर्ष भर उपलब्ध रहती थी। 1801 ई. में रिचर्ड ट्रेविथिक ने एक इंजन का निर्माण किया जिसे पफिंग डेविल अर्थात् "फुफकारने वाला दानव" कहते थे। 1814 ई. में रेल्वे इंजिनियर जॉर्ज स्टीफेन्स ने रेल इंजन बनाया जिसे ब्लचर कहा जाता था। यह इंजन 30 टन भार को 4 मील प्रति घंटे की रफ्तार से एक पहाड़ी पर ले जा सकता था। रेल गाड़ी द्वारा सर्वप्रथम 1825 ई. में स्टॉकटन और डार्लिगटन शहरों के बीच 9 मील लम्बा रेलमार्ग 24 किलोमीटर प्रतिघंटा की रफ्तार से 2 घंटे में तय किया गया। 1830 ई. में लिवरपूल और मैनचैस्टर को आपस में रेलमार्ग द्वारा जोड़ा गया। रेल के आविष्कार ने कोयला, लोहा एवं अन्य औद्योगिक उत्पादों को कम समय में और कम खर्च में लाना, ले जाना संभव बना दिया।

औद्योगिक क्रान्ति के परिणाम

विलडूंरा ने लिखा है कि मानव इतिहास में दो प्रसिद्ध क्रांतियाँ हुई हैं जिन्होंने मानव इतिहास को सर्वाधिक प्रभावित किया, एक तो जब मनुष्य ने पाषाण युग में आखेट छोड़कर कृषि को प्रमुख पेशा बनाया, दूसरी 18 वीं शताब्दी में जब मनुष्य ने कृषि को छोड़कर उद्योग को प्रमुख पेशा बनाया। औद्योगिक क्रान्ति के इन परिणामों को चार प्रमुख शीर्षकों में बाँट सकते हैं :–

1. आर्थिक परिणामः–
   (1) उत्पादन एवं वाणिज्य में असाधारण वृद्वि
   (2) आर्थिक संतुलन
   (3) नगरों का विकास
   (4) कुटीर उद्योगों का विनाश।
   (5) बैंक व मुद्रा का विकास
   (6) राष्ट्रीय बाजारों का संरक्षण
   (7) औद्योगिक पूँजीवाद का विकास
2. सामाजिक परिणामः–
   (1) नैतिक मूल्यों में गिरावट
   (2) संयुक्त परिवार प्रथा में बिखराव
   (3) नये सामाजिक वर्ग का उदय
   (4) मानवीय संबंधों में गिरावट
   (5) गन्दी बस्तियों की समस्या
   (5) नयी संस्कृति का जन्म
   (6) जनसंख्या में वृद्धि
3. राजनैतिक परिणामः–
   (1) राजनीति में लोक तन्त्र की मांग
   (2) औपनिवेशिक प्रतिस्पर्धा की शुरूआत
   (3) मध्यम वर्ग की राजनीतिक महत्वाकाँक्षाओं का उदय
   (4) श्रमिक आन्दोलन का उदय
4. वैचारिक परिणामः–
   (1) आर्थिक उदारवाद का स्वागत
   (2) समाजवाद का उदय।

अभ्यासार्थ प्रश्न

अति लघुरात्मक प्रश्न (दो पंक्तियों में उत्तर दिजिए) :–

1. पुनर्जागरण से क्या आशय है?
2. कुस्तुन्तुनिया के पतन के दो महत्वपूर्ण परिणाम बताईये।
3. मानवतावाद का जनक किसे कहा जाता है?
4. पुनर्जागरण कालीन तीन मूर्तिकारों के नाम बताईये।
5. दी मोर्निंग स्टार ऑफ रिफोरमेंशन किसे कहा जाता है?
6. मार्टिन लूथर द्वारा लिखित तीन परिपत्रों के नाम बताइये।
7. आक्सबर्ग आन्दोलन की स्वीकृति क्या है?
8. धर्म सुधार आन्दोलन में अक्टूबर 1517 ई. का एतिहासिक महत्व बताईये।
9. सर्वप्रथम औद्योगिक क्रान्ति किस देश में हुई?
10. कृषि में हुए किन्हीं दो आविष्कारों को लिखिए।
11. फर्दिनांद द लैस्सैप कौन था?

लघुत्तरात्मक प्रश्न (आठ पंक्तियों में उत्तर दीजिये)

1. पुनर्जागरण से क्या अभिप्राय है?
2. पुनर्जागरण के पाँच कारण लिखिए।
3. मानवतावाद क्या है ? स्पष्ट कीजिए।
4. पुनर्जागरण का केन्द्र इटली ही क्यों बना?
5. धर्म सुधार आन्दोलन के तत्कालीन कारण क्या थे?
6. प्रतिवादी सुधार आन्दोलन क्या था? स्पष्ट कीजिए।
7. कॉल्विन का संक्षिप परिचय दीजिये।
8. धार्मिक न्यायालय पर टिप्पणी कीजिए।
9. यूरोप में औद्योगिक क्रान्ति के पाँच कारक लिखिए।
10. औद्योगिक क्रान्ति के समय वस्त्र उद्योग में हुए आविष्कारों का उल्लेख कीजिए।
11. औद्योगिक क्रान्ति के समय लौह उद्योग में आविष्कारों से क्या परिवर्तन हुआ?

निबन्धात्मक प्रश्न (अधिकतम पाँच पृष्ठों में उत्तर दीजिए)

1. पुनर्जागरण के कारण और परिणाम बताईये।
2. धर्म सुधार आन्दोलन में मार्टिन लूथर की भूमिका का वर्णन कीजिए।
3. धर्म सुधार आन्दोलन ने यूरोप को किस प्रकार प्रभावित किया?
4. औद्योगिक क्रान्ति के कारण विभिन्न क्षेत्रों में हुए परिवर्तनों का उल्लेख कीजिए।

इकाई 4

विश्व में राष्ट्रवाद का विकास

कोलम्बस से पूर्व अमेरिका के मूल निवासी

नई दुनिया के नाम से प्रसिद्ध अमेरिका महाद्वीप का इतिहास क्रिस्टोफर कोलम्बस की 1492 ई. की खोज यात्रा के साथ प्रारम्भ हुआ माना जाता है। यूरोपीय इतिहाकार एक लम्बे अरसे से विश्व के इस शक्तिशाली देश का कोलम्बस से पूर्व का इतिहास छिपाते रहे हैं। अमेरिका के मूल निवासी जिन्हें यूरोपीय इतिहासकारों ने ''रेड इंडियन्स'' के नाम से सम्बोधित किया है, हजारों सालों तक नस्ली भेदभाव से ग्रसित रहे।

1492 ई. से पूर्व अमेरिका का इतिहास विश्व के समक्ष नहीं रखना एवं वहीं से इतिहास की शुरूआत करना यूरोपियन देशों की उसी नीति के संगत है जो उन्होंने औपनिवेशिक भावना से प्रेरित होकर आस्ट्रेलिया, दक्षिणी अफ्रीका, न्यूजीलैण्ड, इण्डोनेशिया, चीन तथा भारत के साथ–साथ अन्य राष्ट्रों में अपनायी।

अमेरिकी स्वतंत्रता संग्राम के अध्ययन से पूर्व इतिहास के छात्रों को अमेरिका के मूल निवासी एवं उनकी सभ्यता, संस्कृति को जानना अतिआवश्यक है ताकि उस संघर्ष को उचित सम्मान दिया जा सके।

मूल निवासियों की प्राचीन सभ्यताएँ

उत्तरी अमेरिका को माया एवं एजटेक सभ्यता और बहामा द्वीप समूह को अरावाक जनजाति तथा दक्षिणी अमेरिका को इंका संस्कृति के लिए जाना जाता है। अमेरिकी मूल संस्कृति के बारे में हमें उस काल के यात्रियों द्वारा लिखित यात्रा वृतान्तों, रोजनामचों, डायरियों एवं भव्य वास्तुकला के अवशेषों से पता चलता है। ये सभी सभ्यताएँ शहरी या नगरीय सभ्यताएँ थी। अमेरिका में आजीविका का मूल आधार कृषि और उनसे जुड़े व्यवसाय ही थे। वे लोग मक्का, आलू, कसावा व कपास पैदा करते थे। भारतीय समाज के समान यहाँ भी प्रकृति व पर्यावरण को उनके सामाजिक व धार्मिक कार्यों में उचित प्रतिनिधित्व दिया जाता था।

चित्र–4.1 : अमेरिकी मूल निवासियोंकी प्राचीन सभ्यताएँ

माया सभ्यता एवं संस्कृति :–

मेक्सिको की माया संस्कृति व सभ्यता का आधार मक्के की खेती से जुड़ा हुआ था। समस्त त्योंहार, उत्सव अन्य धार्मिक क्रियाकलाप मक्का बोने, उगाने व काटने से उसी तरह जुड़े हुए थे जैसे भारत की होली, लोहड़ी, मकर संक्रांति आदि धार्मिक उत्सव फसल बुवाई व कटाई से जुड़े थे।

एजटेक सभ्यता एवं संस्कृति :–

मेक्सिको में एक और श्रेणीबद्धसमुदाय एजटेक समुदाय था जिसमें पुरोहित व अभिजात वर्ग शामिल थे। इन समुदायों में श्रेणी के अनुसार कार्यों का विभाजन था तथा कार्यों के अनुसार सम्मान दिया जाता था। योद्धा, पुरोहित, अभिजात वर्ग एवं व्यापारियों का उचित सम्मान था। राजा सर्वोच्च सत्ता

चित्र–4.2 : माया सभ्यता के प्राचीन अवशेष

का प्रमुख था। सूर्य को आराध्य देव मानकर पूजा जाता था। एजटेक समुदाय समस्त भूमि को सामूहिक स्वामित्व के सिद्धान्त के तहत मानता था, क्योंकि यह समुदाय प्रकृति के अत्यन्त निकट था। एजटेक समुदाय का प्रमुख देवता मेक्सिवली था। जिनके नाम पर मेक्सिको का नामकरण हुआ। एजटेक समुदाय शिक्षा के प्रति जाग्रत था। यहाँ के छात्रों को सेना व धर्माधिकारी बनने की शिक्षा दी जाती थी। ये समाज केन्द्रीयकृत शहरी संस्कृति का प्रतिनिधित्व करते थे। यहां के भव्य अवशेष मूल निवासियों की याद दिलाते हैं तथा मंदिरों में परम्परागत रूप से सोने चांदी का प्रयोग किया जाता था।

चित्र–4.3 : एजटेक सभ्यता के भग्नावेश

यूरोपीय देशों के अमेरिका पहुँचने के कारण्

क्रिस्टोफर कोलम्बस द्वारा की गई अमेरिका के समुद्री मार्ग की खोज ने यूरोपियन देशों को यहाँ पहुँचने, बसने, व्यापार करने का अवसर प्रदान किया। अमेरिका का नामकरण अमेरिगो वेस्पुची नाम इटालियन नाविक के नाम पर हुआ था। यहाँ के निवासियों को रेड इण्डियन्स कहा गया। वास्तव में क्रिस्टोफर कोलम्बस भारत के समुद्री मार्ग की खोज में निकला था। उसने अमेरिका को ही भूलवश भारत मान लिया। इसी कारण यहाँ के मूल निवासियों को ''रेड इण्डियन्स'' के नाम से सम्बोधित किया गया। यूरोपवासियों के अमेरिका पहुँचने के कई कारण थे, लेकिन इनमें मुख्यतः तीन कारणों से प्रेरित होकर ही वे यहाँ पहुँचे थे। उनकी उस भावना को संक्षेप में थ्रीजी (3G) के रूप में व्यक्त किया जाता है–

1.गोल्ड– से तात्पर्य था स्थायी धातु अर्थात् सोना, चांदी व अन्य मूल्यवान धातुएँ, जिनका अर्जन करना ही यूरोप वासियों का मुख्य उद्देश्य था।

2.ग्लोरी– अर्थात् विस्तारवाद की भावना से ओतप्रोत हो अन्य देशों पर अधिकार कर उपनिवेश बसाना व क्षेत्राधिकार बढ़ाना, अपना गौरव समझते थे।

3.गॉड– अर्थात् ईसाइयत का विश्व के समस्त देशों में प्रचार–प्रसार। यूरोपीय देशों के व्यापारियों, अभिजात वर्गों, जमींदारों, धनाढ्य व्यक्तियों एवं ईसाई मिशनरियों द्वारा नए मार्गों की खोज को प्रोत्साहन दिया गया। कुछ देशों जैसे पुर्तगाल व स्पेन के राजकुमारों व राजाओं द्वारा इन समस्त अभियानों का खर्चा तक उठाया गया।

यूरोपीय देशों से लोगों के अमेरिका पहुँचने के कारण इस प्रकार हैं :–

1.पश्चिमी सभ्यता और संस्कृति का प्रचार–प्रसार

बाहरी दुनिया के लोगों को ईसाई बनाने की सम्भावना ने यूरोप के देशों को समुद्र में उतरने को प्रेरित किया। स्पेन व पुर्तगाल पर इन विचारधाराओं का अत्यधिक प्रभाव था। ईसाइयत के प्रचार ने केपिटुलैसियोन नामक इकरारनामों की शुरूआत की जिसमें पोप ने खोजने या जीतने वाले इलाके को पुरस्कार स्वरूप उन्हें ही सौंपने का वादा किया जिन्होंने उसे खोजा या विजित किया था।

2.स्थायी धातु व मसालों की खोज

1453 ईस्वी में तुर्कों द्वारा कुस्तुन्तुनिया की विजय ने यूरोपीय व्यापार को मंदा कर दिया था तथा उन्हें अधिक कर देना पड़ता था। साथ ही यूरोपीय देशों में सोने व चांदी की कमी होती जा रही थी। स्थायी धातु का संग्रह गौरव का प्रतीक माना जाता था। अधिक से अधिक सोने का संग्रह उनको समुद्री यात्रा कर भारत के नए मार्गो की खोज को प्रेरित कर रहा था। ठण्डे प्रदेश होने के कारण गर्म मसालों की प्राप्ति दूसरा महत्त्वपूर्ण कारण था जो भारत व अन्य उष्णकटिबंधी प्रदेशों में ही प्राप्त हो सकते थे।

3.राजनैतिक अधिकारों के लाभ प्राप्ति की आकांक्षा

यूरोपीय राज्यों में सत्ता राजनैतिक रूप से लार्ड, अभिजात एवं पादरी वर्गों के हाथों में थी। दूसरा वर्ग अर्थात् मध्यम समुदाय राजनैतिक लाभों व अधिकारों से वंचित था। वे अपने देश की राजव्यवस्था से दुखी होकर अमेरिका पहुँचने का प्रयास कर रहे थे। जहाँ रहकर वे स्वयं की सत्ता स्थापित कर सकें।

4.विस्तारवाद एवं औपनिवेशिक भावना :–

अधिक से अधिक देशों पर अधिकार कर उन्हें

उपनिवेश बनाना राष्ट्रीयता का प्रतीक माना जाने लगा। यह यूरोपीय देशों के मध्य सम्मान का प्रतीक था। नगरों के अभ्युदय व औद्योगिकीकरण की भावना ने औपनिवेशीकरण की प्रक्रिया को तेज कर दिया। कृषि सम्बन्धी कच्चे उत्पाद की आवश्यकता उष्णकटिबंधीय राज्यों में ही पूरी हो सकती थी। वो जानते थे कि यूरोपीय देश अधिक गर्म जलवायु वाले स्थानों पर उपनिवेश स्थापित कर राजनीतिक नियन्त्रण स्थापित कर पाये तो उन्हें अधिक लाभ प्राप्त होगा। यह उपनिवेश कच्चे माल की प्राप्ति व तैयार माल बेचने की मण्डी बन सकते थे। यही कारण था कि भारत के बदले संयोगवश अमेरिका के मार्ग की खोज हो गई।

5.चर्च के अत्याचार :–

चर्च के अत्याचारों और धार्मिक उत्पीड़न ने यूरोपीय लोगों को बाहरी देशों में बसने को प्रेरित किया। अमेरिका में मेसाचुसेट्स उपनिवेश के समीप प्लीमथ उपनिवेश की स्थापना करने वाले अंग्रेज धार्मिक स्वतंत्रता की आकांक्षा में ही यहाँ पहुँचे थे।

6.जन संहारक युद्ध :–

कुछ लोग यूरोपीय देशों के मध्य होने वाले निरन्तर जन संहारक युद्धों से परेशान थे। इनसे बचने के लिए ये लोग एक सुरक्षित स्थान की तलाश में थे। इग्लैण्ड व फ्रांस में यूरोप की राजनीति का केन्द्र बनने की होड़ में संघर्ष की स्थिति बनी रहती थी।

7.जनसंख्या वृद्धि व अपराधियों को बसाने की समस्या :–

उस समय यूरोप में दासों का विक्रय होता था। उन्हें युद्ध में लड़ने हेतु बेचा जाता था। उससे बचने के लिये वे अपना देश छोड़कर अमेरिका जाने लगे। जेल में बंद कैदियों को भी अमेरिका में स्वतंत्र जीवन जीने का विकल्प दिया जाता था।यूरोपीय देशों में लगातार जनसंख्या में वृद्धि होती जा रही थी, साथ ही अपराधियों की संख्या भी बढ़ती जा रही थी। अतः बढ़ती जनसंख्या और अपराधियों के लिए एक नई भूमि की तलाश करना अनिवार्य था, जिससे इस समस्या के हल के साथ – साथ उनके आर्थिक उद्देश्यों की पूर्ति भी हो जाती। उस काल में देश निकाला नामक सजा का प्रावधान था। अतः इस कानूनी प्रावधान के कारण भी कई लोग अमेरिका आये।

8.भूगोल का नवीन ज्ञान

टालेमी द्वारा लिखित पुस्तक ''ज्योग्राफी'' लोगों के भौगोलिक ज्ञान वृद्धि में मील का पत्थर साबित हुई। उसने प्रथम बार यूरोप को बताया कि दुनिया गोल है। इस रोमांच ने साहसिक नाविकों को समुदी यात्रा के लिए प्रेरित किया।

यूरोपीय देशों से लोगों के आगमन का अमेरिकी मूल निवासियों पर प्रभाव :–

कोलम्बस द्वारा शुरू की गई सम्पर्क यात्रा से अमेरिका में गहरा सांस्कृतिक परिवर्तन आया। आक्रमणकारियों का अमेरिका में प्रवेश मूलनिवासियों के लिए हानिकारक सिद्ध हुआ। बाह्य आक्रमण ने उनकी संस्कृति, खान–पान, रहन–सहन, आचार–विचार, धार्मिक सोच इत्यादि को पूर्णतः समाप्त कर दिया। यूरोपीय देशों के लोग अपने साथ बीमारियाँ लेकर आए जिसका मूलनिवासियों की जनसंख्या पर घातक प्रहार पड़ा। चेचक, इन्फ्लूएंजा, ब्यूबोनिक प्लेग ने अमेरिकी मूल निवासियों की जनसंख्या का ह्रास किया। जनसंख्या ह्रास में रोगों के साथ–साथ युद्ध और विस्थापन ने मूल निवासियों को अल्पसंख्यक बना दिया। यूरोपीय लोगों द्वारा मूल निवासियों को गोरी बस्तियों से दूर कर दिया गया। उन्हें निर्वासित कर विशेष क्षेत्रों मे प्रवेश देने से रोका गया। विस्थापन के माध्यम से उन्हें जबरन नए क्षेत्रों में ले जाया गया। उन्हें एक छोटे से हिस्से में रहने पर मजबूर किया गया।

चित्र–4.4 : कोलम्बस की अमेरिका यात्रा

अमेरिकी स्वतन्त्रता संघर्ष :–

अमेरिका में स्वाधीनता प्राप्त करने की घटनाओं को कुछ इतिहासकार स्वतन्त्रता संग्राम तथा कुछ क्रान्ति कह कर सम्बोधित करते हैं। कुछ विचारकों की राय में अमेरिका के स्वतंत्रता संघर्ष की प्रकृति विश्व के अन्य स्वातंत्र्य संघर्षो से भिन्न थी। यह संघर्ष किसी सामंतीय व्यवस्था, विदेशी सत्ता या निर्धनता एवं आर्थिक शोषण के विरुद्ध संघर्ष नहीं था बल्कि मनुष्य के स्वतंत्रता के स्वाभाविक प्राकृतिक अधिकार हेतु लड़ा गया था। अन्य इतिहासकारों की राय में यह संग्राम या क्रान्ति नहीं बल्कि एक गृह युद्ध या आपसी संघर्ष था, जो इग्लैण्ड के अमेरिकी उपनिवेश के निवासियों द्वारा स्वयं के मातृ देश के विरूद्ध लड़ा गया। उपनिवेश के गोरे निवासी प्रारम्भ में स्वतन्त्र

होने का प्रयास नहीं कर रहे थे बल्कि वे व्यापार के लाभों पर अपना हक जताना चाह रहे थे। ये युद्ध उन लोगों के मध्य लड़ा गया जिसके दोनों ही दल व्यापारिक – वाणिज्यवाद की भावना से प्रेरित थे। दोनों पक्षों का कल्चर, रिलीजन, खान–पान, सभ्यता, आचार विचार, भाषा, रंग रूप इत्यादि एक ही थे। इस संघर्ष में व्यापारी व मध्यम वर्ग ने ही भाग लिया था। संघर्ष के पश्चात् बनने वाली संविधान परिषद् में अंग्रेज व्यापारिक वर्ग का ही योगदान रहा। अमेरिकी मूलनिवासियों अर्थात ''रेड इंडियन्स'' को उनके ही देश में भविष्य निर्माण व देश हित में योगदान से वंचित रखा गया था। प्रारम्भिक संविधान के अन्तर्गत जनसाधारण को मताधिकार से वंचित रखा गया। इस संविधान में स्त्रियों, नीग्रो आदि को भी नागरिक अधिकारों से वंचित रखा गया। कार्ल एल. बेकर के अनुसार यह क्रान्ति उपनिवेशों व ब्रिटेन के मध्य आर्थिक हितों का संघर्ष था।

अमेरिकी संघर्ष के कारणः–

1.मातृ देश इग्लैण्ड के प्रति सहानुभूति की कमी

. अमेरिका में बसने वाले अंग्रेज धार्मिक अत्याचारों, आर्थिक शोषण, राजनीतिक अधिकारों से वंचित होने के कारण यहाँ बसने आये थे। इन्हें इग्लैण्ड के चर्च व राजा से कोई सहानुभूति नहीं थी। साथ ही यहाँ बसने वालों में इग्लैण्ड के अपराधियों को भी अवसर दिया गया था। अतः उनमें व उनके वंशजों में मातृदेश के प्रति कोई सहानुभूति नहीं थी। इतिहासकार ट्रेवेलियन ने उन्हें सरल स्वभाव वाला अमेरिकी बताया है।

2.बौद्धिक जाग्रति

किसी भी संघर्ष में अधिकाधिक व्यक्तियों को जोड़ने में बौद्धिक जाग्रति का योगदान रहता है। अमेरिकी संघर्ष में भी यह दिखाई देता है। टॉमस पेन ने अपनी पुस्तक ''कॉमनसेंस'' में देशप्रेम की भावना जगाने का प्रयास किया। उसका कहना था कि एक द्वीप, महाद्वीप पर शासन नहीं कर सकता है। बेंजामिन फ्रेंकलिन द्वारा अमेरिकन फिलोसोफिकल सोसाइटी की स्थापना की गयी थी, जहाँ नये–नये विचारों का आदान प्रदान व विचार गोष्ठियों का आयोजन किया जाता था। 1636 ई. में केम्ब्रिज नगर में हारवर्ड कॉलेज, 1693 ई. में वर्जीनिया में विलियम एंड मेरी कॉलेज शिक्षा के प्रमुख केन्द्र बने। पेनसिलवेनिया में क्वेकर समुदाय द्वारा शिक्षण संस्थाएँ स्थापित की गई। बौद्धिक चेतना के विकास में जेम्स ओटिस, पैट्रिक हेनरी तथा सेम्युअल एडम्स का काफी योगदान रहा। शिक्षा एवं पत्रकारिता ने भी बौद्धिक चेतना में महत्वूर्ण भूमिका निभाई। 1636 ई. में हारवर्ड कॉलेज की स्थापना हुई तो 1704 ई. में बोस्टन में पहला समाचार पत्र बोस्टन न्यूजलेटर प्रकाशित हुआ। 1765 ई. तक समाचार पत्रों की संख्या 25 तक पहुंच गई। शिक्षा एवं समाचार पत्रों का जाग्रति में विशेष योगदान रहा।

3.गवर्नर व स्थानीय विधान परिषद् में तनाव

उपनिवेशों की शासन व्यवस्था गवर्नर और उसकी कार्यकारिणी द्वारा संचालित होती थी। ये दोनों सम्राट के प्रति उत्तरदायी थे। लेकिन स्थानीय गोरे लोगों की विधान परिषद् इनके हस्तक्षेप को उचित नहीं मानती थी। अतः ये विधान परिषद् में गवर्नर और उनके पक्षधर जजों के वेतन–भत्तों की वृद्धि के विधेयक पर रोक लगा दिया करते थे। इससे शासकों व शासितों में तनाव बना रहता था।

4.सप्तवर्षीय युद्ध (1757–1763 ईस्वी) का प्रभाव :–

सप्तवर्षीय युद्ध इग्लैण्ड व फ्रांस के मध्य लड़ा गया था। इसमें इग्लैण्ड को निर्णायक विजय प्राप्त हुई। अमेरिका में फ्रांसिसी सत्ता का अन्त हो गया। अमेरिका स्थित सभी फ्रांसिसी उपनिवेश इग्लैण्ड के अधिकार क्षेत्र में आ गए। इस युद्ध ने औपनिवेशिक सैनिकों को उनकी शक्ति का एहसास करा दिया। यहाँ के निवासियों को अनुभव हो गया कि ब्रिटिश औपनिवेशक शासन के साथ चिपके रहने में अब कोई फायदा नहीं है। इस कारण इनमें धीरे–धीरे तनाव बढ़ता गया।

सप्तवर्षीय युद्ध में फ्रांस की पराजय से जो उत्तरी अमेरिका के क्षेत्र इग्लैण्ड के पास आए उनमें फ्रैंच कैथोलिक और मूलनिवासी रेड–इण्डियन की संख्या ज्यादा थी। रेड–इण्डियनों और इग्लैण्डवासियों में शुरू से ही तनाव की स्थिति बनी हुई थी। अतः इग्लैण्ड द्वारा उन्हें कुछ आरक्षित क्षेत्र दे दिया गया। इससे उपनिवेशों का प्रसार रूक गया।

5.उपनिवेशों का खुला वातावरण –

अमेरिकी उपनिवेशों में खुले वातावरण के कारण नागरिकों में जनतंत्र व स्वतंत्रता के प्रति अधिक झुकाव था। ये लोग जन – सहमति से कानून निर्माण के पक्षधर थे। जैसा कि मैरीलैण्ड तथा पेनसिलवेनिया के अधिकार पत्रों को देखने से स्पष्ट होता है। इग्लैण्ड के राजा ने भी उनके इन विचारों पर प्रारम्भ में रोक लगाने की कोशिश नहीं की और अमेरिका में स्वशासन की पनपती भावना को अप्रत्यक्ष मान्यता दे दी। यह मान्यता वित्तीय मामलों में बलवती होती चली गयी। इसी कारण जब अंग्रेज सरकार ने उपनिवेशों पर कर लगाकर उनके व्यापार को नियन्त्रित करने का प्रयास किया तो अमेरिका निवासी इसके विरोध में उठ खड़े हुए।

6. इग्लैण्ड का प्रारम्भ में नगण्य हस्तक्षेप – अमेरिकी उपनिवेशों में पनप रहे स्वशासन पर इग्लैण्ड ने अंकुश/रोक लगाने का

कभी भी प्रयास नहीं किया था। व्यवहार में ये उपनिवेश स्वतंत्रता का ही अनुभव कर रहे थे। इग्लैण्ड इन उपनिवेशों से कच्चा माल प्राप्त करने के अतिरिक्त और कोई आशा भी नहीं रख रहा था। इसी कारण उसने शायद ही कभी अमेरिकी उपनिवेशों के प्रशासन या उनके जीवन में हस्तक्षेप किया था। इग्लैण्ड में भी राजतंत्र व संसद में अधिकारों को लेकर संघर्ष चल रहा था। इस कारण भी इग्लैण्ड अपने उपनिवेशों के सम्बन्ध में ज्यादा कुछ विचार नहीं कर पाया और जब करना चाहा तो ये उपनिवेश इतने विकसित हो चुके थे कि इन्हें नियंत्रित कर पाना मुश्किल हो गया। अमेरिकी महाद्वीप एवं उसके प्रशान्त महासागर की विशालता इतनी थी कि इग्लैण्ड अपने बनाये कानूनों जैसे ''नेवीगेशन'' को कठोरता से लागू नहीं कर सकता था।

7. ब्रिटिश संसद व अमेरिकी उपनिवेशों में सैद्धांतिक मतभेद–

वाणिज्यवाद की भावना से प्रेरित इग्लैण्ड इस रूढ़िवादी विचारधारा पर काम कर रहा था कि उसकी संसद सर्वोच्च है, उसकी शक्तियों पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है और वह उपनिवेशों की शक्ति को सीमित करने का अधिकार रखती है। दूसरी ओर अमेरिकी उपनिवेशवासी अपना सम्बन्ध सम्राट से मानते थे ना कि इंग्लैण्ड की संसद से। उनका कहना था कि समुद्र पार उपनिवेश की स्थापना इग्लैण्ड के सम्राट ने की है न कि इग्लैण्ड की संसद ने। अतः इग्लैण्ड की संसद बिना अमेरिकी प्रतिनिधित्व के कर लगाने का अधिकार नहीं रखती है। यदि आवश्यक हो तो सम्राट धन की मांग उपनिवेश से अनुदान के रूप में कर सकता है। इस प्रकार इंग्लैण्ड की संसद जहाँ कर लगाना अपना अधिकार समझती थी वहीं उपनिवेशवासी इसे किसी भी कीमत पर मानने को तैयार नहीं थे।

जार्ज तृतीय के सम्राट और ग्रेनविले के प्रधानमंत्री बनने पर इंग्लैण्ड को यह अहसास हुआ कि उपनिवेश तो मातृदेश के लाभ हेतु होने चाहिए लेकिन अमेरिका में इसके उलट इंग्लैण्ड को खर्च करना पड़ रहा है। अतः उन्होंने तय किया कि अमेरिकी उपनिवेशों से शासन व्यय के साथ–साथ संरक्षण व्यय भी वसूला जाना चाहिए। इस सम्बंध में उन्होंने अधिनियम लागू कर दिये जिनका अमेरिकी अंग्रेजों द्वारा अत्यधिक विरोध किया गया।

8. सम्राट जॉर्ज तृतीय की गलत आर्थिक नीतियां व अधिनियम :–

(i) शुगर एक्ट 1764 ईस्वी – अमेरिका में विदेशी शराब का आयात बंद कर शीरे (चीनी उद्योग का उप उत्पाद जो एल्कोहल बनाने के काम आता है) पर कर लगा दिया गया तथा सीमा शुल्क अधिकारियों को इसे कड़ाई से लागू करने का आदेश दिए गए। अमेरिकी व्यापारी शीरा या शक्कर आदि उत्पाद फ्रांस और डच उपनिवेशों से सस्ता खरीदते थे। उस पर आयात शुल्क भी नहीं देना पड़ता था। शीरा उत्पाद इंगलैण्ड की कम्पनी से खरीदने की बाध्यता के विरुद्ध अमेरिकी उपनिवेशों में आक्रोश हुआ।

(ii) करेन्सी एक्ट – इस अधिनियम के तहत् उपनिवेश में बनी कोई भी हुण्डी अब वैध नहीं थी।

(iii) क्वाटरिंग एक्ट (1765 ईस्वी) – शासकीय सैनिकों के निवास स्थान तथा खाद्य सामग्री का वहन उपनिवेशों के माध्यम से करना तय किया गया।

(iv) स्टाम्प एक्ट (1765 ईस्वी) – समस्त पत्र–पत्रिकाओं, पुस्तकों, लाइसेन्सों, पट्टों पर स्टाम्प लगाना अनिवार्य कर दिया गया। यद्यपि यह व्यय बहुत कम था लेकिन सर्वाधिक विरोध इसी अधिनियम का हुआ। ''उपनिवेशों ने बिना प्रतिनिधित्व के कर नहीं'' का नारा बुलन्द किया गया। अधिक विरोध होता देख इग्लैण्ड ने इस एक्ट को समाप्त कर दिया।

(v) चाय करः 1767 ईस्वी – इग्लैण्ड के वित्त मंत्री टाउनशैण्ड ने काँच, रंग, चाय पर आयात कर लगा दिया। इनसे होने वाली आय का उपयोग गवर्नर तथा उनकी कार्यकारिणी पर ही करना था।

अमेरिकी संघर्ष की प्रमुख घटनाएँ

न्यूयार्क विधानसभा का निलम्बन (बोस्टन हत्या काण्ड)

जून 1767 ई. में न्यूयार्क विधानसभा को इसलिए भंग कर दिया गया क्योंकि वो एक्ट के तहत अंग्रेज सैनिकों के रहने व खाने की व्यवस्था नहीं कर पाये। इस मुद्दे पर 5 मार्च 1770 ई. को अंग्रेज सैनिकों व नागरिकों में तनाव उत्पन्न हो गया। इस संघर्ष में तीन नागरिक मारे गये। इस हत्याकांड ने टाउनशेड करों को समाप्त करा दिया। इग्लैण्ड को झुकना पड़ा लेकिन चाय पर कर बनाए रखा गया।

बोस्टन टी पार्टी – 16 दिसम्बर 1773 ई. –

जिस ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने भारत को परतन्त्र बनाया था उस कम्पनी की आर्थिक स्थिति ठीक नहीं थी। अतः कम्पनी ने दिवाले से बचने के लिए अमेरिका में चाय बेचने का एकाधिकार मांगा। कम्पनी की मांग पर ब्रिटिश संसद ने अमेरिका में चाय बेचने का अधिकार ईस्ट इण्डिया कम्पनी को दे दिया। यह कम्पनी सामान्य दरों से कम पर चाय बेचने जा रही थी। जिससे अमेरिका का तस्करी व्यापार समाप्त हो जाता। जब

चाय की पेटियों से भरे जहाज बोस्टन बन्दरगाह पर पहुंचे तो दिसम्बर की रात में सैम्युअल एडम्स और उसके साथियों के निर्देश पर लगभग 50 अमेरिकी व्यक्तियों ने छद्म वेश में जहाज पर हमला कर चाय की पेटियों को समुद्र में फेंक दिया। इस घटना को 'बोस्टन टी पार्टी' के नाम से जाना जाता है। यह दुःसाहस जार्ज तृतीय जैसे शासक को स्वीकार नहीं था। उसने पूरे बोस्टन को सजा देने की ठान ली। ब्रिटिश संसद द्वारा पांच नियम बनाये गए।

चित्र–4.5 : बोस्टन टी पार्टी

1. बोस्टन बन्दरगाह को तब तक बन्द रखा जाएगा जब तक चाय का हर्जाना नहीं दे दिया जाता। इसका तात्पर्य बोस्टन की तबाही थी।
2. ब्रिटिश सैनिकों के ठहरने व खान–पान की पूर्ण व्यवस्था स्थानीय प्राधिकारियों पर डाल दी गई।
3. कैथोलिक मतावलम्बियों को उपासना सम्बन्धी स्वतंत्रता प्रदान कर दी गई।
4. हत्या एवं अन्य अपराधों की सुनवाई सम्बन्धी अधिकार इग्लैण्ड या अन्य उपनिवेशों में चलाने का निर्णय लिया गया।
5. मेसाचूसेट्स के सांसदों को चुनने का अधिकार राजा को दे दिया गया।

प्रथम महाद्वीपीय कांग्रेस –

इन कानूनों का विरोध करने के लिए 5 सितम्बर 1774 ई. को जार्जिया को छोड़ सभी उपनिवेशों ने सम्मेलन में भाग लिया। इस सम्मेलन का उद्देश्य उपनिवेशों की वर्तमान स्थिति पर विचार करना व अपनी मांगों को इग्लैण्ड से मनवाना था। इसमें मात्र अपने अधिकारों की मांग की गई थी तथा एक प्रतिनिधि मण्डल इग्लैण्ड भेजा गया। जॉर्ज वाशिंगटन, एडम्स, जार्ज जे आदि ने इस कांग्रेस में भाग लिया था।

लेक्सिंगटन हत्याकाण्ड –

19 अप्रेल 1775 ई. को जॉन हेनकॉक व सैमुएल एडम्स को गिरफ्तार कर लिया गया। इसके विरोध में स्वयंसेवकों की टुकड़ी ने ब्रिटिश सैनिकों पर हमला कर दिया। इस संघर्ष में 8 स्वयंसेवक मारे गये। इसका बदला लेने के लिए कनकार्ड नामक स्थान पर स्वयंसेवकों ने ब्रिटिश सैनिकों को मार दिया।

चित्र 4.6 : अमेरिकी उपनिवेशवादियों का मातृ देश इग्लैण्ड के विरूद्ध संघर्ष

द्वितीय महाद्वीपीय कांग्रेस –

10 मई 1775 ई. को जान हेनकॉक की अध्यक्षता में द्वितीय महाद्वीपीय कांग्रेस का अधिवेशन फिलाडेल्फिया में किया गया। इंग्लैण्ड ने विद्रोह को सैनिक शक्ति से दबाना चाहा। प्रारम्भ में अंग्रेजी सेना का पलड़ा भारी रहा। अतः अमेरिकी नेताओं को विदेशी सहायता की आवश्यकता प्रतीत हुई। इसके लिए इंग्लैण्ड से संबंध तोड़ना आवश्यक था। अतः फिलाडेल्फिया में एकत्रित 13 ही उपनिवेश बस्तियों ने 15 जून को जॉर्ज वाशिंगटन को महाद्वीपीय सेना का सेनापति नियुक्त कर दिया।

स्वतंत्रता का घोषणा पत्र –

महाद्वीपीय कांग्रेस में रिचर्ड हेनरी ने अमेरिका की स्वतंत्रता का

चित्र–4.7 : अमेरिकी स्वतंत्रता घोषणा पत्र की तैयारी

प्रस्ताव रखा। जॉन एडम्स ने इसका अनुमोदन किया। पांच सदस्यों की समिति में जेफरसन, बैंजामिन फ्रेंकलिन, जॉन एडम्स, रोजर सर्मन और रॉबर्ट लिविंगस्टन सदस्य थे। 2 जुलाई, 1776 ई. को कांग्रेस ने स्वतंत्रता के प्रस्ताव को स्वीकृत किया और 4 जुलाई को अमेरिका को स्वतंत्र घोषित कर दिया। घोषणापत्र में कहा गया ''हम उन तत्वों को स्वयं स्पष्ट समझते हैं कि जन्म से सभी मनुष्य समान हैं और सृष्टिकर्ता ने उन्हें अविच्छिन अधिकारों से विभूषित किया है, जिनमें प्रमुख हैं– जीवन, स्वाधीनता और सुख की खोज, इसलिये हम संयुक्त राज्य अमेरिका के प्रतिनिधि उन समस्त जन्मजात अधिकारों की प्राप्ति कि लिये जो स्वाधीन देश के लोगों को प्राप्त होते है, स्वतंत्रता की घोषणा करते हैं।''

महत्त्वपूर्ण विजय

1. ट्रेण्टन युद्ध – 1776 ई. में वाशिंगटन ने ट्रेण्टन युद्ध में इंग्लैण्ड की सेना को हरा दिया।
2. सारागोटा युद्ध – 1777 ई. में हुये सारागोटा युद्ध में भी इग्लैण्ड को हार का मुंह देखना पड़ा।
3. यार्कटाउन युद्ध 1781 ई. – इस युद्ध में फ्रांसिसी सेना की सहायता से वाशिंगटन और रोशाम्बी ने इंग्लिश सेनानायक कार्नवालिस को आत्मसमर्पण करने को मजबूर कर दिया।

यद्यपि इस संघर्ष में अमेरिकी स्वयंसेवकों का योगदान अग्रणी था। लेकिन अन्य कारकों का सहयोग भी नहीं भुलाया जा सकता है। अंग्रेज सेना के जनरल 'हो' की सहानुभूति अमेरिकी स्वयंसेवकों के साथ थी। जनरल हो के पास कई अवसर आये थे जब वह इस संघर्ष को इग्लैण्ड के पक्ष में समाप्त करने की स्थिति में था। लेकिन उसने सक्रिय योगदान नहीं कर अमेरिकी स्वयंसेवकों की सेना को विजय प्राप्त करने दी।

सारागोटा के युद्ध में इग्लैण्ड की पराजय ने फ्रांस व स्पेन को अमेरिका के पक्ष में कर दिया। फ्रांस अपनी सप्तवर्षीय युद्ध में हुई हार का बदला लेना चाहता था। अतः इन देशों द्वारा बेंजामिन फ्रेंकलिन की अपील पर अमेरिका को युद्ध सामग्री उपलब्ध करवाई गई। साथ ही फ्रांस के लफायते जैसे प्रशिक्षित सेनानायक ने उन्हें अपनी सेवायें प्रदान की। फ्रांस, स्पेन व हॉलैण्ड द्वारा शक्तिशाली जंगी जहाजों का दल युद्ध के लिए अमेरिका के समर्थन मे भेजा गया।

पेरिस की संधि – 3 दिसम्बर 1783 ई. को पेरिस की संधि पर इग्लैण्ड व अमेरिकी उपनिवेशों के प्रतिनिधियों के मध्य हस्ताक्षर हुए। इस संधि से अमेरिका के 13 उपनिवेशों को स्वतंत्र मान लिया गया। इस प्रकार अमेरिका एक स्वतंत्र देश के रूप में विश्व मानचित्र पर उभरा। यह एक युगान्तरकारी घटना थी, क्योंकि पहली बार विश्व में किसी उपनिवेश ने संघर्ष कर स्वतंत्रता प्राप्त की थी। अमेरिका में स्वतंत्रता दिवस 4 जुलाई को मनाया जाता है, क्योंकि 4 जुलाई 1776 ईस्वी को ही इग्लैण्ड से अलग होने के घोषणा पत्र को समस्त अमेरिकी राज्यों द्वारा स्वीकार किया गया था।

इंग्लैण्ड की पराजय के कारण :–

1. इंग्लैण्ड व अमेरिका के बीच हजारों किलोमीटर की दूरी थी, साथ ही अंग्रेज सैनिक यहाँ की भौगोलिक परिस्थिति से परिचित भी नहीं थे। दूसरी ओर स्पेन, फ्रांस व हॉलेण्ड के समुद्री बेड़े ने इग्लैण्ड को अतिआवश्यक युद्ध सामग्री पहुँचाने से समुद्र में ही रोके रखा।

2. इग्लैण्ड के सैनिक अपने स्वजातीय बन्धुओं से लड़ रहे थे। अतः इग्लैण्ड के सैनिकों में वो जोश नहीं था। उपनिवेशवासी सर्वस्व न्यौछावर कर संघर्ष को अपने पक्ष में करने को दृढ़ संकल्पित थे। वे जान व माल की सुरक्षा की अन्तिम लड़ाई लड़ रहे थे। चूंकि वे इग्लैण्ड के ही मूल निवासी थे इस कारण वे उन राजनैतिक, आर्थिक व सामाजिक अधिकारों से परिचित थे जिन्हें नागरिक अधिकारों की संज्ञा दी जाती थी और वे इन्हें हर कीमत पर पाने को तैयार थे।

3. इग्लैण्ड की सेना में अधिकांश सैनिक किराये पर जर्मनी से लिए गए थे। अतः उनमें विजय के प्रति विशेष रूचि नहीं थी। इस कारण वे राष्ट्रीयता से ओतप्रोत अमेरिकी स्वयंसेवकों के समक्ष नहीं टिक सके। इसके अलावा जनरल गेज ने उपनिवेशों की शक्ति और विरोध दोनों का गलत मूल्यांकन कर लिया था।

4. इंग्लैण्ड का राजा जॉर्ज व उसके मंत्री टाउनशेड, ग्रीनविले इत्यादि अयोग्य साबित हुए। उधर सर विलियम व हो जैसे जनरलों ने जानबूझकर विजय के अवसरों को खो दिया। इग्लैण्ड का युद्ध मंत्री लार्ड जर्मन तो कभी–कभी ही युद्ध स्थल से आये पत्रों या संदेशों को पढ़ता था। इनके विपरीत जॉर्ज वाशिंगटन योग्य सेनानायक सिद्ध हुआ।

अमेरिकी स्वतंत्रता के प्रभाव :–

1.लोकतांत्रिक राष्ट्र का उदय व लिखित संविधान :–

. पेरिस की संधि से एक शक्तिशाली लोकतांत्रिक राष्ट्र का उदय हुआ। 13 उपनिवेशों ने स्वयं को एक स्वतंत्र सम्प्रभु देश में बदल दिया। इस देश में लिखित संविधान के आधार पर राज्यों को आंतरिक स्वतंत्रता के साथ–साथ संघीय शासन व्यवस्था लागू की गई। नागरिकता की भावना, मताधिकार तथा समानता का सिद्धांत देश में स्वीकार किया गया। यद्यपि नीग्रो,

मूलनिवासियों एवं महिलाओं के सम्बन्ध में यह सिद्धान्त अक्षरतः सत्य नहीं था।

2. धार्मिक स्वतंत्रता :–

शिक्षा को उपासना पद्धति से व उपासना पद्धति को राज्य से अलग कर व्यक्तिगत विषय बना दिया गया। प्रत्येक व्यक्ति को धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार दिया गया।

3.वाणिज्यवाद का अन्त :–

इस संघर्ष के बाद इग्लैण्ड और अमेरिका के व्यापारिक सम्बन्ध इस प्रकार सुधरे कि वाणिज्यवादी सिद्धांत का ही अन्त हो गया। इस सिद्धांत में आयात कम व ज्यादा निर्यात को महत्व दिया जाता था। मातृदेश व उपनिवेशों का सम्बन्ध कच्चा माल प्राप्त करने व तैयार माल बेचने तक ही सीमित था। मगर अमेरिका व इग्लैण्ड के मध्य बढ़ते व्यापार ने इग्लैण्ड को स्वयं इस नीति को त्यागने पर मजबूर कर दिया।

4.ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल का उदय :–

अमेरिका की जीत ने अन्य औपनिवेशिक देशों को इग्लैण्ड के विरूद्ध लड़ने हेतु खड़ा कर दिया। इग्लैण्ड ने स्वयं उपनिवेशों के प्रति नीति बदलते हुए ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल का निर्माण किया। इस संगठन के माध्यम से इग्लैण्ड ने औपनिवेशिक देशों की समस्याओं को जानने व समझने का मंच तैयार कर लिया, ताकि अमेरिकी संघर्ष जैसी घटनाओं की पुनरावृत्ति नहीं की जा सके। इग्लैण्ड के सम्राट/साम्राज्ञी के प्रति औपनिवेशिक देशों की भक्ति बनी रहे, इसका प्रयास इस संगठन के माध्यम से किया जाने लगा।

5.फ्रांसिसी क्रांति :–

इस संघर्ष ने फ्रांस की क्रांति को अवश्यम्भावी बना दिया। अमेरिकी संघर्ष में भाग लेना फ्रांस को भारी पड़ गया। फ्रांस की आर्थिक स्थिति खराब हो गयी। साथ ही उसे कोई लाभ भी नहीं मिला। फ्रांस के जिन सैनिकों ने इस संघर्ष में भाग लिया था, उनको राजनीतिक, धार्मिक व सामाजिक अधिकारों का आभास हुआ। वे स्वयं फ्रांस में इन अधिकारों की मांग करने लगे।

6.आयरलैण्ड को लाभ :–

इस अमेरिकी संघर्ष की सफलता ने आयरलैण्ड को भी इग्लैण्ड के विरूद्ध उठ खड़ा होने का साहस दिया। आयरिश लोग स्वतंत्र आयरिश संसद की स्थापना और व्यापारिक प्रतिबन्धों का अन्त चाहते थे। इंग्लैण्ड ने भी आयरिश लोगों की मांगों पर सहानुभूति पूर्वक विचार कर वहाँ की संसद की व्यवस्थापिका को स्वतंत्र कर दिया।

7.संसद की शक्ति में बढ़ोतरी :–

इस संघर्ष में चूंकि इग्लैण्ड के सम्राट जॉर्ज तृतीय की अयोग्यता साबित हो गयी थी। अतः संसद ने प्रधानमंत्री लार्ड नार्थ व राजा जॉर्ज तृतीय को उत्तरदायी ठहराया परिणामस्वरूप राजा की शक्तियों को कम करते हुए संसद की शक्ति को पुनः स्थापित किया गया।

महत्त्वपूर्ण घटनाक्रम

1492 ईस्वी – क्रिस्टोफर कोलम्बस द्वारा अमेरिकी मार्ग की खोज

1607 ईस्वी – जेम्स टाउन में अंग्रेजों की पहली बस्ती

1624 ईस्वी – अमेरिकी बस्तियों पर इग्लैण्ड के नियंत्रण की शुरूआत, तम्बाकू के व्यापार पर नियंत्रण

1651 ईस्वी – नेवीगेशन एक्ट लागू

1764 ईस्वी – ग्रिनविले सरकार द्वारा शुगर एक्ट पारित

1765 ईस्वी – ग्रिनविले सरकार द्वारा स्टाम्प एक्ट पारित

1766 ईस्वी – राकिंघम (प्रधानमंत्री) द्वारा स्टाम्प एक्ट की समाप्ति

1767 ईस्वी – टाउनशैड कर लागू (चाय, शीशा, कागज, रंग और सिक्का धातु)

5 मार्च 1770 ईस्वी – बोस्टन हत्याकाण्ड

16 दिसम्बर 1773 ईस्वी – बोस्टन टी पार्टी घटना

5 सितम्बर 1774 ईस्वी – प्रथम महाद्वीपीय कांग्रेस

19 अप्रेल 1775 ईस्वी – लेक्सिंगटन हत्याकाण्ड

10 मई 1775 ईस्वी – द्वितीय महाद्वीपीय कांग्रेस

4 जुलाई 1776 ईस्वी – अमेरिकी घोषणा पत्र

3 दिसम्बर 1783 ईस्वी – पेरिस की संधि (अमेरिकी बस्तियों की स्वतंत्रता को मान्यता)

फ्रांस की राज्यक्रांति

विश्व में फ्रांस की राज्यक्रांति को एक युगान्तरकारी घटना माना जाता हैं। जब कभी पुरानी व्यवस्था के अनुरुप वर्तमान परिस्थिति में चलना कठिन हो जाता है तो शासन कर्ता व नीति निर्माताओं का दायित्व बनता है कि व्यवस्था में जन आकांक्षाओं के अनुरूप परिवर्तन करे। यदि शासक वर्ग इस परिस्थिति को समझने में असमर्थ होता है या जानबूझकर व्यवस्था परिवर्तन से इन्कार करता है तो वैसी ही स्थितियों का जन्म होता है जैसा फ्रांस की क्रांति की पृष्ठभूमि में दिखाई देता है। वैसे फ्रांस की क्रांति राजनैतिक व्यवस्था के विरूद्ध कम थी उसमें सामाजिक असंतोष अधिक देखने को मिलता है। फ्रांस की सामाजिक व्यवस्था से जनता की मनोदशा को समझा जा सकता है, जिससे उद्वेलित हो जनता उस परिवर्तन के लिए उठ खड़ी हुई। 1789 से 1815 ईस्वी तक के काल में क्रांति, हिंसा, युद्ध, निरंकुशता और साम्राज्य की स्थापना एवं राष्ट्रीयता के विकास को फ्रांस में देखा जा सकता है। यह क्रांति मध्यम वर्ग के उस संघर्ष को दर्शाता है जो उच्च वर्ग से अधिकारों की लड़ाई लड़ रहा था। इसे जानने के लिए क्रांति से पूर्व की परिस्थितियों का अध्ययन करना आवश्यक है।

क्रांति पूर्व फ्रांस की परिस्थितियाँ :–

(क) दोषपूर्ण राजनीतिक व्यवस्था

1.केन्द्रीकृत शासन एवं अधिनायकवादी सत्ता :–

उस समय फ्रांस में वंशानुगत निरकुंश राजतन्त्र था। राजा को देवतुल्य माना जाता था। राजा जिसे चाहे कैद कर, बिना कारण सजा देने का अधिकार रखता था। लुई 14वें ने निरकुंशता में और बढोतरी कर दी थी। तत्कालीन शासक लुई 14वें का कहना था कि, ''मैं ही राज्य हूँ।'' यह अधिनायकवादी विचार की पराकाष्ठा थी।

2.अयोग्य शासक

लुई 14वें के विपरित लुई 15वां विलासी व अयोग्य शासक साबित हुआ। उसने शासन में सुधार की अपेक्षा सारा समय आमोद–प्रमोद में व्यतीत कर दिया था। लुई 16वें के लिए तो कहा जाता है कि वह अयोग्य, अकर्मण्य, विलासी, कान का कच्चा, बुद्धिहीन व्यक्ति था, जो अपनी पत्नी मेरी आत्वानेत के प्रभाव में था। इतिहासकार फिशर के अनुसार ''मेरी आत्वानेत राज्यरूपी जहाज को चट्टानों से टकराने के लिए ले जा रही थी।''

3.खर्चीली राजव्यवस्था

राजा पेरिस से दूर वर्साय के महलों में अपना अधिकांश समय व्यतीत करता था। जहाँ हजारों की संख्या में नौकर–चाकर उसके शान–शौकत व भोगविलास संबंधी जरूरतों को पूरा करने हेतु उपस्थित रहते थे। इन पर खर्च होने वाली राशि लाखों डॉलर हुआ करती थी।

4.भ्रष्टाचार युक्त न्याय प्रक्रिया व कानून

फ्रांस की न्याय–व्यवस्था दोषपूर्ण, अव्यवस्थित, खर्चीली, अन्यायपूर्ण तथा भ्रष्टाचारयुक्त थी। राजा के शब्द ही कानून थे । जिस प्रकार हर 5 से 8 मील पर बोली बदल जाती है उसी तरह फ्रांस में कानून बदल जाता था। समान शब्द होने पर भी कानून की व्याख्या में एकरूपता नहीं थी। इसलिए वाल्तेयर ने कहा था कि ''कानून इस प्रकार बदले जाते हैं जैसे कोई गाड़ी के घोड़े बदलता है।'' वाल्तेयर स्वयं इस कानून के दोषपूर्ण व्यवस्था के भुगतभोगी थे।

राजा को कर लगाने व वसूलने का अधिकार था। राजा के पास ऐसा कानून पत्र था जिससे वह जब चाहे किसी को भी गिरफ्तार कर सजा दे सकता था इस अधिकार पत्र (लैत्र–द–काशे) का उपयोग उसके अधीनस्थ अधिकारी व प्रशासन में सहयोगी भी किया करते थे। यह बिना नाम का आदेश–पत्र होता था, जिसमें किसी का भी नाम लिखकर उसे गिरफ्तार किया जा सकता था। लुई 15वें के शब्द थे कि ''मेरे बाद प्रलय होगा।'' अर्थात वह जानता था कि वर्तमान व्यवस्था जन–अनुकूल साबित नहीं हो रही थी।

5.असक्षम प्रतिनिधि सभा

यद्यपि एस्टेट्स जनरल नामक एक प्रतिनिधि संसद थी जिसमें कुलीन वर्ग, पादरी वर्ग, अभिजात वर्ग व सामान्य नागरिकों का प्रतिनिधित्व था, लेकिन 1614 ईसवीं के बाद उसका अधिवेशन नहीं बुलाया गया था। इसके साथ ही कुलीन पादरी व अभिजात वर्ग का इसमें बोलबाला था। पूरे देश में उच्च न्यायालयों के समकक्ष 13 पार्लेमा (कानूनों को रजिस्टर्ड करने वाली एक संस्था, उच्च न्यायालय के समकक्ष) थी जो कि कानून को पंजीकृत करने का काम करती थी। लेकिन वह भी राजा के प्रभाव क्षेत्र में थी। ये दोनों संस्थाएँ भी राजा पर नियंत्रण करने में असक्षम थी।

(ख) सामाजिक कारण

1.सामाजिक असमानता

फ्रांस में उस समय समाज तीन वर्गों में विभाजित था :

(1) पादरी (2) कुलीन (3) सामान्य वर्ग– चिकित्सक, अध्यापक, मजदूर, किसान, छोटे व्यापारी।

सम्पूर्ण समाज विशेषाधिकार प्राप्त व विशेषाधिकार विहिन वर्गों में विभाजित था।

(अ) पादरी एवं कुलीन वर्ग कई विशेषाधिकारों एव रियायतों से युक्त थे। उन पर किसी भी तरह का कोई आर्थिक दायित्व नहीं था। यह वर्ग फ्रांस की सम्पूर्ण जनसंख्या का एक प्रतिशत से भी कम था। इसके विपरीत सम्पूर्ण संपत्ति का पाँचवां भाग इनके पास था। उन्हें किसी भी तरह की कोई कर अदायगी नहीं करनी पड़ती थी। दूसरी ओर मध्यम वर्ग व निम्न वर्ग करों के बोझ से दबे हुए थे। उन्हें राजा के साथ पादरी वर्ग को अतिरिक्त अदायगी भी करनी होती थी। एक अधिकारविहीन बौद्धिक वर्ग था, जो लगाातार समान कानून व समान कराधान की मांग कर रहा था।

नेपोलियन बोनापार्ट ने भी इस सामाजिक असंतुलन से त्रस्त तथा परिवर्तन के लिए व्याकुल मध्यम वर्ग को क्रांति के लिए उत्तरदायी माना है।

(ब) किसान एवं मजदूर वर्ग :–फ्रांसिसी समाज में सर्वाधिक जनसंख्या वाला यह वर्ग विशेषाधिकारविहिन वर्ग था । इन कृषकों की दशा राजा, पादरी और कुलीन वर्ग के कारण अत्यंत दयनीय हो चुकी थी। उनकी कमाई का 80 प्रतिशत भाग कर चुकाने में चला जाता था। सम्पूर्ण फ्रांस का आर्थिक भार इन किसानों को उठाना पड़ता था। इसके साथ–साथ इन्हें उच्च वर्ग की बेगारी भी करनी पडती थी। स्वतंत्र किसान के विपरीत दास–कृषक बिना जमींदार के आज्ञा के गाँव नहीं छोड़ सकता था। किसानों की निम्न सामाजिक व आर्थिक दशा उन्हें मौजूदा व्यवस्था के विरूद्ध विद्रोह के लिए उकसा रही थी। किसानों के साथ–साथ मजदूर वर्ग की दशा भी शोचनीय थी। उन्हें कम वेतन पर अधिक कार्य करना होता था। यह वर्ग मध्यम वर्ग के सम्पर्क में रहने के कारण राजनैतिक रूप से किसानों की तुलना में अधिक सजग था।

(स) मध्यम वर्गः– इस वर्ग में छोटे व्यापारी, शिक्षक, वकील, चिकित्सक, कलाकार, एवं सरकारी कर्मचारी आते थे। फ्रांसिसी क्रांति में सर्वाधिक योगदान इस वर्ग का था। यह वर्ग समाज में उच्च पद व प्रतिष्ठा प्राप्त करने की आशा करता था। शिक्षित व धन सम्पन्न होने के कारण कुलीन वर्ग से ईर्ष्या की भावना उन्हें व्यवस्था परिवर्तन करने के लिए प्रेरित कर रही थी। पादरी वर्ग से भी उन्हें द्वेष था। वह जानते थे यह अनुत्पादक वर्ग बिना कुछ करे भी सामाजिक व प्रशासनिक ढाँचे में उनसे ऊपर है। अतः यह मेहनती वर्ग राजनैतिक व सामाजिक समानता की लगातार मांग कर रहा था। यह मध्यम वर्ग कुलीन वर्ग से बराबरी की मांग करते हुए उनके विशेषाधिकारों की समाप्ति का इच्छुक था।

2.चर्च में व्याप्त भ्रष्टाचार

चर्च में घोर भ्रष्टाचार था। ये जनसाधारण पर मजहबी कर लगाते थे। चर्च के पास अपार धन सम्पदा थी। चर्च अपने अधिकारों को कठोरता से लागू करता था। पादरी वर्ग शान–शौकत का विलासी जीवन व्यतीत करते थे। जन साधारण से प्राप्त धन का उपयोग अनैतिक जीवन जीने में किया जा रहा था। इसके विपरीत ग्रामीण क्षेत्रों के छोटे चर्च के पादरी साधारण जीवन व्यतीत करने को मजबूर हो रहे थे। वे स्वयं इस व्यवस्था से निराश थे।

3.वंशानुगत व उच्चाधिकार प्राप्त प्रशासनिक वर्ग

राज्य के उच्च पदों पर आसीन अधिकारी कुलीन वर्ग से आते थे। यह समस्त नागरिक व सैनिक प्रशासन के उच्च पदों पर आसीन हो समाज में प्रतिष्ठा व सम्मान प्राप्त करते थे। यह वर्ग भी करों से मुक्त था। इन अधिकारियों पर करों का संग्रह, कानून व्यवस्था एवं देश की सुरक्षा का भार था। साथ ही ये अपने क्षेत्रों में न्याय देने का कार्य भी करते थे। इनके द्वारा अपने अधिकार क्षेत्र में होने वाले सम्पत्ति के क्रय–विक्रय पर किसानों से कर वसूला जाता था। कृषक वर्ग इन सामन्तों के यहां घरों व खेतों में बेगार, शराब बनाने व चक्की चलाने का कार्य किया करते थे। लुई 14वें के समय में शासन को अत्यधिक केन्द्रीकृत करते हुए यद्यपि कुलीन वर्ग की शक्तियों को सीमित कर दिया गया था, फिर भी यह विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग था।

(ग) आर्थिक कारण

देश की अर्थव्यवस्था अत्यन्त ही दयनीय व शोचनीय दौर से गुजर रही थी। हर मील पर लगने वाली चुंगी एवं बदलते कानूनों ने मुक्त व्यापार पर रोक लगा रखी थी। कृषकों से कर वसूलने का तरीका भी दोषपूर्ण था। ठेकेदार के माध्यम से करों की उगाही होती थी। करों की दरें भी अलग–अलग रियासतों में अलग–अलग थी। कर वसूली की प्रणाली अत्यन्त दोषपूर्ण, अमानवीय, दुखदायी व भ्रष्टाचार से युक्त थी। किसानों द्वारा उगाई जाने वाली फसलों का 80 प्रतिशत भाग तो चर्च, सामन्त व राजा द्वारा ही ले लिया जाता था। चर्च ''टाइथ'' नामक कर वसूलता था। जो कुल फसल का दसवाँ हिस्सा था। अमेरिकी

संघर्ष में भाग लेना इस शोचनीय आर्थिक दशा के लिए प्रत्यक्ष रूप से उत्तरदायी था। अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने में फ्रांस ने करोड़ों डॉलर का घाटा उठाते हुए राष्ट्रीय आय को ब्याज चुकाने में खर्च कर दिया। आस्ट्रिया के उत्तराधिकार युद्ध में भाग लेना भी राष्ट्रीय आय के लिए घातक सिद्ध हुआ। फ्रांस का राजा, राजपरिवार व राजदरबार तो पहले से ही राष्ट्रीय आय का अधिकांश हिस्सा उपभोग कर रहे थे। राजा की विलासिता, भोग विलास एवं शान–शौकत में कई डालर खर्च हो जाते थे। विशेषाधिकार युक्त वर्ग कुलीन व पादरी किसी भी प्रकार का कोई कर नहीं देते थे। बल्कि कृषकों से कर वसूल कर उसे फिजूल खर्च करते थे। भूमिकर, आयकर प्रत्यक्ष रूप से वसूल किये जाते थे। जबकि परोक्ष कर नमक, शराब एवं तम्बाकु पर लगता था। नमक का एकाधिकार एक कम्पनी के हाथ में था। वह मनमाने रूपये वसूल करती थी। राजा ने भी नमक कर नहीं देने को दण्डित करने का अधिकार कम्पनी को दे रखा था। सात वर्ष से अधिक उम्र के प्रत्येक फ्रांसिसी को 7 पौंड वार्षिक नमक कर देने की बाध्यता थी। नमक का अवैध व्यापार करने पर मृत्यु दण्ड तक दिया जा सकता था।

अमेरिकी संघर्ष में अपनाई गई फ्रांस की अविवेकपूर्ण नीति

अमेरिकी संघर्ष में भाग लेने से यद्यपि फ्रांस द्वारा सप्तवर्षीय युद्ध में हुई हार का बदला इंग्लैण्ड से ले लिया गया था। लेकिन इस संघर्ष में फ्रांस को आर्थिक लाभ की प्राप्ति नहीं हुई बल्कि इसके उलट स्वयं की आर्थिक स्थिति ही डाँवाडोल हो गई।

आर्थिक विषमताओं ने फ्रांस की पूर्व में ही स्थिति बदतर कर रखी थी उसे अमेरिकी संघर्ष ने और बढ़ा दिया। दूसरी ओर फ्रांसिसी सैनिक भी भोजन, वस्त्र व वेतन को लेकर वर्तमान शासन व्यवस्था से असंतुष्ट थें।

(घ) बौद्धिक चेतना

फ्रांस में व्यवस्था परिवर्तन के लिए जिस जागरूता की आवश्यकता थी उसका प्रसार करने का कार्य मध्यमवर्गीय विचारकों द्वारा किया गया। इस मध्यम वर्ग में वाल्तेयर, दिदरो, रूसो, मोंटेक्स्यू इत्यादि विद्वान शामिल थे, जिन्होंने फ्रांस की क्रांति में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। यह वाद–विवाद व तर्को के माध्यम से जन साधारण को यह समझाने में सफल रहे थे कि मौजूदा व्यवस्था के लिए पादरी व कुलीन लोग ही दोषी हैं। ये खुले व्यापार तथा कानून व करों की समानता के समर्थक थे।

यह बौद्धिक वर्ग व्यंग्य, कविता , नाटक, वाद–विवाद, तर्कपूर्ण वैज्ञानिक व्याख्या तथा कार्यशालाओं के माध्यम से समाज के तत्कालीन असंतोष को बढ़ावा दे रहे था। इन्होंने विशेषाधिकारों पर आधारित संस्थाओं को फ्रांसिसी समाज की

चित्र–4.8 : फ्रांसिसी क्रांति

तत्कालीन असंतोषजनक परिस्थितियों के लिए उत्तरदायी ठहराया तथा उन्हें समाप्त करने पर बल दिया। उनके विचारों के केन्द्र में मनुष्य ही था। ''मनुष्य के सर्वांगीण विकास के लिए राज्य को प्रयत्नशील रहना चाहिए,'' ऐसा वो मानते थे। मोंटेस्क्यू, रूसो, वोल्तेयर , तुर्गो, क्वेस्ने, दिदरो इत्यादि बौद्धिक विचारकों ने उस आदर्श समाज की स्थापना पर बल दिया जो उदार पांथिक सहिष्णुता, प्रजातांत्रिक एवं राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक समानता लिए हुए हो। इन दार्शनिकों ने स्वतंत्र चिंतन पर बल देते हुए फ्रांस की पुरातन व्यवस्था को समाप्त करने का आह्वान जनता से किया था।

फ्रांस के प्रबुद्ध वर्ग ने प्रशासन में फैले अन्याय अराजकता, भ्रष्टाचार के विरोध में आवाज उठानी प्रारम्भ कर दी। रूसो का कहना था कि उस शासक को राज करने का अधिकार नहीं जो जनता की अपेक्षाओं पर खरा नहीं उतरता है। मोन्टेस्क्यू द्वारा दिया गया शक्ति पृथक्करण का सिद्धान्त आज भी प्रजातन्त्र का आधार बना हुआ है। इसके अनुसार कार्यपालिका, न्यायपालिका व विधायिका को पृथक्–पृथक् होना चाहिए। वाल्तेयर देश में फैले हुए भ्रष्टाचार के लिए चर्च के भोग–विलास को ही उत्तरदायी मानता था। मोन्टेस्क्यू ने अपनी रचना ''फारस के खत'' में फ्रांस के रीति–रिवाजों तथा निरंकुश अत्याचारी राजतंत्र का विरोध किया था।

रूसो द्वारा लिखित रचना ''सामाजिक संविदा'' में मानव स्वतंत्रता पर बल दिया गया था, वह स्वतंत्रता, समानता तथा बन्धुत्व जैसे सिद्धान्तों का भाष्यकर्त्ता था। रोब्सपियर उसका अनुयायी था तथा वह रूसो द्वारा लिखित पुस्तक ''सामाजिक संविदा'' सदैव अपने पास रखता था। रूसो ने कहा था कि ''मनुष्य स्वतंत्र पैदा हुआ है, लेकिन आज वह सर्वत्र जंजीरों से जकड़ा हुआ है।'' अब मनुष्यों को पुनः अपनी प्राकृतिक अवस्था में लौट कर समस्त संस्थाओं और उसके बन्धनों से मुक्त हो जाना चाहिये। नेपोलियन ने रूसो को फ्रांस की क्रांति का प्रमुख उत्तरदायी व्यक्ति बताया था।

वाल्तेयर का मानना था कि ईश्वर हृदय में है, बाइबिल और चर्च में नहीं। उसने पोप को विदेशी कह कर सम्बोधित किया। अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर वह बल देता था। भ्रष्ट राजतंत्र का विरोध करते हुए उसने यहाँ तक कहा कि ''मैं जानता हूँ कि तुम्हारी बात गलत है फिर भी तुम्हारी अभिव्यक्ति के अधिकार के लिये मैं अपनी जान तक देने को तैयार हूँ।''

सुधार के असफल प्रयास

लुई 16वें का वित्तमंत्री तुर्गो एक अर्थशास्त्री तथा राजनीतिज्ञ था। उसने सरकारी व्यय में कमी के प्रयास करते हुए राजकीय आय को बढ़ाने के प्रयास शुरू किए। तुर्गो द्वारा इन नियमों पर कार्य करने का प्रयास किया गया– (अ) दिवालियापन नहीं (ब) कर वृद्धि नहीं (स) कोई ऋण नहीं। तुर्गो ने व्यापार व उद्योग में वृद्धि हेतु स्वतंत्रत व्यापार का सिद्धान्त लागू कर दिया। उसने व्यावसायिक श्रेणी का अन्त कर दस्तकारों और कारीगरों को प्रोत्साहित किया। उसके द्वारा किसानों के लिए दुःखदायी कोरवी नामक कर समाप्त कर दिए गए। अब कृषकों को सड़क पर काम के बदले मजदूरी प्राप्त होने लगी। तुर्गो ने जब नमक कर तथा विशेषाधिकारों का अन्त करने का प्रस्ताव राजा के समक्ष रखा तो विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग ने रानी मारी को अपनी ओर मिला लिया तथा षड़यंत्र कर तुर्गो को मंत्री पद से हटवा दिया।

इसके बाद नियुक्त वित्त मंत्री नेकर एक बैंकर था उसने राजा को अमेरिकी संघर्ष में भाग नहीं लेने की सलाह दी थी। इसने राज्य की आय–व्यय के आंकड़ों को सार्वजनिक रूप से प्रकाशित करवा दिया। इसमें राजा, दरबारी, कुलीन वर्ग (अनुत्पादक वर्ग) के बेहिसाब खर्चों का उल्लेख था। अंततः इस वित्तमंत्री को भी हटा दिया गया। केटलवी के अनुसार ''नेकर के पतन के साथ ही ऐच्छिक सुधारों के युग का भी अन्त हो गया।

नेकर के बाद 1781 ईस्वी में केलोन वित्त मंत्री नियुक्त हुआ। इसने सरकारी घाटे को कर्ज लेकर चुका दिया। लेकिन शीघ्र ही यह रास्ता भी बंद हो गया। इसने पहले दो वित्त मंत्रियों से आगे बढ़ते हुए तीन सामाजिक वर्गो पर समान रूप से कर लगाने की मांग कर डाली।

अपने प्रति उच्च वर्गों का विरोध देखते हुए केलोन ने स्वयं ही त्यागपत्र दे डाला। ब्रिया को वित्त मंत्री बनाया जिसने आर्थिक सुधारों के लिये एस्टेटस जनरल अधिवेशन की सलाह दी जिसे राजा को स्वीकार करना पड़ा।

क्रांति की प्रमुख घटनाएँ एवं चरण

एस्टेटस् जनरल का आह्वान (5 मई 1789 ईस्वी)

केलोन के त्यापत्र देने के बाद राजा के पास नये कर लगाने के अलावा कोई चारा नहीं बचा। लेकिन पेरिस की पार्लेमा सहित अन्य पार्लेमाओं ने इसका जोरदार विरोध किया साथ ही इन्हें रजिस्टर करने से भी इन्कार कर दिया। जनता व सेना भी पार्लेमा के साथ हो गई। अब सभी ने एकमत से एस्टेट्स जनरल बुलाने की मांग शुरु की। राजा ने नेकर को पुनः वित्तमंत्री नियुक्त कर दिया। लेकिन अब बहुत देर हो चुकी थी। एस्टेट्स जनरल का पहला अधिवेशन 1320 ईस्वी में फिलिप द–फेयर के समय हुआ था, लेकिन 1614 ईस्वी के पश्चात् कोई अधिवेशन नहीं बुलाया गया। इस संस्था में तीनों

चित्र–4.9 : टेनिस कोर्ट की शपथ

वर्गों का प्रतिनिधित्व था। यह संस्था सलाहकारी संस्था थी। यहाँ बैठने वाले पादरी, कुलीन व जनसाधारण एक–एक वर्ग के रूप में बैठते थे तथा कुल मत भी तीन होते थे। अतः कुलीन व पादरी वर्ग दो मत डाल बहुमत में रहता था। राजा ने नेकर की सलाह मानते हुए साधारण वर्ग के प्रतिनिधियों की संख्या दुगुनी कर दी ताकि कुलीन वर्ग व पादरियों को कर देने हेतु विवश कर दिया जाए। जनसाधारण वर्ग व्यक्तिगत रूप से मत देने की मांग कर रहा था ताकि उनकी उपस्थिति प्रभावी ढंग से कुछ निर्णयों को पारित कर सके। दूसरी ओर कुलीन व पादरी वर्ग श्रेणी के अनुसार मत देने का इच्छुक था। 5 मई 1789 ईस्वी को एस्टेट्स जनरल का अधिवेशन बुलाया गया। तीनों वर्गो ने अपने–अपने प्रतिनिधियों का चुनाव एस्टेट्स जनरल में मत देने हेतु कर लिया। चुनाव में 308 पादरी, 285 कुलीन वर्ग के और 621 साधारण वर्गो के सदस्य चुने गये। इस प्रकार कुल 1214 सदस्य थे और वैकल्पिक सदस्यों की संख्या मिलाकर कुल संख्या 1600 से भी अधिक हो गयी। उद्घाटन भाषण में राजा ने अधिवेशन की कार्य प्रणाली का जिक्र नहीं किया। तृतीय सदन के सदस्य तीनों सदनों की संयुक्त बैठक की मांग कर रहे थे लेकिन प्रथम व द्वितीय सदन के सदस्य साधारण वर्ग के सदस्यों के साथ बैठने को तैयार नहीं थे। अब विशेषाधिकार युक्त (कुलीन एवं पादरी वर्ग) व विशेषाधिकारविहिन वर्ग (जनसाधारण वर्ग) एक दूसरे के सामने थे। जिनके हित परस्पर विरोधी थे। अब यह प्रश्न उठ खड़ा हुआ कि तीनों वर्गो के तीन मत हों या सदन एक ही हो तथा प्रत्येक सदस्य को मत देने का अधिकार प्राप्त हो। इस पर निर्णय नहीं हो सका।

लेकिन 28 मई 1789 को आबेसाइस व वेली नामक विधिवेत्ता जनसाधारण वर्ग (तृतीय सदन) के पक्ष में सम्मिलित हो गये। इससे प्रोत्साहित हो 17 जून 1789 को जनसाधारण वर्ग (तृतीय सदन) ने स्वयं की सभा को राष्ट्रीय महासभा (नेशनल असेम्बली) घोषित कर दिया। इस पर 19 जून को पादरी वर्ग भी इसके पक्ष में सम्मिलित हो गया। जब 20 जून 1789 को वे बैठक में आये तो राजा ने सभा भवन पर ताला लगवा उसे बन्द कर दिया।

टेनिस कोर्ट की शपथ (20 जून 1789 ईस्वी)

20 जून 1789 को राजा ने कुलीनों के पक्ष में सभा भवन पर ताला लगवा दिया इस परिस्थिति में जनसाधारण वर्ग ने पास के टेनिस मैदान पर ही सभा कर डाली। मिराबो व ओबेसाइस भी इसमे सम्मिलित हुए। सभी सदस्यों ने संविधान बनने तक उसी टेनिस मैदान में डटे रहने की शपथ ली। मोनियर द्वारा रखे गये प्रस्ताव पर यह शपथ ली गई थी। यह शपथ ''टेनिस कोर्ट की शपथ'' के नाम से जानी जाती है।

राष्ट्रीय महासभा (27 जून 1789 ईस्वी)

27 जून 1789 को राजा ने असफल होकर तीनों सदनों के सयुक्त अधिवेशन का आदेश दे दिया। यह फ्रांस की जनता की विजय थी। अब राष्ट्रीय महासभा को संविधान सभा कह कर संबोधित किया गया।

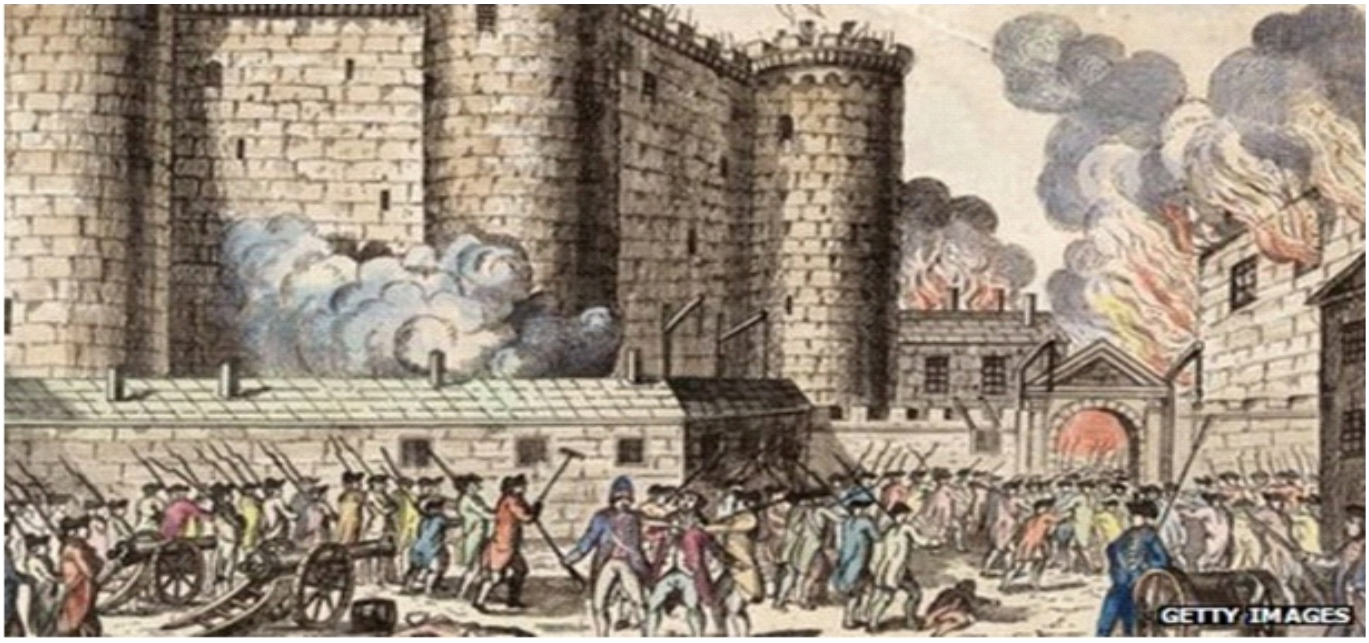

चित्र–4.10 : बास्तील दुर्ग का पतन

बास्तील दुर्ग का पतन (14 जुलाई 1789 ईस्वी)

सविधान सभा के कार्य के दौरान ही राजा ने रानी व कुलीनों के दबाव में नेकर को वित्तमंत्री पद से पदच्युत कर दिया, साथ ही सेना को बुला भेजा। इसमें विदेशी सैनिकों की संख्या ज्यादा थी। जनता में इसकी प्रतिक्रिया हुई उन्होंने नेशनल गार्ड संगठन का गठन कर लिया जो जनता की जान–माल की सुरक्षा करने वाला था। केसमाईल देसमोला नामक नेता ने जनता को हथियार उठाने हेतु आह्वान किया। 14 जुलाई को पेरिस में भीड़ ने बास्तील नामक किले पर अधिकार कर वहाँ के कैदियों को छुड़ा लिया। यह किला जनता पर अत्याचार का गवाह रहा था। इसका पतन राजनैतिक रूप से निरंकुश शासन का अंत था। जनता ने राजा के सफेद झण्डे को त्याग कर लाल–सफेद व नीले रंग के झण्डे को अपना लिया। 14 जुलाई को राष्ट्रीय अवकाश घोषित किया गया। किसानों ने सामन्तों व जमीदारों के घर–सम्पत्ति व दस्तावेजों को आग के हवाले कर दिया। बास्तील दुर्ग के पतन पर राजा लुई के ये शब्द थे कि '' अरे! यह तो विद्रोह है।'' पास खड़े लिआंकुर ने कहा कि ''नहीं सरकार यह क्रांति है।''

विशेषाधिकारों का अन्त (4 अगस्त 1789 ईस्वी)

4 अगस्त 1789 ई. की रात फ्रांस में एक नये युग की शुरूआत लेकर आयी । सर्वप्रथम नोआइय नामक कुलीन ने घोषणा की कि ''समस्त समस्याओं का कारण करों की असमानता और विशेषाधिकार हैं, मैं अपने विशेषाधिकार त्यागता हूँ।''

अब कुलीनों और पादरी वर्ग ने स्वयं विशेषाधिकार त्याग दिये। पादरियों द्वारा सभी धार्मिक कर समाप्त कर दिए गए। न्यायाधीशों ने उपाधियों को त्याग दिया। सरकारी सेवाओं के द्वार सभी के लिए समान रूप से खोल दिए गए।

मानव अधिकारों की घोषणा – (27 अगस्त 1789 ईस्वी)

राष्ट्रीय सभा ने लफायत के प्रस्ताव पर मानव अधिकार घोषणा पत्र जारी किया। इस घोषणा पत्र में क्रांति के वे निश्चित उद्देश्य व सिद्धान्त निहित थे जिन्हें जनता समझ पाएँ और ये भविष्य में बनने वाले संविधान का आधार बनें। मानवाधिकारों की घोषणा के इस पत्र के सम्बंध में एक्टन का कथन था– ''यह कागज का टुकड़ा नेपोलियन की विजय से ज्यादा महत्त्वपूर्ण था।''

मानव अधिकारों के घोषणा पत्र में निम्न घोषणाएं सम्मिलित की गई :–

1. मनुष्य के जन्म से प्राप्त कुछ अधिकार प्राकृतिक होते हैं जैसे स्वतंत्रता। इन्हें छीना नहीं जा सकता लेकिन एक मनुष्य की स्वतंत्रता दूसरे मनुष्य की स्वतंत्रता में बाधक नहीं होनी चाहिए।

2. बिना कानूनी आधार किसी को गिरफ्तार नहीं किया जा सकता है।

3. राज्य नागरिकों की जान–माल एवं अधिकारों की सुरक्षा हेतु है।

4. राज्य का कानून उस राज्य के व्यक्तियों की इच्छा की अभिव्यक्ति है।

5. योग्यता के आधार पर सरकारी सेवाओं में जाने का सभी को अधिकार है।

6. निजी सम्पत्ति का अधिकार लागू किया गया।

7. मजहब की स्वतंत्रता का अधिकार लागू किया गया।

8. अभिव्यक्ति (प्रेस) की स्वतंत्रता लागू की गई।

स्त्रियों का अभियान– 5 अक्टूबर को 6–7 हजार महिलाएं सम्राट के महल वर्साय पहुच गई और रोटी की मांग करने लगी। राजा एवं उसके परिवार को पेरिस लाने की मांग होने लगी। राजा भीड़ का कैदी हो गया। 6 अक्टूबर को राजा व राजपरिवार, को सम्पूर्ण मार्ग में भीड़ उत्साहित दिख रही थी। नाच–गाने के साथ यह नारा कि 'हमारे साथ रोटी वाला और उसका परिवार है' बराबर लगाया जा रहा था। पेरिस में राजा की स्थिति एक बन्दी के समान हो गई। दस दिन पश्चात् राष्ट्रीय सभा भी पेरिस में आ गई।

चित्र–4.11 : स्त्रियों का अभियान

सिविल कांस्टीट्यूशन ऑफ क्लर्जी – यह पादरियों के लिए लागू किया गया संविधान था। इसके माध्यम से चर्च को राज्य के अधीन कर दिया गया। पादरी वर्ग अब वेतन भोगी राज्य कर्मचारी बना दिया गया। पादरियों को संविधान के प्रति शपथ लेनी होती थी। जिन पादरियों ने इस संविधान को सहज स्वीकार कर लिया वो ज्यूरर कहलाए तथा जिन्होंने इस संविधान को अस्वीकार किया वे पादरी नान ज्यूरर कहलाए।

1791 ईस्वी का लिखित संविधान – 1791 ई. में प्रथम बार लिखित संविधान की रचना की गयी। संविधान जनता की इच्छाओं (काहियाओं) के आधार पर तैयार किया गया।

1. राजा को वेतनभोगी बना उसकी शक्तियों को सीमित कर दिया गया।

2. जनता की शक्ति को सर्वोच्च माना गया अर्थात् जन–संप्रभुता का सिद्धांत लागू किया गया।

3. मांटेस्क्यू द्वारा दिया गया शक्ति पृथक्करण का सिद्धांत लागू कर दिया गया।

राजा का पलायन – 20 जून 1791ई. को फ्रांस का राजा लुई बरेन गांव के समीप भागने का प्रयास करते हुए पकड़ लिया गया। इस घटना ने राजतंत्र की समाप्ति और गणतंत्र की स्थापना सुनिश्चित कर दी। 21 जनवरी 1793 को फ्रांस के राजा लुई सोलहवें को मृत्युदण्ड दे दिया गया। इस घटना ने समस्त यूरोपीय देशों को फ्रांस की जनता के विरूद्ध कर दिया।

प्रशा व ऑस्ट्रिया के विरूद्ध युद्ध की घोषणा–अप्रेल1792 ईस्वी में नेशनल असेम्बली ने प्रशा और आस्ट्रिया के विरूद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। क्योंकि इनके निरंकुश शासक लुई 16 वें की मदद करने का प्रयास कर रहे थे। क्रांतिकारियों ने इस युद्ध को यूरोपीय राजाओं एवं कुलीनों के विरूद्ध जन सामान्य का युद्ध कहा। इस समय कवि राजेट दि लाइल द्वारा रचित ''मार्सिले'' गीत भी स्वयंसेवकों द्वारा गाया गया। यह मार्सिले गीत आज फ्रांस का राष्ट्रगान है।

सितम्बर हत्याकांड– प्रशा के सेनापति ने फ्रांसिसी जनता को फ्रांस के शासक को मुक्त करने का आदेश दिया। ऐसा नहीं करने पर परिणाम भुगतने की धमकी भी दी। इस घोषणा ने फ्रांसिसी जनता को भड़का दिया। 10 अगस्त 1792 ईस्वी के दिन भीड़ ने राजमहल पर आक्रमण कर राजा के रक्षकों को मार दिया। इस विद्रोह में लगभग 800 स्विस सैनिक मारे गए। अब राजतंत्र को हटाने की मांग की जाने लगी। जैकोबिन दल के सदस्यों ने नया संविधान बनाने की मांग रखी। अब अस्थायी कार्यपालिका का निर्माण कर दांते को उसका अध्यक्ष बनया गया। सम्पत्ति पर आधारित मताधिकार को समाप्त कर सार्वभौमिक मताधिकार तैयार किया गया। दांते ने उन सभी लोगों को मौत के घाट उतार दिया जिन पर राजा या शत्रु देशों को सहायता पहुंचाने की आशंका थी। यह हत्याकांड 2 से 6 सितम्बर के बीच हुआ। इसीलिए इसे ''सितम्बर हत्याकाण्ड'' कहा जाता है।

नेशनल कन्वेंशन (1792 – 1795 ईस्वी) – इसका शासन 20 सितम्बर 1792 ईस्वी से 26 अक्टूबर 1795 ईस्वी के मध्य रहा। यह काल जैकोबिन व जिरोंदिस्त दलों के मध्य हुए संघर्ष तथा जैकोबिनों द्वारा किए गए हत्याकाण्डों के लिए जाना जाता है। बावजूद इनके कन्वेंशन द्वारा देश को स्थायित्व प्रदान करते हुए गणतंत्र की स्थापना की गयी थी। जैकोबिन व जिरोंदिस्त दल

पेरिस के महत्त्व, राजा पर अभियोग एवं सितम्बर हत्याकाण्ड के उत्तरदायित्व के प्रश्नों पर बंटा हुआ था। सितम्बर हत्याकाण्ड जैकोबिन दल के सदस्यों द्वारा किए गए थे। जिरोंदिस्त चाहते थे कि इसके लिए उत्तरदायी व्यक्तियों दांते व मारा को सजा दी जाये। जिरोदिस्त दल जेकोबिन दल द्वारा पेरिस को अत्यधिक महत्त्व देने के खिलाफ थे। जिरोदिस्त अभियोग चलाकर ही राजा को सजा देना चाह रहे थे। जबकि जैकोबिन इस कार्य को तुरन्त बिना अभियोग के ही करने के पक्षधर थे। राजा को कन्वेंशन में हुये मतदान के आधार पर 21 जनवरी 1793 ईस्वी को मृत्युदण्ड दे दिया गया। इस घटना को इग्लैण्ड, जर्मनी, आस्ट्रिया, इटली के राज्यों, रूस, स्पेन, हॉलेण्ड को फ्रांस के विरूद्ध कर दिया। जैकोबिन दल के नेता रोब्सपीयर, मारा, व दांते जिरोंदिस्तो से नफरत करते थे इसी कारण अब फ्रांस गृह युद्ध की चपेट में आ गया। फ्रांस में दो सरकारें काम करने लगी। एक पेरिस की सरकार या कम्यून या जैकोबिन दल तथा दूसरी शेष फ्रांस की सरकार या जिरोंदिस्त दल या कन्वेन्शन की सरकार।

कन्वेन्शन की सरकार क्रांतिकारी फ्रांस की तीसरी संसद थी इसके कार्यकाल में ही 21 सितम्बर 1792 ई. को राजतंत्र की समाप्ति व गणतंत्र की स्थापना कर दी गई। उस समय देश के भीतर व बाहर क्रांतिविरोधियों की संख्या बढ़ती जा रही थी। इसे नियंत्रित करने के लिए नेशनल कन्वेंशन द्वारा मार्च 1793 ई. से लेकर जुलाई 1794 ई. तक आतंक का शासन स्थापित किया गया। इसके तहत शक्तिशाली कार्यपालिका का गठन कर क्रांति विरोधियों को मृत्यु दण्ड दिया गया। इसके तीन अंग थे – 1. जन रक्षा समिति 2. सामान्य सुरक्षा समिति 3. न्यायपालिका

फ्रांस की राजनीति में उस समय गणतंत्रवादी समर्थक दो प्रमुख दल थे – 1. जिरोंदिस्त 2. जैकोबिन

1. जिरोंदिस्त दल – इस दल के अधिकांश नेता फ्रांस के जिरोंद प्रान्त से सम्बन्धित थे इस कारण इनका दल जिरोंदिस्त कहलाया। जिरोंदिस्त दल के नेता आदर्शवादी, गणतंत्रवादी व उत्साही व्यक्ति थे लेकिन वे अनुभवहीन व अव्यवहारिक व्यक्ति थे। इस कारण 1791 ई. की व्यवस्थापिका सभा में इस दल का बहुमत होने पर भी वे जैकोबिन दल से संघर्ष में पराजित हो गए। वे पेरिस के अत्यधिक महत्त्व के विरूद्ध थे। इसी कारण उनका कहना था कि ''पेरिस फ्रांस नहीं है।'' ब्रिसो व मादाम रोला इस दल के प्रमुख नेता था।

2.जैकोबिन – इस दल का केन्द्र पेरिस था। इस दल के सदस्य अधिक व्यवहारिक व उग्र गणतंत्रवादी व्यक्ति थे। इनके द्वारा गणतंत्र की सुरक्षा हेतु आतंक का राज्य स्थापित किया गया था। दान्ते, राब्सपियर, हैबर, मारा इस दल के प्रमुख नेता थे। रोब्सपियर द्वारा ही आतंक का शासन स्थापित किया गया था। वह फ्रांस में सद्‌गुणों का राजतंत्र स्थापित करना चाहता था। इस दल की अधिकांश बैठकें पेरिस के कॉन्वेन्ट ऑफ सेन्ट जैकब गिरजाघर में होती थी। इस कारण यह दल जैकोबिन कहलाया।

चित्र–4.12 : जैकोबिन दल के सदस्य

जैकोबिन दल के सदस्यों में छोटे दुकानदार, कारीगर, घड़ीसाज, नौकर व मजदूर शामिल थे। जैकोबिन दल के सदस्य लम्बी पतलून पहनते थे। इस कारण उन्हें ''सौ कुलात'' के नाम से जाना गया। ये स्वतन्त्रता की प्रतीक लाल टोपी भी पहनते थे। उस समय कुलीन वर्ग धारीदार ब्रीचेस (घुटन्ना) पहनते थे। इस प्रकार सौ कुलाँत (बिना घुटन्ने वाला) कुलीनों के विरोध का प्रतीक था।

आतंक का शासन – आतंक का शासन रोब्सपीयर द्वारा गणतंत्र की रक्षा, आन्तरिक विद्रोह के दमन व फ्रांस की विदेशी आक्रमणों से रक्षा के लिए स्थापित किया गया था। रोब्सपीयर द्वारा नियंत्रण एवं दण्ड की सख्त नीति अपनाई गई। वास्तव में जैकोबिन दल के नेताओं ने आतंक का उपयोग व्यक्तिगत व दलगत वैमनस्य तथा निजि महत्वाकांक्षाओं के लिए किया था। वैसे तो इससे बाहरी शत्रुओं और क्रांति विरोधियों पर सफलता तो मिली थी लेकिन इसे लगातार जारी रखना गलत था। दांते द्वारा विद्रोहों के दमन के पश्चात् इसे समाप्त करने पर बल दिया गया था। लेकिन रोब्सपीयर ने इसे गिलोटिन पर चढ़वा दिया। इस महाआतंक की समाप्ति 28 जुलाई 1794 ईस्वी को रोब्सपीयर के पतन के साथ ही हुई। यह दौर सम्पूर्ण क्रांति पर कलंक के समान है।

चित्र 4.13 : गिलोटिन (आतंक का शासन)

नेशनल कन्वेंशन द्वारा 1795 ईस्वी में नया संविधान बना दिया गया। इसके द्वारा शासन की शक्ति 5 व्यक्तियों की समिति को सौंप दी गई। यह व्यवस्था डायरेक्टरी व्यवस्था कहलाई।

डायरेक्टरी व्यवस्था – यह व्यवस्था अक्टूबर 1795 ईस्वी से नवम्बर 1799 ईस्वी तक रही। यह पूर्णतया असफल सिद्ध हुई। डायरेक्टरी (संचालक मण्डल) का शासन आन्तरिक प्रशासन के मामलों में दुर्भाग्यशाली रहा मगर वैदेशिक मामलों में उसने सफलता प्राप्त की। संचालक मण्डल ने 1795 ईस्वी से ही स्पेन प्रशा, हॉलैण्ड, पुर्तगाल, जर्मनी व इटली के राज्यों से सन्धि कर युद्ध समाप्त करने में सफलता प्राप्त कर ली। दूसरी ओर नेपोलियन बोनापार्ट द्वारा ऑस्ट्रिया को युद्ध में हरा दिया गया। अब केवल इंग्लैण्ड ही शेष था जो फ्रांस को आँख दिखा रहा था। मगर संचालक मण्डल के सदस्य अपनी अयोग्यता के कारण प्रांतीय दंगों को रोकने में असमर्थ रहे। जैकोबिन दलों के सदस्यों ने पैन्थियन नामक सोसायटी की सदस्यता ग्रहण कर संचालक मण्डल का विरोध प्रारम्भ कर दिया। यह संस्था ट्रिब्यून नामक पत्रिका निकालती थी। बढ़ती महंगाई ने देश की हालत जर्जर कर रखी थी। इन सभी हालातों ने नेपोलियन के उत्थान में मदद दी।

फ्रांसिसी क्रांति का प्रभाव

1.सामन्ती व्यवस्था का अन्त

लुई 14वें के समय यद्यपि सामन्ती व्यवस्था पर नियंत्रण करते हुए शासन को केन्द्रीकृत कर दिया गया था, लेकिन क्रांतिकाल में सामन्त व्यवस्था को पूर्णतया समाप्त कर दिया गया। यह अपमानजनक व्यवस्था सदियों से आर्थिक शोषण का पर्याय थी। समानता के सिद्धान्त पर सामन्ती व्यवस्था को समाप्त कर दिया गया।

2.राष्ट्रीयता का उदय

फ्रांस से उठी राष्ट्रीयता की लहर ने जल्दी ही समस्त यूरोप को अपनी जकड़ में ले लिया। यही राष्ट्रीयता की लहर इटली व जर्मनी में एकीकरण की प्रेरणा रही है। इसी कारण विश्व मानचित्र पर इन दो देशों का उदय हुआ। राष्ट्रीयता की इसी लहर ने स्पेन को आगे चलकर नेपोलियन के विरूद्ध संघर्ष के लिए प्रेरित किया। प्रत्येक देश के नागरिक अपने देश की रक्षा व गौरव के लिए त्याग, बलिदान व संघर्ष की भावना से उठ खड़े हुए। राष्ट्रीयता की भावना ने परतंत्रता से ग्रसित देशों को स्वतंत्र होने के लिए साम्राज्यवादी देशों के विरूद्ध आन्दोलन करने का साहस दिया।

3.प्रजातांत्रिक भावना का उदय

फ्रांस की जनता ने निरंकुश व वंशानुगत राजतंत्र का शासन समाप्त कर गणतंत्र की स्थापना की। अब देश का शासक वर्ग देश के नाम पर नहीं बल्कि जनता के नाम पर शासन करने को ही अधिकृत था। जनता अपने प्रतिनिधि को आकांक्षाओं पर खरा नहीं उतरने पर हटा सकती थी। अब सर्वोच्च सत्ता जनता में निवास करने लगी।

4.मानवाधिकारों की घोषणा

देश में अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, कानून के समक्ष समानता, सम्पत्ति की सुरक्षा, योग्यता अनुसार पद, पदों के समान अवसर इत्यादि को मानव अधिकारों के रूप में कानून का आधार देकर स्थापित किया गया। मनुष्य के कुछ अधिकारों को प्राकृतिक अधिकार अर्थात् जन्म से प्राप्त अधिकार की संज्ञा दी गई। इन मानव अधिकारों को प्राकृतिक अधिकारों का ही पर्याय माना गया। उन्हें शासक वर्ग द्वारा भी नहीं छीना जा सकता था। यह अधिकार विश्व के निरंकुश शासकों के विरूद्ध चुनौती के रूप में उभरे।

5.सेकुलर राज्य की घोषणा एवं चर्च के अधिकारों की समाप्ति

प्रत्येक व्यक्ति को उपासना पद्वति चुनने का अधिकार दिया गया। मजहबी सहिष्णुता फ्रांसिसी क्रांति की महत्वपूर्ण देन थी। मजहबी समस्याओं एवं पादरियों को राज्य के नियंत्रण में लाया गया एवं उन्हें भी संविधान के अनुसार कार्य व व्यवहार करने को बाध्य किया गया। मध्यकाल में शासन का मजहब ही जनता का मजहब माना जाता था। सेकुलर राष्ट्र की अवधारणा ने इस नियम को समाप्त कर मजहब को व्यक्तिगत विचारधारा से जोड़ दिया। इसका अर्थ था–शासन की चर्च के हस्तक्षेप से मुक्ति।

चर्च की सम्पत्ति पर जिन किसानों ने अधिकार कर लिया था उन अधिकारों को कानूनी आधार दे किसानों को लाभ दिया गया। मजहब को व्यक्तिगत विषय बना दिया गया।

6.राजनैतिक दलों का गठन

फ्रांसिसी क्रांति में जनता को स्वयं के अधिकारों का ज्ञान हो चुका था। वह अब राजनैतिक अधिकारों से परिचित हो चुकी थी। शासन करने का दैवीय सिद्धांत अर्थात् राजा ईश्वर का प्रतिनिधि है इस कारण उसे शासन करने का अधिकार है, उसे अब समाप्त कर दिया गया। शासन की बागडोर जनता के हाथ में आ गई। जनता अपने सामूहिक हितों के लिए दलों या संगठन के रूप में एकत्रित हो संघर्ष करने लगी। इस कड़ी में जिरोंदिस्त व जैकोबिन दल प्रमुख थे। शासन की सम्प्रभुता जनता में निहित हो गई।

7. समाजवाद का प्रारम्भ

क्रांतिकाल में कुलीन वर्ग, सामन्त वर्ग एवं पादरियों के विशेषाधिकारों को समाप्त कर दिया गया। चर्च की सम्पत्ति पर किसानों को अधिकार दे दिया। समानता के सिद्धांत पर सामन्त व्यवस्था का अन्त कर किसानों व सामन्तों के लिए एक समान कानून व्यवस्था स्थापित की गई। अधिकारविहीन समाज व विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग को बराबर खड़ा कर दिया गया। जैकोबिन दल मजदूरों और निर्धनों का हिमायती था।

8.शिक्षा सम्बन्धी सुधार

शिक्षा को चर्च से अलग कर उसके नियंत्रण से मुक्त कर दिया गया। शिक्षा के धार्मिक स्वरूप को बदल कर मानवतावादी बनाने का प्रयास किया गया। शिक्षा में अनुशासन व राष्ट्रीयता को विशेष महत्व देने का प्रयास किया गया।

9.स्वतंत्रता, समानता और बन्धुत्व

फ्रांस की क्रांति का यह सबसे प्रभावित करने वाला परिणाम था। स्वतंत्रता, समानता एवं बन्धुत्व के नारे ने न केवल फ्रांस बल्कि सम्पूर्ण यूरोप को प्रभावित किया। भाषण व लेखन, सम्पत्ति के अधिकार की सुरक्षा, राजनैतिक दलों के गठन की आजादी, समान अवसर, योग्यता को महत्व, विधि के समक्ष समानता इत्यादि को स्थापित किया गया। जनता के बीच भाईचारे व सहयोग की भावना से राष्ट्रीयता की नींव को मजबूत किया गया।

.10. उदारवादी प्रजातंत्र का प्रारम्भ

उदारवाद के लिए प्रयुक्त अंग्रेजी का ''लिबरल'' शब्द लैटिन भाषा के ''लिबर'' से व्युत्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ होता है ''स्वतंत्रता''। फ्रांस में उदारवाद की विचारधारा ने उस शासक वर्ग का समर्थन करने की बात कही जो जनता की सहमति से बनी हो तथा कानून के समक्ष सभी व्यक्ति समान समझे जाए। उदारवाद की विचारधारा ने चूंकि विशेषाधिकारों के अन्त का समर्थन एवं निरकुंश शासन का विरोध किया था, अतः अब उदारवाद को संसदीय प्रजातांत्रिक सरकार का समानार्थी माना जाने लगा। फ्रांस ने यूरोप में उदारवादी लोकतंत्र का झण्डा बुलन्द किया। यह उदारवाद का राजनीतिक पक्ष था। दूसरी ओर, राज्य के नियंत्रण से मुक्त, आर्थिक क्षेत्र में उदारवाद ने मुक्त बाजार व अबाध आवागमन की मांग प्रारम्भ करने वाले मध्यम वर्ग में स्थान बना लिया।

11. राजतंत्र की समाप्ति व जनता की शक्ति का उदय

फ्रांसिसी क्रांति ने देश का भविष्य और वर्तमान दोनों ही जनता में निहित कर दिए थे। फ्रांसिसी क्रांतिकारियों ने यूरोप के समस्त निरकुंश शासकों के विरूद्ध वहाँ की जनता को संगठित होने में मदद देने की बात कही यह राष्ट्रों का भौगोलिक परिदृश्य बदलने का प्रारम्भ बिन्दु था। अब फ्रांस में राष्ट्र की प्रभुसत्ता फ्रांस के सक्रिय नागरिकों के समूह में निहित हो गई। फ्रांस में एक नया फ्रांसिसी झण्डा तिरंगा चुना गया। एस्टेट्स जनरल असेम्बली का स्थान नेशनल असेम्बली ने ले लिया जो सक्रिय नागरिकों का प्रतिनिधित्व करती थी। सेना अब राजा की रक्षा के लिए नहीं होकर देश की रक्षा का दायित्व सम्भालने वाली थी। जनता में देश के लिए शहीद होने वालों के प्रति सम्मान की भावना पैदा हुई। यूरोपीय राजनीति में राष्ट्रवाद का प्रारम्भ 1789 ईस्वी की इसी फ्रांसिसी क्रांति से माना जाता है।

फ्रांसिसी क्रांति का महिलाओं पर प्रभाव

फ्रांसिसी क्रांति के दौरान लड़कियों के लिए सरकारी विद्यालयों के द्वार खोल दिए गए तथा उन्हें व्यवसायिक प्रशिक्षण लेने का अधिकार दिया गया। उनकी मर्जी के बिना विवाह नहीं करवाने को कानूनी आधार दे दिया गया था। तलाक प्राप्त करने हेतु प्रार्थना–पत्र देने का अधिकार स्त्रियों को भी पुरूषों के समान ही प्रदान किया गया।

स्त्री स्वातंत्रय का यह संक्रमण काल था यही कारण है कि फ्रांसिसी क्रांति के आदर्शों स्वतंत्रता, समानता, बंधुत्व के विपरीत महिला क्लबों को आतंक के शासन के दौरान बंद कर दिया गया। इसका विरोध करने पर ''ओलम्प दे गूज'' नामक महिला को देशद्रोह का आरोप लगा उसे फांसी पर चढ़ा दिया गया। इसके पूर्व 1791 ईस्वी के संविधान में महिलाओं को निष्क्रिय नागरिक का दर्जा दिया गया था। निष्क्रिय नागरिक को मत देने का अधिकार नहीं था।

दूसरी ओर फ्रांसिसी कलाकारों ने अपने क्रांति के आदर्शों जैसे स्वतंत्रता, समानता, न्याय, गणतंत्र इत्यादि का मानवीकरण कर उसका नारी रूप में सृजन प्रारम्भ कर दिया। न्याय तथा कानून के समक्ष सभी की समानता को एक तराजू पकड़े आँखों पर पट्टी बांधे स्त्री के रूप में दर्शाया गया। स्वतंत्रता को टूटी जंजीर के रूप में व्यक्त किया गया। गणतंत्र एवं स्वतंत्रता के प्रतीक लाल टोपी, तिरंगा और कलगी बने। फ्रांस में ऐसी नारी के रूपक को मारीआन नाम दिया गया। राष्ट्र के अमूर्त विचारों को नारी की छवि में दर्शाया गया।

चित्र–4.14 : स्वतंत्रता की प्रतीक नारी रूपक एवं लाल टोपी

फ्रांसिसी क्रांति

	महत्त्वपूर्ण घटनाक्रम		दिनांक
1.	स्टेट्स जनरल की शुरूआत	–	5 मई 1789 ईस्वी
2.	जनसाधारण वर्ग / तृतीय सदन द्वारा नेशनल असेम्बली / राष्ट्रीय सभा की घोषणा	–	17 जून 1789 ईस्वी
3.	टेनिस कोर्ट की शपथ	–	20 जून 1789 ईस्वी
4.	राष्ट्रीय सभा को राजा की स्वीकृति एवं राष्ट्रीय सभा का संविधान सभा में परिवर्तन	–	27 जून 1789 ईस्वी
5.	बास्तील दुर्ग का पतन	–	14 जुलाई 1789 ईस्वी (उक्त दिनांक को फ्रांस का स्वतंत्रता दिवस मनाया जाता है)
6.	विशेषाधिकारों का अन्त	–	4 अगस्त 1789 ईस्वी
7.	मानव अधिकारों की घोषणा	–	27 अगस्त 1789 ईस्वी
8.	मार्च ऑफ वूमेन (स्त्रियों का अभियान)	–	5 अक्टूबर 1789 ईस्वी
9.	बुन्सविक की घोषणा	–	25 जुलाई 1792 ईस्वी
10.	संविधान सभा द्वारा लिखित गणतंत्रीय संविधान का निर्माण	–	सितम्बर 1791 ईस्वी
11.	राजतंत्र की समाप्ति व गणतंत्र की घोषणा	–	21 सितम्बर 1792 ईस्वी
12.	लुई 16वें को गिलोटीन पर चढ़ाना	–	21 जनवरी 1793 ईस्वी
13.	सितम्बर हत्याकाण्ड	–	2–6 सितम्बर 1793 ईस्वी
14.	आतंक का शासन	–	मार्च 1793 से जुलाई 1794 ईस्वी
15.	दांते का पतन	–	अप्रेल 1794 ईस्वी
16.	राब्सपीयर का पतन	–	28 जुलाई 1794 ईस्वी
17.	नेशनल कन्वेंशन	–	1792 से 1795 ईस्वी
18.	डायरेक्टरी शासन	–	1795 से 1799 ईस्वी

नेपोलियन बोनापार्ट

नेपोलियन का जन्म 15 अगस्त 1769 ईस्वी को कोर्सिका द्वीप पर अजासियो नामक नगर में हुआ था। उसके पिता कार्लो बोनापार्ट एवं माता लीतिशिया रेमालिनो थी। नेपोलियन के पिता फ्रेंच दरबार में कार्सिका द्वीप का प्रतिनिधित्व करते थे। नेपोलियन ने अपनी शिक्षा पेरिस के सैनिक स्कूल में प्राप्त की थी। शीघ्र ही उसे सेना में लेफ्टिनेंट का पद प्राप्त हो गया। नेपोलियन द्वारा 16 सितम्बर 1793 ईस्वी को तूलो के बन्दरगाह से अंग्रेजों को बाहर निकाल दिया गया। राष्ट्रीय महासभा का अधिवेशन भी इसी नगर में हो रहा था। नेपोलियन ने प्रतिक्रियावादी तत्त्वों से महासभा के सदस्यों की रक्षा की। इस समय नेपोलियन ने अपनी योग्यता, कुशलता व साहस का परिचय दिया। इसी कारण 1794 ईस्वी में उसे सेना में प्रधान तोपची नियुक्त कर दिया गया। 5 अक्टूबर 1795 ईस्वी को डायरेक्टरी शासन में राजतंत्र के समर्थकों द्वारा विद्रोह कर दिया गया। नेपोलियन ने उनके विद्रोह को दबाने में फ्रांस के सेनापति बरास की मदद की। इस विद्रोह पर विजय के कारण उसे आन्तरिक सेना का जनरल नियुक्त किया गया। इसी समय उसका विवाह जोसेफाइन बौहारनैंस नामक प्रभावशाली महिला से हो गया। फ्रांस के युद्ध मंत्री कार्नो द्वारा, नेपोलियन की योग्यता से प्रभावित होकर इटली विजय का अभियान सौंप दिया गया।

नेपोलियन ने लोधी के पूल व रिवोली के युद्ध में जनवरी 1797 ईस्वी में आस्ट्रिया को पराजित किया। उसने 18 अप्रेल 1797 ईस्वी को लियोबेन की विराम संधि की। 17 अक्टुबर 1797 को आस्ट्रिया ने कैम्पोफोर्मिया की संधि की। इस संधि ने इटली में फ्रांस को सर्वोच्च बना दिया। अब नेपोलियन की वीरता, कुशलता व रणनीति को लेकर फ्रांस में किंवदंतियाँ बनने लगी।

नेपोलियन ने मिश्र को युद्ध में परास्त करने के पश्चात् इग्लैण्ड के उपनिवेश भारत में, मराठों को सहयोग कर इंगलैण्ड पर विजय की योजना बना ली थी, मगर अगस्त 1798 ईस्वी में नील नदी के युद्ध में नेपोलियन को इग्लैण्ड की जलसेना के सेनापति नेल्सन ने हरा दिया। उधर डायरेक्टरी का शासन फ्रांस में कुशासन के कारण लोकप्रिय नहीं रहा था। नेपोलियन की विजय डायरेक्टरी की अयोग्यता के कारण पुनः हार में बदल रही थी। फलतः नेपोलियन ने फ्राँस पहुँचने का निर्णय किया। नेपोलियन ने फ्रांस पहुंचते ही अनुभव किया कि वह सही समय पर आया है। उसने कहा ''प्रत्येक व्यक्ति मेरी प्रतीक्षा कर रहा था। यदि मैं कुछ समय पूर्व आता तो शीघ्रता होती, यदि कुछ समय बाद आता तो देर हो जाती। मैं ठीक समय पर आया हूँ। अब नाशपाति पक चुकी है।'' उसने डायरेक्टरी व्यवस्था को समाप्त कर दिया, जिनकी भ्रष्टता से फ्रांसिसी जनता परेशान थी। अब शासन शक्ति तीन कौंसलों को सौंप दी गई।

चित्र–4.15 : नेपोलियन बोनापार्ट

नेपोलियन स्वयं प्रधान कौंसिल बना। इन कौंसलों को निम्नलिखित कार्य करने थे–

1. फ्रांस में शांति व्यवस्था की स्थापना।
2. नई विधि संहिता युक्त संविधान का निर्माण।
3. यूरोपीय देशों के साथ शांति संधि करना।

इन कौंसुलों ने क्रांतिकाल का चौथा संविधान बनाया, जिसमें शासन की कार्यपालिका शक्ति तीन निर्वाचित कौंसुलों को सौंप दी। जिनका कार्यकाल दस वर्ष निश्चित किया गया। नेपोलियन प्रथम कौंसल, कैम्बेसरी द्वितीय कौंसल तथा लैब्रून तीसरा कौंसल बना। यद्यपि गणतंत्र का दिखावा किया जा रहा था लेकिन वास्तविक शक्ति नेपोलियन के हाथ में थी। वही अप्रत्यक्ष रूप से शासक था।

नेपोलियन को 1802 ईस्वी में उसके सम्पूर्ण जीवन के लिए कौंसल नियुक्त कर दिया गया। 2 दिसम्बर 1804 ईस्वी को नौत्रेदामे चर्च में नेपोलियन को फ्रांस का सम्राट बना दिया गया।

नेपोलियन के फ्रांस के सम्राट बनने के पश्चात् अन्य देशों से किये गए युद्ध :–

21 अक्टूबर 1805 ईस्वी को ट्राफ्लगर के युद्ध में इग्लैण्ड के सेनानायक नेल्सन ने नौसैनिक के युद्ध में नेपोलियन को पराजित कर दिया। यद्यपि इसमें नेल्सन मारा गया, लेकिन इस निर्णायक युद्ध ने नेपोलियन की समुद्र में इग्लैण्ड को पराजित करने की, योजना को सदैव के लिए समाप्त करवा दिया।

2 दिसम्बर 1805 ईस्वी को आस्ट्रलिज के युद्ध में नेपोलियन ने आस्ट्रिया व प्रशा की संयुक्त सेना को पराजित कर दिया। फ्रांस व आस्ट्रिया–प्रशा के मध्य प्रेसबर्ग की संधि हुई। इस संधि में आस्ट्रिया को बहुत अपमानित होना पड़ा। नेपोलियन ने इस संधि के माध्यम से जर्मनी व छोटे–छोटे राज्यों को मिला राइन संघ का निर्माण किया। इस नये जर्मन संघ ने नेपोलियन को अपना संरक्षक बना लिया। अब नेपोलियन "राजाओं का निर्माता" कहलाने लगा। इस संधि के माध्यम से नेपोलियन ने आस्ट्रिया के सम्राट फ्रांसिस को "पवित्र रोमन सम्राट" का पद त्यागने को मजबूर कर दिया।

इस राइन संघ के निर्माण ने प्रशा को नाराज कर दिया। 14 अक्टूबर 1806 ईस्वी को जैना और ओरेस्टेड के युद्ध में फ्रांस ने प्रशा को पराजित कर दिया। फलस्वरूप फ्रांस व प्रशा में राइन नामक संधि हुई। अब नेपोलियन ने रूस पर आक्रमण कर उसे पराजित करने की ठान ली। 14 जून 1807 ईस्वी को फ्रीडलैण्ड के युद्ध में रूस पराजित हुआ। 8 जुलाई 1807 ईस्वी को रूस व फ्रांस के मध्य टिलसिट की संधि हुई। इस संधि में रूस ने राइन संघ को मान्यता दे दी। साथ ही इग्लैण्ड से व्यापार नहीं करने पर अपनी सहमति दे दी।

इस संधि के समय नेपोलियन अपने विजय–शिखर के उच्चतम बिन्दु को प्राप्त कर चुका था। इग्लैण्ड को छोड़ प्रत्येक यूरोपीय देश उसके अधीन था।

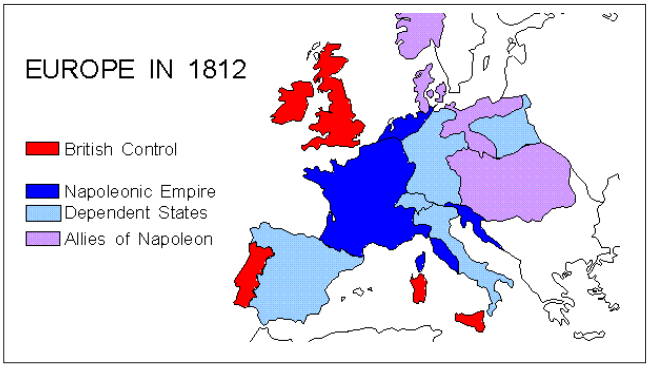

चित्र–4.17 : 1812 ईस्वी यूरोप मानचित्र

शासन व्यवस्था

नेपोलियन द्वारा विद्रोही पादरियों, सामन्तों और कुलीनों को पुनः फ्रांस में आमन्त्रित कर उन्हें वहाँ बसा दिया गया। सरकारी सेवाओं को सभी वर्गो के लिए खोल दिया गया।

प्रशासनिक सुधार

फ्रांस को विभागों (जिला), विभागों को उपविभागो (एरोण्डिजमेंट) में बाटा गया। नेपोलियन द्वारा इन जिलों में सैनिक अधिकारियों को नियुक्त कर दिया गया।

आर्थिक सुधार

1800 ईस्वी में बैंक ऑफ फ्रांस की स्थापना कर दी गई। शराब, नमक, तम्बाकू पर कर बढाया गया। खाद्य सामग्री का वितरण एवं यातायात व्यवस्था सुचारू की गई। करों की वसूली सरकारी कर्मचारियों के माध्यम से की जाने लगी।

पोप के साथ समझौता

कोंकोर्दा की संधि 1801 ईस्वी

1.चर्च को राज्य के नियन्त्रण में माना गया। पादरियों को राज्य के वेतनभोगी कर्मचारी बना दिया गया। यद्यपि पादरियों की नियुक्ति पोप द्वारा की जानी थी मगर पादरियों की नियुक्ति संबंधी प्रस्ताव भेजने का अधिकार सरकार के पास था।

2.क्रांतिकाल में किसानों द्वारा हड़पी गई चर्च की सम्पत्ति व जमीन पर किसानों का ही अधिकार माना गया।

3.संविधान के प्रति सम्मान व उसके अनुसार शपथ लेने पर पादरियों को जेल से मुक्त कर दिया गया।

4.कैथोलिक धर्म को फ्रांस का मुख्य धर्म घोषित किया गया।

नेपोलियन ने धर्म का उपयोग सत्ता बनाए रखने के लिए किया। उसके शब्दों में ''मैं मिश्र में मुस्लिम हूँ और फ्रांस में कैथोलिक।''

नेपोलियन द्वारा किये गये महत्वपूर्ण सुधार

1.शिक्षा संबंधी सुधार

नेपोलियन जानता था कि क्रान्ति की शुरूआत बौद्धिक वर्ग से होती है। अतः उसने विश्वविद्यालयों के अधिकारियों व प्राध्यापकों की नियुक्ति का कार्य स्वयं के हाथ में रखा। व्यवसायिक शिक्षा को भी महत्व दिया गया। शिक्षक सरकारी कर्मचारी बन नेपोलियन की नीतियाँ पढ़ाने लगे। शिक्षा को प्राथमिक, माध्यमिक व उच्च शिक्षा (विश्वविद्यालय) में विभाजित किया गया। धर्म को शिक्षा से अलग कर दिया गया। चर्च का नियन्त्रण शिक्षा पर से समाप्त कर दिया गया। पाठ्यक्रम में पारिवारिक अनुशासन व सैनिक शिक्षा को शामिल किया गया। माध्यमिक स्तर पर लाइसी नामक विद्यालय एवं शिक्षकों के प्रशिक्षण हेतु नार्मल विद्यालय खोले गए।

2.विधि संहिता

1.नेपोलियन द्वारा समस्त असंगत व असंख्य कानूनों को समाप्त कर उन्हें फ्रांस की व्यवस्था के अनुकूल बनाया गया। इन कानूनों को बनाते समय समानता, धर्म , सहिष्णुता, नैतिकता, संयुक्त परिवार व्यवस्था, अनुशासन, देशभक्ति, सम्पत्ति का व्यक्तिगत अधिकार इत्यादि को महत्व दिया गया।

2.पादरी वर्ग के प्रभाव को दूर करने हेतु सिविल मैरिज और तलाक को मान्यता दे दी गई।

3.नेपोलियन संयुक्त परिवार प्रथा में पिता को सर्वप्रमुख स्थान देता था। परिवार में स्त्रियों व पुत्रों की स्थिति पुरूष मुखिया से नीचे थी। मुखिया पुरूष परिवार की समस्त सम्पत्ति का मालिक था। वह बिना किसी की सलाह के उसका विक्रय कर सकता था। नेपोलियन ने पारिवारिक अनुशासन व्यवस्था पर भी जोर दिया।

4.कानून का शासन, योग्यता के अनुसार पद, कानून के समक्ष समानता इत्यादि को फ्रांस में लागू किया गया।

5.कानूनों को क्रमबद्ध कर संहिताबद्ध कर दिया गया।

6.नेपोलियन ने सम्पत्ति के व्यक्तिगत अधिकार को मान्यता देते हुए किसानों को भूमि का मालिक बना दिया। इन सबके विपरीत उसने मजदूरों की तुलना में कम्पनी मालिकों को महत्व दिया था। वह वाणिज्यवादी व पूंजीवादी व्यवस्था का पोषक था एवं उसने इस व्यवस्था को प्रोत्साहित किया। इस कारण उसकी विधि संहिता में मजदूरों के अधिकारों को मान्यता नहीं दे समानता के अधिकार का मखौल बनाया गया। उसके द्वारा मजदूर संघ बनाने पर रोक लगा दी गई थी व मजदूरों के विपरीत मालिकों का पक्ष लेने का आदेश न्यायालयों को दिया गया। यह समानता के सिद्धान्त के विपरीत था बावजूद इसके नेपोलियन को दूसरा ''जस्टीनियन'' कहा जाता है। नेपोलियन ने स्वयं अपनी विजय से ज्यादा विधि संहिता को महत्वपूर्ण बताया था।

महाद्वीपीय व्यवस्था

नेपोलियन इग्लैण्ड को व्यापारियों का देश मानता था। नेपोलियन प्रत्यक्ष युद्धों में इग्लैण्ड से हार चुका था। अतः उसने इग्लैण्ड की असली शक्ति व्यापार–वाणिज्य को नष्ट कर उसे अप्रत्यक्ष युद्ध में हराने की ठान ली। 1806 ईस्वी में बर्लिन आज्ञाप्ति द्वारा इग्लैण्ड की नाकेबन्दी कर दी गई। इग्लैण्ड के साथ अन्य यूरोपीय देशों का भी व्यापार अवैध घोषित कर दिया गया। इसको ''महाद्वीपीय व्यवस्था'' कहते है। दूसरी ओर इग्लैण्ड ने भी ''ऑर्डर इन कोन्सिल'' पास कर दिया। उसने नेपोलियन के पक्षधर देशों की नाकेबन्दी, जहाजों को पकड़ने व उन्हें नष्ट करने का आदेश दे दिया। महाद्वीपीय व्यवस्था फ्रांस के लिए घातक सिद्ध हुई। यह आत्महत्या के समान था। फ्रांस को यूरोप के व्यापार का केन्द्र बनाने का प्रयास घातक सिद्ध हुआ। महाद्वीपीय व्यवस्था को प्रभावी रूप से लागू करने के लिए नेपोलियन को और नये प्रदेशों पर विजय प्राप्त करने को बाध्य कर दिया। इसने फ्रांस की आर्थिक स्थिति पर घातक प्रभाव पड़ा।

स्पेन पर अनाधिकृत कब्जा

नेपोलियन बूर्बो वंश को पूर्ण रूप से समाप्त करना चाहता था। फ्रांस के अलावा स्पेन में बूर्बों वंश का शासक चार्ल्स चतुर्थ शासन कर रहा था। यद्यपि स्पेन नेपोलियन के युद्धों में तन–मन तथा धन से सहयोगी रहा था, तथापि नेपोलियन ने स्पेन के शासक को पद से हटा अपने भाई जोसेफ बोनापार्ट को स्पेन का सम्राट बना दिया। इस कुकृत्य ने स्पेन में राष्ट्रीयता की भावना फैला दी। यूरोप के अन्य देशों ने इस संघर्ष में नेपोलियन के विरूद्ध स्पेन का साथ दिया।

ग्राण्ट एवं टेम्परले ने कहा कि ''स्पेन के युद्ध ने कैंसर के समान नेपोलियन की शक्ति को पी लिया था।'' स्वयं नेपोलियन ने कहा '' स्पेन के नासूर ने मुझे तबाह कर दिया।'' इस प्रकार नेपोलियन का विरोध रूस, आस्ट्रिया, स्पेन, प्रशा पुर्तगाल, स्वीडन इत्यादि देशों में मात्र राजनैतिक नहीं था। भावनात्मक स्तर पर इन देशों की जनता ने नेपोलियन द्वारा हराये गए शासकों को समर्थन देना प्रारम्भ कर दिया। इन देशों के निवासी राष्ट्रीय भावना से प्रेरित हो नेपोलियन के विरूद्ध एक होकर संघर्ष करने लगे।

मास्को युद्ध

महाद्वीपीय व्यवस्था ने रूस को फ्रांस का विरोधी बना दिया। फ्रांसीसी क्रांति के प्रभाव के कारण रूस में सामन्तों का प्रभाव क्षेत्र कम हो गया था। महाद्वीपीय व्यवस्था के कारण व्यापार व सामन्तों के आमोद–प्रमोद की सामग्री में कमी आ गई थी। रूस का सम्राट अलेक्जेण्डर भी पोलैण्ड को लेकर फ्रांस से शंकित था। रूस ने महाद्वीपीय व्यवस्था को जारी रखने से इन्कार कर दिया। परिणामस्वरुप फ्रांस ने रूस पर आक्रमण कर दिया। लेकिन रूस की सर्दी से फ्रांसिसी सैनिक लाखों की संख्या में मारे गए। नेपोलियन का मास्को अभियान असफल रहा।

फिशर की मान्यता है कि ''मास्को अभियान दो राष्ट्रों के बीच संघर्ष नहीं था बल्कि वो तो एक महत्वाकांक्षी व्यक्ति और एक महान धर्म परस्त जाति की राष्ट्रीय भावना के बीच का संघर्ष था।''

राष्ट्रों का युद्ध (लिप्जिग युद्ध) अक्टूबर 1813 ईस्वी

स्वीडन, प्रशा, आस्ट्रिया, इंग्लैण्ड तथा रूस ने मिलकर नेपोलियन को हराने हेतु चौथे गुट का निर्माण कर लिया। नेपोलियन ने 1813 ईस्वी में डेस्डन के युद्ध में आस्ट्रिया के विरूद्ध अपनी अंतिम विजय प्राप्त कर ली। लेकिन मित्र राष्ट्रों की सेना ने 16 अक्टूबर से 19 अक्टूबर के बीच लिप्जिग के निकट 'राष्ट्रों के युद्ध' में नेपोलियन को परास्त कर दिया। इस युद्ध में नेपोलियन की सैनिक शक्ति नष्ट हो गई। 1 मार्च 1814 ईस्वी को मित्र राष्ट्रों ने युद्ध जारी रखने तथा शत्रु के खात्मे के लिए आपस में शॉमने की संधि की। महाद्वीपीय व्यवस्था समाप्त कर दी गई। अंततः मित्र राष्ट्रों की सेना ने फ्रांस की सेना को परास्त कर मार्च 1814 ईस्वी में फाउन्टेनब्ल्यू नामक स्थान पर नेपोलियन से संधि की। नेपोलियन को सिंहासन से हटा दिया गया एवं उसे एल्बा द्वीप का शासक बनाकर वहाँ भेज दिया गया। साथ ही उसे 20 लाख फ्रेंक वार्षिक पेंशन देना निश्चित कर दिया।

वाटरलू का युद्ध :– 30 मार्च, 1815 ईस्वी को नेपोलियन एल्बाद्वीप से भागकर पेरिस पहुँच गया तथा पुनः फ्रांस का सम्राट बन बैठा। यद्यपि नेपोलियन ने यह घोषणा की कि वह शांति और स्वतंत्रता का मार्ग अपनाना चाहता है, लेकिन यूरोपीय राष्ट्रों ने उस पर विश्वास नहीं किया। मित्र देशों की संयुक्त सेना को फ्रांस भेजा गया। 18 जून 1815 ईस्वी को नेपोलियन परास्त हुआ। 15 जुलाई 1815 ईस्वी को अंग्रेजी नौ सैन्य अधिकारी मेटलेण्ड के समक्ष नेपोलियन ने आत्मसमर्पण कर दिया। उसे पहले इंग्लैण्ड ले जाया गया। वहाँ से उसे सेण्ट हेलेना द्वीप में कैद कर दिया गया। 6 वर्ष तक उदर रोग से ग्रस्त कष्ट पाते हुये 5 मई 1821 ईस्वी को उसकी मृत्यु हो गई। 20 वर्ष पश्चात् उसके अवशेष फ्रांस लाये गए जिन्हें पूर्ण सम्मान सहित पेरिस में दफनाया गया।

चित्र–4.18 : मास्को अभियान

नेपोलियन के पतन के प्रमुख कारण

1.प्रायद्वीपीय युद्ध या स्पेनिश वार –

नेपोलियन के द्वारा स्पेन पर अधिकार करना उसके लिए घातक सिद्ध हुआ। इस घटना ने समस्त यूरोप को एक होने का अवसर प्रदान कर दिया। स्पेन में इस घटना का तीव्र विरोध हुआ साथ ही एक राष्ट्रीयता की लहर उठी एवं मित्र राष्ट्रों ने स्पेन की सहायतार्थ एक संयुक्त मोर्चा तैयार कर दिया। इस प्रायद्वीपीय युद्ध में फ्रांस ने तीन लाख सैनिक खो दिए।

2.महाद्वीपीय व्यवस्था –

नेपोलियन के विश्व विजेता बनने में इग्लैण्ड ही एकमात्र रोड़ा था। नेपोलियन ने इग्लैण्ड के अलावा समस्त यूरोप को जीत लिया था। वह जानता था कि इग्लैण्ड को सीधे युद्ध में नहीं हराया जा सकता है। अतः उसने इग्लैण्ड की वास्तविक शक्ति, व्यापार पर प्रहार करने का प्रयास किया। महाद्वीपीय व्यवस्था के माध्यम से उसने इग्लैण्ड के साथ अन्य देशों के व्यापारिक सम्बन्धों को बनाए रखने पर नाकेबन्दी द्वारा रोक लगा दी। इस व्यवस्था ने पूरे यूरोप में वस्तुओं की कीमतों में भारी वृद्धि कर दी। साथ ही वस्तुओं का अभाव हो गया। रूस, जो कि नेपोलियन के साथ मित्रवत था, वो भी इस महाद्वीपीय व्यवस्था के विरूद्ध हो गया। इस प्रकार नेपोलियन ने रूस की मित्रता भी खो दी।

3.रूस के विरूद्ध अभियान

नेपोलियन का रूस पर आक्रमण करना घातक सिद्ध हुआ। इस युद्ध में उसके 5 लाख सैनिक मारे गए। रूसियों की छापामार रणनीति, संघर्ष की जुझारू प्रवृति तथा दुर्गम मार्ग नेपोलियन की सेना के लिए काल साबित हुए। ऐसा कहा जाता है कि "रूस की सर्दियाँ कभी नहीं हारती", यह तथ्य नेपोलियन के रूस अभियान पर सही साबित होता है। नेपोलियन के सैनिक रूस की भयंकर शीत को नहीं झेल सके एवं मारे गए। साथ ही लौटती फ्रांसिसी सेना पर रूसियों ने आक्रमण कर उसे बड़ा नुकसान पहुँचाया।

4.पोप का अपमान

नेत्रोदम के चर्च में नेपोलियन के राज्याभिषेक पर नेपोलियन ने पोप को आमंत्रित कर उसका अपमान कर दिया। जब पोप नेपोलियन को ताज पहनाने जा रहा था तब नेपोलियन ने ताज को स्वयं के हाथों में लेकर उसे सिर पर धारण कर लिया और ये शब्द कहे कि, "यह ताज मुझे धूल में पड़ा मिला जिसे मैंने तलवार की नोक पर उठाया है।"

ये पोप का अपमान था इस कारण समस्त यूरोपीय कैथोलिक मतावलम्बी उसके विरोधी हो गए।

5.इग्लैण्ड की सुदृढ़ स्थिति एवं सर्वश्रेष्ठ नौसेनिक बेड़ा

इंग्लैण्ड की सुदृढ़ नौसेनिक शक्ति ने नेपोलियन की महाद्वीपीय व्यवस्था को असफल कर दिया। इंग्लैण्ड की आर्थिक स्थिति शुरू से ही अच्छी थी। इसके उलट फ्रांस में ही महाद्वीपीय व्यवस्था का विरोध शुरू हो गया। इस व्यवस्था से वस्तुओं की कीमतों में वृद्धि हो गई थी। समस्त यूरोप में इंग्लैण्ड का नौसेनिक बेड़ा शक्तिशाली था। इस कारण नेपोलियन उससे नील नदी के युद्ध में हार गया था। इस ताकत के बल पर इग्लैण्ड ने नेपोलियन की महाद्वीपीय व्यवस्था को असफल कर दिया।

6.बलात सैनिक भर्ती (राष्ट्रीय चरित्र का समाप्त होना)

नेपोलियन की सेना में अधिकांश सैनिक अलग–अलग देशों से भिन्न–भिन्न राष्ट्रीयता वाले बलात् भर्ती किए गए थे। फ्रांस के क्रांतिकाल में जो राष्ट्रीयता की पहचान सेना में थी वह अब समाप्त हो चुकी थी। अतः यह भी एक प्रमुख कारण था जो सेना को लम्बे व थका देने वाले युद्ध में उदासीन बनाए हुए था।

7.राष्ट्रीयता की भावना का उठना

स्पेन से उठी राष्ट्रीयता की भावना ने समस्त यूरोप को नेपोलियन के विरूद्ध एक होकर संघर्ष करने को प्रेरित कर दिया। प्रत्येक राष्ट्र नेपोलियन से बदला लेने को तैयार हो उठा। वे राष्ट्र की विजय व सुरक्षा हेतु सर्वस्व न्यौछावर करने को तैयार हो गए।

8.संबंधियों के प्रति प्रेमः–

नेपोलियन का अपने भाइयों एवं सगे–संबंधियों के प्रति विशेष मोह था। उसने एक भाई लुई नेपोलियन को हॉलैण्ड तथा दूसरे भाई जोसेफ को स्पेन तथा तीसरे भाई जोरेम को वेस्टफेलिया का शासक बनाया। अपनी बहन कैरोलिन का विवाह अपने सेनापति मुरा के साथ कर दिया। इतने अनुग्रह के बावजूद भी इन भाइयों ने विपदा में नेपोलियन का साथ नहीं दिया।

9.युद्धों की लम्बी व लगातार चली श्रृंखला :–

कुछ इतिहासकारों ने विश्व विजेता बनने के लिए नेपोलियन द्वारा प्रारम्भ की गई युद्धों हेतु लम्बी यात्राओं को उसके सैनिकों और स्वयं उसका थका देने वाला बताया था। डा0 स्ल्वोअने ने लिखा है कि ''नेपोलियन के पतन के सभी कारण थकान में निहित थे।'' जिन युद्धों ने उसे यूरोपीय महाद्वीप में विजेता बनाया एवं साम्राज्य का निर्माण किया उन्हीं युद्धों ने उसका विनाश कर दिया।

10.स्वभावगत दोष :–

नेपोलियन एक जिद्दी स्वभाव का महत्वाकांक्षी शासक था। सम्राट बनने के पश्चात् उसने अपने हितैषी सलाहकारों से राय लेना भी बन्द कर दिया था। वह स्वयं द्वारा लिए गए निर्णयों को ही सर्वश्रेष्ठ मानने लगा। उन निर्णयों के विपरित किसी भी तरह की सलाह को वो स्वीकार नहीं करता था।

11.अधिनायकवादी सत्ता :–

नेपोलियन ने गणतन्त्र का गला घोंट निरकुंश राजतन्त्र को पुनः प्रारम्भ कर दिया। उसने समाचार–पत्रों पर कठोर नियन्त्रण लगा दिया। मजदूर संघटनों के बनने पर रोक लगा दी गई। उसने उस स्वतंत्रता का गला घोंट दिया जो फ्रांसिसी क्रांति से उद्भूत थी। क्रांतिकारी विचारधारा ने जनता के आत्मनिर्णय के अधिकार के सिद्धान्त को जन्म दिया था मगर नेपोलियन ने सम्राट बन निरकुंश राजतन्त्र के माध्यम से जनता के इस अधिकार को भी छीन लिया।

नेपोलियन का मूल्यांकन

"मैं ही क्रांति हूँ मैंने क्रांति का अन्त किया है"

नेपोलियन का उदय उन परिस्थितियों की देन था जो फ्रांस के क्रांतिकाल में उत्पन्न हुई थी। उसने क्रांतिकाल में उद्भूत भावना के अनुसार काम करते हुए सम्राट बनते ही चर्च से शिक्षा व मजहब को अलग कर दिया। चर्च और पादरियों को राज्य के नियंत्रणाधीन ला दिया। नौकरियों में सभी को समानता के सिद्धांत पर समान अवसर दिए। प्रतिभाओं का सम्मान किया गया। कानून की समानता का सिद्धान्त लागू किया। व्यापार व कर प्रणाली में व्यापार उन्मुख सिद्धांत को माना गया। नेपोलियन विधि संहिता में क्रांतिकाल में बने श्रेष्ठ कानूनों को शामिल किया गया। सामन्तवाद की समाप्ति को बनाए रखा।

चित्र 4.19 : नेपोलियन बोनापार्ट समाधि

वह स्वयं सम्राट बन बैठा। जनता की सम्प्रभुता व प्रजातांत्रिक सिद्धांतों को त्याग दिया। नेपोलियन द्वारा साम्राज्यवादी नीति को अपनाया गया। उसने फ्रांसिसी जनता के राजनैतिक अधिकारों को छीन लिया। स्वयं के वैभव प्रदर्शन पर जनता का धन लुटाया गया। स्वयं के समर्थकों को उपाधियाँ तथा सम्मान दे विशेष समर्थक दल बना लिया।

घटना	दिनांक
1. जन्म (नेपोलियन बोनापार्ट)	15 अगस्त 1769 ईस्वी कोर्सिका द्वीप
2. तूलों के बन्दरगाह पर अधिकार	16 सितम्बर 1793 ईस्वी
3. भीड़ से नेशनल कन्वेंशन की रक्षा	5 अक्टूबर 1795 ईस्वी
4. आस्ट्रिया के साथ कैम्पोफोर्मिया की संधि	17 अक्टूबर 1797 ईस्वी
5. नील नदी का युद्ध	अगस्त 1798 ईस्वी
6. पोप के साथ समझौता	1801 ईस्वी
7. राज्याभिषेक	2 दिसम्बर 1804 ईस्वी
8. ट्राफलगर युद्ध (इग्लैण्ड व फ्रांस)	21 अक्टूबर 1805 ईस्वी
9. आस्ट्रलिज युद्ध (आस्ट्रिया प्रशा के साथ प्रेसबर्ग सन्धि)	2 दिसम्बर 1805 ईस्वी
10. जैना व आवरस्टेट का युद्ध (प्रशा के साथ, राइन सन्धि)	14 अक्टूबर 1806 ईस्वी
11. महाद्वीपीय व्यवस्था	21 नवम्बर 1806 ईस्वी
12. रूस के साथ युद्ध	14 जून 1807 ईस्वी
13. फ्रीडलैण्ड युद्ध (टिलसिट संधि)	8 जुलाई 1807 ईस्वी
14. ऑर्डर इन कॉन्सिल	1807 ईस्वी
15. स्पेन पर आक्रमण	1808 ईस्वी
16. मास्को अभियान	जून 1812 ईस्वी
17. लिपजिंग युद्ध	अक्टूबर 1813 ईस्वी
18. नेपोलियन को हटाना एवं एल्बा द्वीप निर्वासित	11 अप्रेल 1814 ईस्वी
19. वाटरलू युद्ध	18 जून 1815 ईस्वी
20. नेपोलियन की मृत्यु	5 मई 1821 ईस्वी

जर्मनी का राजनैतिक एकीकरण

जर्मनी नामक देश का उदय राष्ट्रीयता की उस भावना का उदाहरण है जो फ्रांसिसी क्रांति और नेपालियन की विजय यात्रा के बाद यूरोपियन देशों में बह रही थी। जर्मनी के निर्माण में सर्वाधिक योगदान नेपोलियन की विजय यात्रा को ही दिया जाता रहा है। लिप्सन के अनुसार आधुनिक जर्मनी का जन्मदाता नेपोलियन ही था।

नेपोलियन की विजय से पूर्व जर्मनी 18 वीं सदी के अन्त में 300 से अधिक छोटी–बड़ी रियासतों में बंटा हुआ था। नेपोलियन ने इनको जीत कर वियना कांग्रेस में 39 राज्यों के परिसंघ राइन संघ में बदल दिया। इस संघ में प्रशा राज्य आकार व सैनिक दृष्टि से सबसे बड़ा राज्य था। आस्ट्रिया इस संघ का अध्यक्ष बना। इस परिसंघ में सभी राज्यों के प्रतिनिधि मिलकर एक डायट (सभा) बनाते थे। लेकिन इस डायट (सभा) में आस्ट्रिया अपना पूर्ण प्रभाव बनाए रखता था। आस्ट्रिया ने इस संघीय डायट को शक्तिहीन बनाए रखा।

जर्मनी के एकीकरण में प्रमुख बाधाएँ

1. आस्ट्रिया उस समय यूरोपीय राजनीति में एक शक्तिशाली देश था। जर्मन राज्यों के एकीकरण में आस्ट्रिया ही प्रमुख प्रतिक्रियावादी शक्ति था, वह निरन्तर अपना हस्तक्षेप जर्मनी में बनाए रखता था। आस्ट्रिया को भय था कि यदि जर्मन राष्ट्रवाद सफल हो गया तो बहुराष्ट्रीयता वाले उसके साम्राज्य को बिखरने में ज्यादा समय नहीं लगेगा।

2. जर्मनी के दक्षिणी राज्य (बवेरिया, बादेन, बुर्टेम्बर्ग इत्यादि) कैथोलिक मत के प्रभाव में थे। अतः इनमें होने वाली समस्त राष्ट्रवादी गतिविधियों के विपरीत पोप इन राज्यों पर नियन्त्रण बनाए रखता था। जर्मनी राज्यों के एकीकरण के प्रयास पर फ्रांस इन राज्यों में हस्तक्षेप कर सकता था ऐसी आशंका थी।

3. समस्त यूरोपीय राजनीति का केन्द्र फ्रांस की राजधानी पेरिस थी। फ्रांस किसी भी कीमत पर स्वयं की सीमा पर किसी और शक्तिशाली देश का उदय होते नहीं देख सकता था। अतः वह जर्मनी के एकीकरण का विरोधी था।

4. इग्लैण्ड भी फ्रांस की भांति जर्मन राज्यों में रूचि बनाए हुये था। उसने हनोवर प्रान्त के बहाने उत्तरी राज्यों में हस्तक्षेप कर रखा था।

5. जर्मनी का बौद्धिक वर्ग भी जर्मन एकता के प्रश्न पर भिन्न–भिन्न मत या विचार रखता था। कुछ राज्य जर्मनी का एकीकरण राजतंत्र के अधीन चाहते थे लेकिन वे लोग नेतृत्व के प्रश्न पर बंटे हुए थे। कुछ आस्ट्रिया के समर्थक थे तो कुछ प्रशा के समर्थक थे। दूसरी ओर जर्मनी में गणतंत्र समर्थक भी मौजूद थे।

6. जर्मनी में सामाजिक व आर्थिक विषमताएँ भी विद्यमान थी।

एकीकरण के साधक तत्व

1.जॉलवरीन – जर्मनी के राजनैतिक एकीकरण की शुरूआत से पूर्व उसके आर्थिक एकीकरण ने जो आधारशिला तैयार की उसने जर्मन लोगों में राष्ट्रीय एकता की भावना बलवती कर दी। प्रशा द्वारा 1818 ई. में श्वार्जबर्ग – सोंदर शोसन नामक छोटे राज्यों से सीमा शुल्क संघ नामक संधि जॉलवरीन की । इन दोनों राज्यों के मध्य चुंगी समाप्त कर दी गई। माल की आवाजाही निर्बाध रूप से होने लगी। इसने व्यापार अत्यधिक वृद्धि कर दी। आर्थिक एकता ने उस प्रादेशिक व क्षेत्रीय प्रभाव को कम कर दिया जो जर्मनी के एकीकरण में बाधक था। राबर्ट इरगेंग के अनुसार ''इसने क्षेत्रीय भावना को समाप्त कर साम्राज्यवादी नेतृत्व को मजबूती प्रदान की।'' 1834 ई. तक लगभग सभी प्रमुख राज्य इस संघ के साथ हो गए। जर्मनी में रेलमार्गों के निर्माण ने इसमें और सहयोग प्रदान किया। सर फ्रेडरिक लिस्ट ने ''आर्थिक एकता के लिए निशुल्क व्यापारिक मार्गों पर जोर दिया।''

केटलबी ने कहा कि "जॉलवरिन के निर्माण ने भविष्य में प्रशा के नेतृत्व में जर्मनी के एकीकरण का मार्ग प्रशस्त कर दिया।"

2.बौद्धिक आन्दोलन – किसी भी राष्ट्र के निर्माण में वहाँ के दार्शनिकों, इतिहासकारों, साहित्यकारों व कवियों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहता है। लिफ्टे, ईगल, डालमेन, हार्डेनबर्ग, हेंटिक हाइन इत्यादि दार्शनिकों ने जर्मन आन्दोलन को सर्वश्रेष्ठ होने की संज्ञा दी। जर्मन जाति में आर्य अर्थात् सर्वश्रेष्ठ मनुष्य की भावना भर दी।

फिक्टे ने जर्मनी में फ्रांस विरोधी विचारों को उचित दिशा देते हुए उसमें राष्ट्रीयता की भावना भर दी। जर्मनी के जेना विश्वविद्यालय में 1815 ई. बर्शेनशैफ्ट नामक देशभक्त संगठन का निर्माण किया गया। इस संगठन ने जर्मन देशवासियों के नैतिक उत्थान पर जोर दिया। इस संस्था ने देशवासियों में न्याय, स्वतंत्रता एवं एकता की भावना भर दी।

3.औद्योगिक प्रगति – औद्योगिक प्रगति के लिए आवश्यक कोयला और लोहा जर्मनी के हर क्षेत्र में प्रचुर मात्रा में विद्यमान था। यही दोनों आज भी प्रत्येक उद्योग की आधारशिला माने जाते हैं। इन संसाधनों ने जर्मनी में औद्योगिक क्रांति की शुरूआत कर दी। परिवहन के लिए रेलमार्गों का निर्माण किया गया। प्रशा और श्वानबर्गनर के मध्य जॉलवरीन की संधि में प्रशा को यूरोप के अग्रणी औद्योगिक नगरों में ला खड़ा किया। इस औद्योगिक प्रगति में उस व्यापारिक वर्ग को जन्म दिया जो अब जर्मनी के एकीकरण में ही स्वयं का लाभ देख रहा था। वे चाहते थे कि जर्मनी में व्यापार निर्बाध रूप से हो। जॉलवरीन के माध्यम से जो आर्थिक एकीकरण की शुरूआत हुई वह रेलमार्गों से माध्यम से शीघ्र ही जर्मनी के दूसरे छोटे–छोटे राज्यों में पहुँच गई। उधर आस्ट्रिया लगातार होने वाले युद्धों और पुराने व्यापारिक नियमों एकाधिकार और गिल्ड प्रथा के कारण आर्थिक संकट की ओर जा रहा था।

बिस्मार्क का योगदान

प्रशा का सम्राट विलियम प्रथम (1861 – 1888 ईस्वी) सुलझे विचारों का दृढ़ निश्चयी व्यक्ति था। उसमें व्यक्तियों को परखने की क्षमता थी। यद्यपि वह उदारवादी विचारों में विश्वास करता था लेकिन वह जानता था कि जर्मनी का एकीकरण राजतंत्र एवं उसके अधीन सुदृढ़ सेना के माध्यम से ही हो सकता है। इसी कारण उसने वानरून को युद्धमंत्री, वानमोल्टके को सेनापति एवं बिस्मार्क को प्रधानमंत्री नियुक्त किया। बिस्मार्क एक चतुर राजनीतिज्ञ, अन्तरराष्ट्रीय मामलों का जानकार तथा कूटनीतिक कुशलता से परिपूर्ण व्यक्तित्व का धनी व्यक्ति था।

चित्र–4.20 : बिस्मार्क

बिस्मार्क ने कहा कि "मै आपके साथ (विलियम प्रथम) ही नष्ट हो जाना स्वीकार करूँगा, किन्तु संसदीय सरकार के विरूद्ध संघर्ष में श्रीमान् का साथ कभी नहीं छोडूँगा।"

बिस्मार्क का मानना था कि 1848–1849 ईस्वी तक का जो समय राष्ट्रवादियों ने वाद विवाद में समाप्त कर दिया था वह उनकी भूल थी। उसका मानना था कि उस काल की बड़ी समस्याएँ भाषणों और बहुमत के प्रस्ताव द्वारा नहीं बल्कि रक्त और लौह की नीति से सुलझ सकती थी। बिस्मार्क ने इस कारण प्रशा को शक्तिशाली राज्य बनाने की ठानी। संसद के निचले सदन द्वारा सैन्य बजट अस्वीकार करने पर उच्च सदन से ही पारित करवा अपनी दृढ़ता का परिचय दिया। बिस्मार्क एक ओर तो आस्ट्रिया को, सेना के दम पर, जर्मन राज्यों से बाहर निकालना चाहता था। दूसरी ओर अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति का लाभ लेना चाहता था। इस दिशा में उसने अन्य देशों के साथ गुप्त संधियाँ, तथा कूटनीति के प्रयास आरम्भ कर दिए।

सम्पूर्ण जर्मनी के एकीकरण की घटनाओं को तीन संधियों के मध्य विभाजित किया जा सकता है :–

युद्ध	उद्देश्य	संधि
डेनमार्क से युद्ध (1864 ईस्वी)	आस्ट्रिया से युद्ध का आधार तैयार करना	गेस्टाइन संधि (14 अगस्त 1865 ईस्वी)
आस्ट्रिया से युद्ध (1866 ईस्वी) (सेडोवा का युद्ध)	जर्मन परिसंघ से आस्ट्रिया का निष्कासन	प्राग की संधि (23 अगस्त 1866 ईस्वी)
फ्रांस से युद्ध 1870 ईस्वी (सेडान का युद्ध)	दक्षिणी जर्मन राज्यों को उत्तरी जर्मन संघ से मिलाकर जर्मनी का एकीकरण पूर्ण करना।	फ्रेंकफर्ट की संधि (26 फरवरी 1871 ईस्वी)

1.गेस्टाइन संधि –

जर्मनी संघ की दो रियासतें श्लेसविग और हाल्सटाइन पर डेनमार्क का अधिकार था। हाल्सटाइन की अधिकांश जनसंख्या जर्मन थी। साथ ही वह जर्मन संघ का सदस्य भी था। दूसरी ओर श्लेसविग में जर्मन बहुमत में तो थे मगर डेन लोग भी वहाँ रहा करते थे। डेन लोग जर्मनी के एकीकरण के विरोधी थे। 1852 ई. की लन्दन संधि में डेनमार्क ने इन दोनो रियासतों को

कभी भी अपने में विलय नहीं करने की बात स्वीकार कर ली थी। लेकिन 1863 ई. में डेनमार्क के शासक फ्रेडरिक ने इन दोनों रियासतों पर लंदन संधि के विरूद्ध अधिकार कर लिया।

इस प्रश्न पर प्रथम बार बिस्मार्क को राजनीतिक योग्यता और कूटनीतिक कुशलता दिखाने का अवसर मिला। बिस्मार्क इस अवसर का लाभ उठा आस्ट्रिया को जर्मनी से बाहर करके उसके नेतृत्व में जर्मन संघ को समाप्त करना चाहता था।

बिस्मार्क के प्रयास से इन दोनों रियासतों को लेकर जनवरी 1864 ई. में प्रशा व आस्ट्रिया में समझौता हुआ जिसमें दोनों रियासतों पर डेनमार्क के अधिकार को अस्वीकार कर उसे अंतिम चेतावनी देने का निश्चय किया गया। यह मैत्री बिस्मार्क की विजय थी। इसमें उसने आस्ट्रिया को साथ में तो ले लिया लेकिन दोनों रियासतों का भविष्य पारस्परिक समझौते द्वारा तय करने का निश्चय किया।

फरवरी 1864 ई. में आस्ट्रिया और प्रशा की संयुक्त सेना ने डेनमार्क को हरा दिया। इग्लैण्ड डेनमार्क की सहायता के लिए आगे नहीं आया, जिसका डेनमार्क को भरोसा था।

गेस्टाइन नामक स्थान पर 14 अगस्त 1865 ई. को विलियम प्रथम और आस्ट्रिया के सम्राट फ्रांसिस जोसेफ में समझौता हो गया। समझौते की प्रमुख शर्ते इस प्रकार थी –

1. इस समझौते में हाल्सटाइन आस्ट्रिया को और श्लेसविग प्रशा को मिला।

2. लावेनबुर्ग की डची के एवज में आस्ट्रिया ने रुपए लेना स्वीकार कर लिया।

3. कील नामक बन्दरगाह पर जो सामरिक दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण था, किलेबन्दी करने का अधिकार प्रशा को मिला।

इस प्रकार इस समझौते में जर्मन परिसंघ को अलग होने का रास्ता दिखा दिया।

यह समझौता आस्ट्रिया की राजनीतिक भूल और बिस्मार्क की बड़ी कूटनीतिक विजय थी। हाल्सटाइन यद्यपि आस्ट्रिया को मिला लेकिन इसकी अधिकांश जनसंख्या जर्मन थी। वह जर्मन राज्यों के अधिक नजदीक था। वहाँ पर विद्रोह की भावना भड़कने के अधिक अवसर थे। बिस्मार्क का कहना था कि यह गेस्टाइन मात्र कागज द्वारा दरार ढकने जैसा दिखाई देता है। बिस्मार्क ने आस्ट्रिया के साथ हाल्सटाइन के आगामी प्रश्न पर युद्ध की पृष्ठभूमि तैयार कर दी।

2. प्राग की संधि – बिस्मार्क जानता था और चाहता था कि गेस्टाइन समझौता ही आस्ट्रिया से युद्ध का आधार बने। इसलिए उसने कूटनीति का परिचय देते हुए हाल्सटाइन

चित्र–4.21 : तत्कालीन जर्मनी का मानचित्र

रियासत आस्ट्रिया को दे दी थी।

बिस्मार्क ने एक ओर तो युद्ध की तैयारी आरम्भ कर दी दूसरी ओर कूटनीति के माध्यम से आस्ट्रिया को यूरोपियन राष्ट्रों से सहायता नहीं मिले इस योजना को अमल में लाने के प्रयास प्रारम्भ कर दिये। इस कार्य में उसे अन्तर्राष्ट्रीय अनुकूल वातावरण भी मिला। इग्लैण्ड यूरोपीय राष्ट्रों में हस्तक्षेप नहीं करने की नीति पर चल रहा था इसलिए आस्ट्रिया को उससे सहायता मिलने की आशा नहीं थी। दूसरी ओर पोलैण्ड के विद्रोह मे रूस की मदद कर बिस्मार्क ने जर्मनी के पक्ष में रूस की सहानुभूति प्राप्त कर ली थी। 1865 ई. में बियारिट्स में हुई बिस्मार्क एवं नेपोलियन तृतीय की मुलाकात में फ्रांस के तटस्थ होने का वादा बिस्मार्क ने ले लिया था, उसके बदले राइन प्रदेश के कुछ भाग फ्रांस को दिए जाने थे।

उधर इटली के एकीकरण में आस्ट्रिया भी बाधक बन रहा था। दुश्मन का दुश्मन मित्र की नीति पर काम करते हुए 1866 ई. में प्रशा और सार्डीनिया में समझौता हुआ। आस्ट्रिया के विरूद्ध युद्ध छेड़ने पर प्रशा सार्डीनिया को वेनेशिया दिलवा देगा ऐसा वचन दिया गया।

एक ओर हाल्सटाइन की जर्मन जनता आस्ट्रिया के विरूद्ध आन्दोलन कर रही थी, जिसे बिस्मार्क गुप्त रूप से समर्थन दे रहा था। दूसरी ओर आस्ट्रिया हाल्सटाइन में ड्यूक ऑफ आगस्टन वर्ग के पक्ष में चल रहे आन्दोलन को प्रोत्साहित कर रहा था।

इसी मुद्दे पर आस्ट्रिया व प्रशा में 3 जुलाई 1866 ईस्वी को सेडोवा या कोनीग्राज में निर्णायक युद्ध हुआ। आस्ट्रिया पराजित हुआ। प्रशा ने आस्ट्रिया जैसे देश को सात सप्ताह में ही पराजित कर दिया था। प्रशा सम्राट विलियम प्रथम तो आस्ट्रिया की राजधानी वियना पर अधिकार करना चाहता था मगर बिस्मार्क जानता था कि आस्ट्रिया युद्ध में पराजित जरूर हुआ है लेकिन शक्तिहीन नहीं। आगे चलकर आस्ट्रिया अपनी हार का बदला जरूर लेता इसलिए बिस्मार्क ने कहा था कि युद्ध का निर्णय हो गया है और अब आस्ट्रिया हमारा मित्र है। दोनों के मध्य 23 अगस्त 1866 ईस्वी को प्राग की संधि हुई जिसमें–

1. जर्मन परिसंघ समाप्त कर दिया गया।
2. हनोबर्ग, श्लेसविग, हाल्सटाइन इत्यादि रियासतें प्रशा में शामिल हुई।
3. प्रशा के नेतृत्व में उत्तरी जर्मनी परिसंघ बनाया गया। उसमें आस्ट्रिया को शामिल नहीं किया गया।

प्रभाव –

इस युद्ध का सर्वाधिक प्रभाव फ्रांस पर पड़ा। यह कूटनीतिक मंच पर आस्ट्रिया की नहीं फ्रांस की हार थी। यूरोपीय रंगमंच पर नेपोलियन तृतीय के प्रभाव क्षेत्र में कमी आई।

इस युद्ध ने आस्ट्रिया के प्रति सम्मान में कमी कर दी। बिस्मार्क की तलवार की नीति यूरोपीय राष्ट्रों के समक्ष भय के रूप में सामने आई, परिणामस्वरूप उदारवाद को धक्का लगा।

3.फ्रेको–प्रशियन युद्ध एवं फ्रेंकफर्ट की संधि –

सेडोवा के युद्ध में फ्रांस तटस्थ रहने पर भी राइन नदी तक का क्षेत्र जर्मनी से प्राप्त करने में असफल रहा था। इससे फ्रांस की अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा को ठेस पहुँची। पहले यूरोपीय राजनीति का केन्द्र फ्रांस था वह अब जर्मनी हो चुका था। उधर नेपोलियन तृतीय की देश में साख गिरती जा रही थी। नेपोलियन तृतीय ने हॉलैण्ड से लक्जमबर्ग खरीदने का प्रस्ताव रखा था। जर्मनी के राष्ट्रवादियों, समाचारपत्रों एवं राजनीतिज्ञों ने इसका तीव्र विरोध किया। इस विरोध के चलते हॉलैण्ड ने लक्जमबर्ग फ्रांस को देने से इन्कार कर दिया।

दूसरा तनावपूर्ण प्रश्न स्पेन की राजगद्दी को लेकर हुआ। स्पेन की गद्दी पर प्रशा के शासक के सम्बन्धी राजकुमार लियोपोल्ड को बैठाने का आमंत्रण मिला। इससे प्रशा के प्रतिष्ठा व अधिकार में वृद्धि होना स्वाभाविक था। दूसरी ओर फ्रांस में इस निर्णय का तीव्र विरोध हुआ। लियोपोल्ड को स्पेन की गद्दी मिलने से प्रशा की शक्ति बढ़ना तथा फ्रांस की सुरक्षा को भयंकर खतरा होना दिखाई दे रहा था। फ्रांस के राजदूत ने एम्स नामक स्थान पर सम्राट विलियम से मिलकर लियोपोल्ड को स्पेन के सिंहासन पर नहीं बैठने के लिए मना लिया। फ्रांसिसी राजदूत ने सम्राट विलियम से भविष्य में ऐसा नहीं करने के लिए ही वचन मांगा। इस बातचीत का लिखित विवरण तार द्वारा बिस्मार्क को मिल गया। बिस्मार्क ने कूटनीति का परिचय देते हुए उस पत्र को प्रकाशित करवा दिया। उसका वही प्रभाव हुआ जो वह चाहता था। फ्रांस व प्रशा दोनों ने इस पत्र को अपने–अपने अनुसार स्वयं का अपमान माना।

15 जुलाई 1870 ई. को फ्रांस व प्रशा के मध्य युद्ध प्रारम्भ हो गया। निर्णायक युद्ध सेडान में 1 सितम्बर 1870 ईस्वी को हुआ। इसमें प्रशा के सेनापति वानमोल्टके ने फ्रांसिसी सेना को

पराजित किया। नेपोलियन तृतीय ने स्वयं 83000 सेना सहित आत्मसमर्पण कर दिया। 18 जनवरी 1871 ई. में वर्साय के महल में जर्मनी सम्राट विलियम का राज्याभिषेक किया गया। 26 फरवरी 1871 ईस्वी को फ्रेंकफर्ट की संधि हुई।

परिणाम

1. इस संधि ने जर्मनी का एकीकरण पूर्ण कर प्रशा के नेतृत्व में एक शक्तिशाली राष्ट्र का निर्माण किया।

2 युद्ध पश्चात् संधि में फ्रांस को अल्सास–लारेन जैसे औद्योगिक प्रदेश जर्मनी को सौंपने पड़े। फ्रांस के अल्लास – लारेन जैसे समृद्ध प्रदेश जर्मनी को मिलने से वहाँ भविष्य में तेजी से औद्योगिक प्रगति हुई। जिसके कारण इग्लैण्ड व जर्मनी में उपनिवेशों को लेकर होड़ शुरू हो गई।

3. संधि में हुए फ्रांस के अपमान ने प्रथम विश्व युद्ध की नींव रख दी। हेजन के अनुसार ''1871 ईस्वी के पश्चात् फ्रेंकफर्ट संधि यूरोप का रिसने वाला फोड़ा बन गया।''

4. बिस्मार्क ने जिन गुप्त संधियों की शुरूआत जर्मनी के एकीकरण के लिए की वही अब यूरोप की राजनीति को बदलने जा रही थी। बिस्मार्क के रक्त–लौह की नीति ने उदारवाद पर घातक प्रहार किया। बिस्मार्क ने कुशल राजनीतिज्ञ व कूटनीति के पण्डित के रूप में विश्व में अपनी एक पहचान बना ली।

5. फ्रांस पर 20 करोड़ पौण्ड युद्ध का हर्जाना थोपा गया। यह भी तय हुआ कि जब तक हर्जाने की राशि नहीं चुका दी जाती जर्मन सैनिक उत्तरी फ्रांस में बने रहेंगे। यह फ्रांस का अपमान था।

6. इस युद्ध के कारण रोम पर इटली का अधिकार हो गया। जर्मनी के साथ ही इटली का एकीकरण भी पूर्ण हो गया।

इटली का राजनैतिक एकीकरण

नेपोलियन की विजय ने जिस प्रकार जर्मनी के एकीकरण की आधारशिला तैयार की उसी तरह का प्रभाव इटली के राज्यों पर भी पड़ा। इटली भी राजनैतिक एकीकरण हेतु अग्रसर हुआ। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि नेपोलियन–विजय का प्रभाव इटली व जर्मनी एकीकरण पर जरूर पड़ा था लेकिन उसने विजय यात्रा इन राज्यों के एकीकरण को लेकर नहीं की थी। वह यहाँ गणतंत्र की स्थापना कर यूरोप की राजनीति में कोई विरोधी देश नहीं लाना चाहता था। यह तो विजययात्रा का एक स्वाभाविक परिणाम था।

फ्रांस की क्रांति एवं नेपोलियन की विजय ने वास्तव में राजनीति को आलीशान महलों से बाहर निकाल कर सड़कों पर चर्चा का विषय बना दिया था। रूढ़िवादी विचारों के समर्थकों (राजा, पादरी, कुलीन वर्ग) और प्रगतिशील लोगों में शक्ति संघर्ष तो पहले से ही चला आ रहा था। नेपोलियन ने उसमें शक्ति का संचार कर दिया।

नेपोलियन ने इटली के छोटे–छोटे राज्यों को जीत कर उन्हें तीन भागों में बांट दिया वहाँ गणतंत्र की स्थापना कर जनता को स्वयं की शक्ति की याद दिलाई थी। पूरे इटली में एक समान कानून व्यवस्था लागू कर दी गई। सामन्तवाद की समाप्ति और आन्तरिक व्यापारिक करों से मुक्ति ने आर्थिक एकीकरण की शुरूआत कर दी। फ्रांस की राज्य क्रांति ने इटली की रियासतों को समान अधिकार, मजहबी स्वतंत्रता, प्रेस की स्वाधीनता से परिचित करवा दिया था।

इटली के एकीकरण में प्रमुख बाधाएं

एकीकरण से पूर्व इटली नामक देश पहले कभी नहीं था। यहाँ अलग–अलग राज्यों में अलग–अलग व्यवस्थाएँ विद्यमान थी। आस्ट्रिया के चांसलर के अनुसार "इटली मात्र एक भौगोलिक अभिव्यक्ति थी।" इटली में सामाजिक व रूढ़ीवादी मान्यताएँ अभी भी मजबूती से अपने पैर जमाए हुए थी, अर्थात् वहाँ कुलीन व अभिजात वर्ग मजबूत था। सभी राज्यों की परम्पराएँ रीति–रिवाज भिन्न–भिन्न थे। एक दूसरे से मिलकर रहने की प्रवृत्ति का भी राज्यों में अभाव था। मेटरनिख ने ठीक ही कहा कि –''इटली में एक राज्य दूसरे राज्य के विरूद्ध, एक शहर दूसरे शहर तथा एक परिवार दूसरे परिवार के विरूद्ध था। यहाँ तक कि आदमी, आदमी के विरूद्ध था।''

मेजिनी के शब्दों में ''आठ राज्यों की भिन्न–भिन्न मुद्राएँ हमें एक–दूसरे से अलग करती हैं और परस्पर अजनबी बना देती हैं।''

जर्मनी के समान इटली के एकीकरण में आस्ट्रिया ही प्रमुख प्रतिक्रियावादी शक्ति था। इटली भौगोलिक दृष्टि से भी उत्तरी मध्य व दक्षिणी राज्यों में विभक्त था। उत्तरी राज्यों पर आस्ट्रिया का प्रभाव था। मध्य राज्य पोप के नियन्त्रण में थे तथा दक्षिणी राज्यों में बूर्बो वंश के शासकों का अधिकार था। यूरोप के कैथोलिक समर्थक देश भी पोप की सत्ता को समाप्त करने के विरोधी थे। इटली की राजधानी रोम पोप के सीधे नियन्त्रण में थी। इस पर अधिकार करना सम्पूर्ण कैथोलिक जगत को विरोधी बनाना था। इटली के राज्यों में जन जाग्रति का अभाव था।

इटली के एकीकरण के सम्बंध में वहाँ के राजनीतिज्ञों

चित्र–4.22 : तत्कालीन इटली का मानचित्र

के मत भिन्न–भिन्न थे। कुछ गणतंत्र के समर्थक थे तो कुछ पोप के अधीन संघीय राज्य के समर्थक थे।

जर्मनी के विपरीत इटली में औद्योगिक क्रांति का सूत्रपात नहीं हुआ था, न ही वहाँ आधारभूत उद्योगों की सम्भावना थी, जिससे कि व्यापारिक और मध्यम वर्ग तथा जनता इटली के एकीकरण में अपना लाभ देखती।

इटली के एकीकरण में सहायक प्रमुख संगठन एवं व्यक्ति

1. कार्बोनरी – इस गुप्त संस्था की स्थापना 1810 ई. में नेपल्स में हुई थी। इस संस्था का मुख्य उद्देश्य विदेशियों को बाहर निकाल कर इटली में वैधानिक स्वतंत्रता की स्थापना करना था। वैसे इस संस्था के निश्चित उद्देश्य नहीं थे। प्रभावशाली नेतृत्व और निश्चित उद्देश्य के अभाव में यह संस्था विफल हो गई थी।

2. युवा इटली – यंग इटली की स्थापना मेजिनी द्वारा 1831 ई. में की गई थी। शीघ्र ही इस संस्था ने कार्बोनरी संस्था का स्थान ले लिया। मेजिनी इटली के युवकों पर विश्वास करता था। उसका कहना था कि यदि समाज में क्रांति लानी है तो नेतृत्व नवयुवकों के हाथ में दे दो उनके हृदय में असीम शक्ति छिपी होती है। इस संस्था के तीन नारे थे – परमात्मा में विश्वास रखो, सब भाइयों एक हो जाओ और इटली को स्वतन्त्र करो। मेजिनी को इटली के एकीकरण का मस्तिष्क व आध्यात्मिक शक्ति माना जाता है। इस संस्था ने इटली के निवासियों में देश भक्ति, संघर्ष, त्याग, बलिदान और स्वतंत्रता की भावना भर दी। मेजिनी गणतंत्रीय विचारों और क्रांतिकारी साधनों का पोषक था।

मैजिनी ने इटली की जनता का आह्वान करते हुए कहा कि "संयुक्त इटली के आदर्श को छोड़कर अन्य किसी चीज के पीछे मत दौड़ो। इटली एक राष्ट्र है, एक राष्ट्र बनकर रहेगा।"

मैजिनी देशभक्तों की दृष्टि में देवदूत था जो इटली

के भविष्य को निर्मित करने आया था।

3. काउण्ट कावूर (1810 –1861 ईस्वी) – कावूर का जन्म 1810 ईस्वी में ट्यूरिन (सार्डीनिया) के एक कुलीन परिवार में हुआ था। उसने सेना में इंजीनियर की नौकरी की थी। वह उदारवादी विचारों का समर्थक था। साथ ही इग्लैण्ड यात्रा के दौरान उसे संसदीय प्रणाली का अध्ययन करने का मौका मिला।

इटली के एकीकरण को वह पीडमाण्ट प्रान्त के सेवाय राजवंश के माध्यम से पूर्ण करना चाहता था। इसी दिशा में उसने अपने विचारों के प्रचार प्रसार के लिए ''इल रिसर्जिमेण्टों'' नामक समाचार–पत्र निकाला था। सन् 1852 ईस्वी में विक्टर इमेनुअल द्वारा उसे प्रधानमंत्री नियुक्त किया गया। कावूर एक व्यवहारिक, कूटनीतिज्ञ, राजनीतिज्ञ एवं राजतंत्र समर्थक व्यक्ति था। वह इटली की शक्ति व सामर्थ्य से भली–भांति परिचित था। इसी कारण वह इटली के एकीकरण के प्रश्न का अन्तरराष्ट्रीय–करण करना चाहता था। कावूर की आन्तरिक नीति, सुधारों और विदेश नीति ने इटली का एकीकरण पूर्ण कर यूरोप पटल पर एक नया इतिहास व भूगोल बना दिया।

चित्र–4.23 : कावूर

कावूर द्वारा इटली के प्रान्तों में किये गये आन्तरिक सुधार :–

1. बंजर भूमि को कृषि योग्य भूमि में बदला एवं किसानों को ऋण के रूप में सहायता दी गई।

2. मुक्त व्यापार नीति के तहत पड़ौसी राज्यों से सन्धियाँ कर विकास को गति दी गई।

3. यातायात के साधनों का विकास कर व्यापार को बढ़ावा दिया। इस प्रकार लोगों को आपस में मिलने का मौका दे विचारों के आदान प्रदान का अवसर दिया।

4. चर्च पर नियन्त्रण के प्रयास किए गए।

5. सैनिक रणनीति के तहत सेना में सुधार कर सीमावर्ती क्षेत्रों में किलेबन्दी की गई।

6. बैंकों और सहकारी समितियों की स्थापना की गई।

इस प्रकार उसने पीण्डमांट जैसे छोटे राज्य को आदर्श राज्य के रूप में स्थापित कर दिया।

कावूर का योगदान

कावूर वह व्यक्ति था जिसके बिना मेजिनी का आदर्शवाद और गेरीबाल्डी की वीरता निरर्थक होती। कावूर जानता था कि बिना विदेशी सहायता के इटली कभी स्वतंत्र नहीं हो सकता। वह उदार राजतंत्र का समर्थक था। कावूर का मानना था कि –

1. पीण्डमांट सार्डिनिया ही इटली का एकीकरण करने में समर्थ है
2. आस्ट्रिया एकीकरण में सबसे बड़ा बाधक है।
3. विदेशी सहयोग के बिना आस्ट्रिया को इटली से बाहर नहीं किया जा सकता।

कावूर यथार्थवादी व्यवहारिक राजनीति में विश्वास करता था। वह इटली के प्रश्न का अन्तर्राष्ट्रीयकरण करना चाहता था, ताकि विदेशी शक्तियों की सक्रिय मदद एवं सहानुभूति हासिल की जा सके। उस समय यूरोपीय पटल पर इंग्लैण्ड और फ्रांस ही शक्तिशाली राष्ट्र थे। इंग्लैण्ड यूरोपीय देशो में हस्तक्षेप नहीं करने की नीति पर कार्य कर रहा था। उससे मदद की आशा नहीं थी।

फ्रांस की क्रांति और नेपोलियन की विजय का महत्त्वपूर्ण योगदान इटली के एकीकरण में रहा है। राष्ट्रीयता की भावना जो फ्रांस से बही उसी ने इटली को एक राष्ट्र के रूप में एकीकृत होने को प्रेरित किया।

फ्रांस का शासक इटली के एकीकरण के प्रश्न पर इटली से सहानुभूति रखता था। अतः कावूर इसी दिशा में आगे बढ़ना चाहता था। इसी दिशा में उसने क्रीमिया के युद्ध (1854 ईस्वी) में रूस के विरूद्ध इग्लैण्ड और फ्रांस की सेना को 18000 सैनिकों की मदद से उनकी सहानुभूति व मित्रता प्राप्त कर ली। यद्यपि इटली के उदारवादियों ने कावूर द्वारा की गई रूस विरूद्ध इस सैनिक सहायता का विरोध किया था। कावूर की इस सैनिक सहायता रुपी जुअे का लाभ युद्ध समाप्ति पश्चात्

पेरिस सम्मेलन (1856 ईस्वी) में मिला। आस्ट्रिया के विरोध के बावजूद सार्डिनिया राज्य को पेरिस में आमंत्रित किया गया। कावूर ने इस सम्मेलन में इटली की दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति के लिए आस्ट्रिया को जिम्मेदार ठहराया। पेरिस सम्मेलन में कावूर ने इटली के प्रश्न पर नैतिक विजय प्राप्त कर ली।

प्लोम्बियर्स समझौता – सम्राट नेपोलियन और कावूर के मध्य सार्डिनिया के निकट प्लोम्बियर्स नामक स्थान पर समझौता हुआ।

1. सार्डिनिया और आस्ट्रिया में युद्ध होने पर फ्रांस 2 लाख सैनिकों की सहायता देगा।

2. फ्रांस की सहायता के बदले नीस व सेवाय के प्रदेश फ्रांस को मिलेंगे।

3. परमा, मोडेना और टस्कनी मिलकर एक नया राज्य बनेगा जिस पर नेपोलियन का भाई प्रिंस जरोम बोनापार्ट राजा बनेगा।

4. नेपल्स, सिसली और पोप के राज्य बने रहेंगे।

5.लोम्बार्डी और वेनेशिया सार्डिनिया को प्राप्त होंगे।

विक्टर इमेन्युअल ने अपनी पुत्री क्लेथिडे का विवाह जरोम नेपोलियन के साथ कर दिया।

इस समझौते के तुरन्त बाद पीण्डमान्ट के समाचार पत्रों ने जहर उगलना शुरू कर दिया। कावूर ने आस्ट्रिया को भड़काने हेतु मस्स व कर्रारा प्रान्तों में विद्रोह करवा दिया। आस्ट्रिया ने वैसी ही प्रतिक्रिया दी जैसी कावूर चाहता था। आस्ट्रिया ने 23 अप्रेल 1859 ईस्वी को तीन दिन का अल्टीमेटम दे दिया। कावूर ने खुशी में कहा कि "हम इतिहास बनाने जा रहे हैं।" 3 मई को फ्रांस ने भी इटली के पक्ष में युद्ध की घोषणा कर दी। युद्ध निर्णायक रहा। आस्ट्रिया की पराजय हुई।

विलाफ्रेंका की विराम संधि (11 जुलाई 1859 ईस्वी) – नेपोलियन तृतीय व आस्ट्रिया के सम्राट फ्रांसिस जोसेफ के मध्य हुई।

1. परमा, मेडोना और टस्कनी को पुनः स्वतंत्र राज्य बना दिया गया। 2. लोम्बार्डी सार्डिनिया को मिला। 3. वेनेशिया आस्ट्रिया को दे दिया गया। 4. पोप के अधीन इटली का संघ बनाया गया।

इस संधि से इटली के लोगों को निराशा हाथ लगी थी। वेनेशिया पर आस्ट्रिया का अधिकार बना रहना इटली के लिए घातक माना गया। इस संधि से कावूर भी अप्रसन्न था। उसने त्यागपत्र तक दे दिया। किन्तु पीण्डमान्ट शासक ने सन्तुलन बनाये रखा। इसका लाभ भी उसे मिला। विलाफ्रेंका की संधि की पुष्टि ज्यूरिख संधि से हो गई। इसी के साथ इटली के एकीकरण का प्रथम चरण पूर्ण हुआ।

मध्य इटली राज्यों में जनमत संग्रह

युद्ध के पश्चात् मध्य इटली के राज्यों ने परमा, मोडेना, टस्कनी, बोलोग्ना और रोमाग्ना में जनता ने विद्रोह कर दिया। वे इटली में समाहित होने को उत्सुक थे। इंग्लैण्ड की अहस्तक्षेप की नीति और इटली के प्रति सहानुभूति इन राज्यों को इटली में एकीकृत होने को प्रोत्साहित कर रही थी। यद्यपि आस्ट्रिया चाहता था कि ज्यूरिख संधि के तहत इन राज्यों में पुराने शासक पुनः स्थापित कर दिए जाएँ। कावूर ने मौके का फायदा उठाते हुए फ्रांस को नीस और सेवाय के प्रदेश देने का वादा करते हुए उसे अपनी ओर मिला लिया। मार्च 1860 ई. में मध्य इटली राज्यों में जनमत संग्रह कराया गया। इसमें परमा, मेडोना, टस्कनी, बोलोग्ना और वियोकेन्जा ने सार्डिनिया और नीस और सेवाय ने फ्रांस के साथ मिलने का मत दिया। नीस व सेवाय फ्रांस को मिलने से गैरीबाल्डी को आघात लगा। इग्लैण्ड की सहानुभूति इटली के साथ थी अतः मध्य इटली के राज्यों में जनमत संग्रह के प्रश्न पर इग्लैण्ड ने फ्रांस के साथ इटली का पक्ष लिया।

4. गैरीबाल्डी –

ज्यूसप गैरीबाल्डी का जन्म नीस नगर में 1807 ई. को हुआ। उसके पिता एक व्यापारिक जहाज में अधिकारी थे। इस कारण गैरीबाल्डी को भूमध्य सागर की यात्राओं का अनुभव हुआ। इन यात्राओं में वह इटली के राष्ट्रभक्तों के सम्पर्क में आया था। गैरीबाल्डी को एक नौसैनिक विद्रोह में भाग लेने पर मृत्यु दण्ड की सजा दी गई थी। लेकिन वह दक्षिणी अमेरिका चला गया। वहाँ उसने छापामार युद्ध का प्रशिक्षण लिया। 1854 ई. में पुनः इटली आने पर उसने केप्रीरा नामक टापू खरीदा। यह वही व्यक्ति था जिसके कारण नेपल्स व सिसली इटली में शामिल हुए थे। वह इटली की तलवार था। उसने ''लाल कुर्ती'' नामक देशभक्तों का एक संगठन बनाया एवं इसके दम पर ही वह सिसली में प्रवेश कर पाया था। गैरीबाल्डी के जीवन में महत्त्वपूर्ण घटना गणतंत्रवादी से राजसत्ता का समर्थक बनना था। दक्षिणी इटली के विलय के समय इग्लैण्ड ने गैरीबाल्डी के स्वयंसेवकों को युद्धपोत से नेपल्स व सिसली पहुंचाने में मदद की।

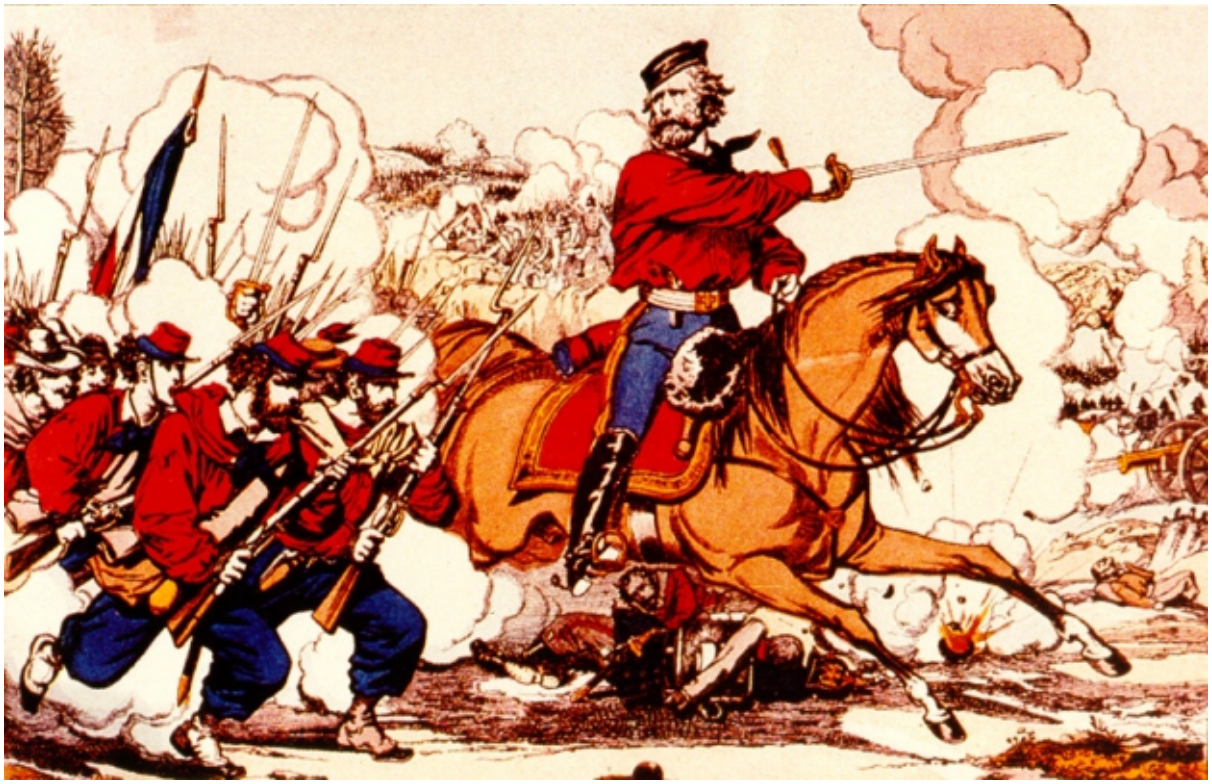

चित्र–4.24 : लाल कुर्ती आन्दोलन (दी थाउजैण्ड)

नेपल्स और सिसली का विद्रोह –

नेपल्स और सिसली में शासक विदेशी था साथ ही वह शासन करने के योग्य भी नहीं था। मैजिनी, फ्रांसिस क्रिस्ची और गैरीबाल्डी ने वहाँ विद्रोह की योजना बना उनका इटली में एकीकरण सफल कर दिया। गैरीबाल्डी ने लगभग 1000 लाल कुर्ती वाले स्वयंसेवकों का दल बना 5 मई 1860 ईस्वी को सिसली पर आक्रमण कर दिया। इंग्लैण्ड द्वारा उन्हें अप्रत्यक्ष रूप से मदद मिली। जनता पहले से ही बूर्बो राजवंश के विरूद्ध थी। गैरीबाल्डी ने विजय प्राप्त कर स्वयं को अधिनायक घोषित कर दिया। उधर कावूर को डर हो गया कि इस अपार सफलता के कारण कहीं गैरीबाल्डी कैथोलिक राज्य रोम पर आक्रमण नहीं कर दे। अन्यथा फ्रांस इटली के विरोध मे उतर जाएगा, जिससे युद्ध लड़ना मुश्किल हो जाता दूसरी ओर उसे गैरीबाल्डी द्वारा राजतंत्र के विपरीत गणतंत्र घोषित करने की आशंका थी। कावूर ने कहा कि उसे इटली की विदेशियों, अनिष्टकारी सिद्धांतों तथा गणतंत्रवादी गैरीबाल्डी से रक्षा करनी है। अतः उसने विक्टर एमेनुअल और गैरीबाल्डी से मुलाकात कर नेपल्स और सिसली को इटली में समाहित करवाने की सहमती ले ली।

रोम और वेनेशिया –

1866 ई. में प्रशा और आस्ट्रिया के मध्य हुए सेडोवा के युद्ध में इटली ने आस्ट्रिया के विरूद्ध प्रशा को सैनिक सहायता देते हुए युद्ध की घोषणा कर दी। 3 जुलाई 1866 ई. को प्रशा ने आस्ट्रिया को पराजित कर दिया। अतः प्रशा और आस्ट्रिया के मध्य हुई प्राग की संधि में इटली को वेनेशिया दिलवा दिया गया।

5. रोम –

रोम में कैथोलिक पंथ सम्राट पोप का शासन था। साथ ही फ्रांस की सेवाएँ इसकी रक्षा के लिए सदैव तत्पर रहती थी। इस कारण रोम पर आक्रमण कर दूसरे कैथोलिक देशों को अपने विरूद्ध करना इटली के वश में नहीं था। इस पर अधिकार का सपना तब पूर्ण हुआ जब अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियाँ फ्रांस के विपरीत साबित हुई। 1870 ई. में प्रशा और फ्रांस के मध्य युद्ध हुआ। इसमें फ्रांस को प्रशा के विरूद्ध सारी ताकत झोंकनी पड़ी। रोम से उसने सेना बुला ली। इसके बावजूद भी उसकी हार हुई। इस मौके का फायदा इटली ने उठाया और रोम पर अधिकार कर लिया। रोम में जनमत संग्रह करवाया गया जिसमें जनमत इटली के पक्ष में रहा। रोम को संयुक्त इटली की राजधानी बनाया गया। 12 जून 1871 ई. को विक्टर इमेन्युअल द्वारा संयुक्त इटली की संसद का उद्घाटन किया गया।

''लॉ ऑफ पेपल गारण्टीज'' (Law of Papal

guarantees) इटली की संसद द्वारा एक कानून पारित कर दिया गया जिसमें पोप के निवास स्थान के आस–पास के क्षेत्र पर पोप की स्वतंत्र सत्ता स्वीकार कर ली गई। अब पोप भी राजदूत नियुक्त कर सकता था उसे एक शासक की स्थिति प्रदान की गई।

मूल्यांकन

जर्मनी व इटली के एकीकरण ने केवल इतिहास ही नहीं रचा बल्कि यूरोप का राजनैतिक मानचित्र भी बदल दिया। वह एक युगान्तरकारी घटना थी। यूरोप की राजनीति का जो केन्द्र पेरिस था उसको चुनौती देने के लिये अब जर्मनी तैयार था।

फ्रांस व आँस्ट्रिया की बनाई गई व्यवस्थाएँ यूरोप में भंग हो चुकी थी तथा अब शेष विश्व में ऐसा होने जा रहा था।

बिस्मार्क की रक्त व लौह की नीति ने यूरोप में शांति व्यवस्था को चोट पहुँचा सैन्यवाद को सर्वोच्च शिखर पर बैठा दिया। बिस्मार्क द्वारा जर्मनी के लोगों में भरी गई जर्मनवाद व सैन्यवाद की भावना ही प्रथम व द्वितीय विश्वयुद्ध का आधार बनी।

बिस्मार्क के कार्य व उद्देश्यों को लेकर इतिहासकारों में भिन्न–भिन्न मत हैं। कुछ उसकी नीतियों को पूर्व नियोजित मानते हैं जैसा डेनमार्क, आस्ट्रिया व फ्रांस के साथ युद्धों की समीक्षा करने पर ज्ञात होता है। जबकि शेष इतिहासकार बिस्मार्क को अवसरवादी मानते हैं जिसने यूरोप तत्कालीन परिस्थितियों का लाभ उठाया व इस सम्बन्ध में स्पेन के उत्तराधिकार के प्रश्न पर घटित घटनाओं का उदाहरण देते हैं जिन पर बिस्मार्क का कोई नियंत्रण नहीं था।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि जर्मनी के एकीकरण के उद्देश्य व योजनाएँ तो पूर्व नियोजित थी साथ ही बिस्मार्क ने यूरोप की राजनीति में उपजी विशिष्ट परिस्थितियों का लाभ उठा उन अवसरों का उचित उपयोग किया। कावूर के विपरीत जर्मनी के एकीकरण के लिए बिस्मार्क के पास न तो मेंजिनी था और न ही गैरीबाल्डी। साथ ही उसे अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर अन्य किसी देश की सहानुभूति भी प्राप्त नहीं थी। उसे आँस्ट्रिया व फ्रांस जैसे शक्तिशाली राष्ट्र से युद्ध लड़ना पड़ा। बिस्मार्क ने जर्मनी के एकीकरण में साहस, शौर्य, दृढ़ निश्चय का परिचय दिया और अपने लक्ष्य को प्राप्त किया।

जर्मनी के एकीकरण में बिस्मार्क के योगदान के विपरीत इटली में मेंजिनी, गैरीबाल्डी, कावूर एवं विक्टर इमेन्युअल का संयुक्त योगदान रहा। प्रशा जैसे शक्तिशाली राज्य ने जिस प्रकार जर्मनी के एकीकरण में मुख्य भूमिका निभाई थी उसके विपरीत इटली के एकीकरण के रथ का सारथी एक पीण्डमाड जैसा छोटा सा राज्य था। कुछ विद्वानों द्वारा तो इटली के एकीकरण को ''ईश्वर का आशीर्वाद'' कह कर भी संबोधित किया जाता है। क्योंकि इटली की जनता शताब्दियों से अलग–अलग रहने व सोचने की आदी थी। साथ ही उनमें एकता व स्वतंत्रता के प्रति उस स्तर की भावना भी नहीं थी कि इटली का एकीकरण हो ही जाए। इटली का एकीकरण कावूर के राजनीतिक कौशल व कूटनीति के चारों ओर ही घूमता है।

अभ्यास प्रश्न

अतिलघुत्तरात्मक प्रश्न

प्रश्न 1. उत्तरी अमेरिका महाद्वीप के मूल निवासियों की प्राचीन सभ्यताएँ कौन – कौन सी थी?

प्रश्न 2. अमेरिका स्वतंत्रता संघर्ष दिवस किस दिनांक को मनाया जाता है?

प्रश्न 3. रूसो द्वारा लिखित पुस्तक का नाम बताइए।

प्रश्न 4. एस्टेट्स जनरल से क्या तात्पर्य है?

प्रश्न 5. पार्लेमा क्या थी?

प्रश्न 6. ''टेनिस कोर्ट की शपथ'' से क्या अभिप्राय है?

प्रश्न 7. कोंकोर्दा की संधि किस–किस के मध्य व कब हुई थी?

प्रश्न 8. ''आर्डर इन कॉन्सिल'' से क्या तात्पर्य है?

प्रश्न 9. जर्मनी के राजनैतिक एकीकरण में चरणबद्ध प्रमुख संधियाँ कौन–कौन सी थी?

प्रश्न 10. युवा इटली का निर्माण कब व किसने किया था?

प्रश्न 11. रक्त और तलवार की नीति से क्या तात्पर्य है?

लघुत्तरात्मक प्रश्न

प्रश्न 1. महाद्वीपीय व्यवस्था से क्या तात्पर्य है?

प्रश्न 2. जर्मनी के राजनैतिक एकीकरण में जॉलवरीन नामक संघ किस प्रकार सहायक सिद्ध हुआ?

प्रश्न 3. "मैं ही क्रांति हूँ" "मैंने क्रांति का अन्त किया है" नेपोलियन द्वारा कहे गये ये कथन कितने सार्थक एवं सत्य हैं?

प्रश्न 4. फ्रांस की क्रांति के समय घटित प्रमुख गणतंत्रवादी

राजनैतिक दलों का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।

प्रश्न 5. अमेरिकी स्वतंत्रता संग्राम के सम्बंध में अपने विचार व्यक्त कीजिए।

प्रश्न 6. अमेरिकी मूल निवासियों की प्रमुख सभ्यता एजटेक का वर्णन कीजिए।

प्रश्न 7. यूरोपवासियों के अमेरिका पहुँचने से पहले अमेरिकी मूल निवासियों पर क्या प्रभाव पड़ा?

प्रश्न 8. नेपोलियन को दूसरा ''जस्टीवियन'' क्यों कहा जाता है?

प्रश्न 9. इटली के एकीकरण में सहायक प्रमुख संगठनों का वर्णन कीजिए।

प्रश्न 10. "लाल कुर्ती दल" से क्या तात्पर्य है?

प्रश्न 11. किन–किन कारणों से प्रेरित होकर अमेरिकी उपनिवेशवादी लोग मातृदेश इग्लैण्ड के विरूद्ध संघर्ष हेतु एक हुए? संक्षिप्त वर्णन कीजिए।

दीर्घउत्तरात्मक प्रश्न

प्रश्न 1. इटली के एकीकरण में कावूर के योगदान को विस्तारपूर्वक समझाइए।

प्रश्न 2. फ्रांसिसी क्रांति का कारण स्पष्ट करते हुए इसके विश्व पर पड़े प्रभाव को स्पष्ट कीजिए?

प्रश्न 3. अमेरिकी संघर्ष अथवा स्वतंत्रता का विश्व पर क्या प्रभाव पड़ा?

प्रश्न 4. यूरोपीय महाद्वीप के देश अन्य देशों के समुद्री मार्गो की खोज के लिए क्यों निकले थे? विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिए।

प्रश्न 5. जर्मनी के एकीकरण में बिस्मार्क के योगदान का विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिए।

इकाई 5

प्रथम विश्व युद्ध

प्रथम विश्व युद्ध मानव इतिहास का अब तक लड़ा गया सबसे विनाशकारी युद्ध था। यह युद्ध 1914 ई. से प्रारम्भ होकर, चार वर्ष तीन माह और 11 दिन तक चला। प्रथम विश्व युद्ध से पूर्व सम्पूर्ण विश्व में यूरोप के राज्यों का वर्चस्व था। संयुक्त राज्य अमेरिका तथा एशिया में जापान का इस समय तक महाशक्ति के रूप में उदय हो चुका था।

पृष्ठभूमि

यूरोप में इस समय इंग्लैण्ड सर्वाधिक समृद्ध तथा शक्तिशाली राष्ट्र था। विश्व की सर्वश्रेष्ठ नौसेना उसके पास थी। इंग्लैण्ड का औपनिवेशिक साम्राज्य विशाल तथा विश्व के प्रत्येक भाग में स्थित था। उसकी रुचि यूरोप की आंतरिक राजनीति में न होकर अपने आर्थिक तथा साम्राज्यवादी हितों की वृद्धि एवं रक्षा में थी। जर्मनी, इंग्लैण्ड का प्रमुख प्रतिद्वन्द्वी था। उसकी थल सेना विश्व में सर्वश्रेष्ठ थी। जर्मनी औद्योगिक एवं आर्थिक दृष्टि से शक्तिशाली राष्ट्र बन चुका था, किन्तु उपनिवेशों की संख्या उसके पास कम थी। जर्मनी यूरोप के मध्य में स्थित था, विलियम द्वितीय के नेतृत्व में वह यूरोप का अधिनायक बनना चाहता था। उसने 'श्लेफिन योजना' बनाई थी जिसके अन्तर्गत फ्रांस और रूस पर निर्णायक और तीव्र गति से आक्रमण करना निहित था।

रूस क्षेत्रफल की दृष्टि से यूरोप का सबसे बड़ा राज्य था। यहां निरंकुश राजतंत्र था। रूसी राज्य में गैर रूसी जातियां बड़ी संख्या में थी। रूस की रूचि बाल्कन प्रदेश में थी, जहां बड़ी संख्या में उसके स्वजातीय स्लाव थे। रूस आटोमन साम्राज्य को विभाजित कर वृहद स्लाव राज्य की स्थापना करना चाहता था। आस्ट्रिया बाल्कन में रूस का सबसे बड़ा विरोधी था। फ्रांस 1870 में जर्मनी से हुई पराजय का बदला लेना चाहता था। फ्रांस इस युद्ध में जर्मनी द्वारा छीने गये आल्सेस तथा लारेन के प्रदेश वापस लेकर अपने अतीत के गौरव को प्राप्त करने की इच्छा रखता था। इस समय तक एशिया, अफ्रीका में यूरोप के विभिन्न देशों के उपनिवेश स्थापित हो चुके थे। एशिया में भारत, लंका, वर्मा, मलाया पर इंग्लैण्ड का नियन्त्रण था। फारस अफगानिस्तान, तिब्बत, नेपाल तथा मध्य पूर्व इंग्लैण्ड के प्रभाव क्षेत्र में थे। हिन्द चीन तथा इण्डोनेशिया, फ्रांस के अधीन थे। चीन को विभिन्न यूरोपीय शक्तियों तथा जापान ने आपस में बांट रखा था। अफ्रीका में इंग्लैण्ड, फ्रांस, जर्मनी, इटली, पुर्तगाल, स्पेन आदि देशों के उपनिवेश स्थापित हो चुके थे।

एशिया और अफ्रीका के उपनिवेशों के नियंत्रण के प्रश्न पर इनमें अत्यधिक प्रतिस्पर्धा उत्पन्न हो गई। आपसी अविश्वास व शत्रुता इतनी बढ़ जाने के परिणाम स्वरूप इनमें समझौता संभव नहीं था। उन्होंने पूरे विश्व को युद्ध में झोंक दिया। वैसे प्रथम विश्व युद्ध एकदम से शुरू नहीं हो गया बल्कि कई कारणों और घटनाओं के एक सिलसिले का परिणाम था जो 1914 के काफी पहले से चल रहा था। इस युद्ध में लगभग विश्व के अधिकांश राष्ट्र प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सम्मिलित हो गये थे।

प्रथम विश्व युद्ध के कारण

1914 ई. में प्रथम विश्व युद्ध का आरंभ होने का तत्कालीन कारण आस्ट्रिया के युवराज फर्डीनेण्ड की हत्या होना था। किन्तु यह कोई आकस्मिक घटना नहीं थी। इसकी पृष्ठभूमि 1870 से 1914 ई. तक साम्राज्यवादी राष्ट्रों के स्वार्थों, नीतियों तथा घटनाओं द्वारा तैयार हो चुकी थी। पिछले कई वर्षों से ऐसे अनेक कारण यूरोप में एकत्रित होते जा रहे थे जिनकी वजह से किसी भी एक देश या वर्ग को उत्तरदायी नहीं कहा जा सकता था। विभिन्न विरोधी परिस्थितियों के मिलने से कोई भी चिनगारी प्रचण्ड अग्नि का रूप धारण करने की क्षमता रखती थी, और प्रथम विश्व युद्ध के समय ऐसा ही हुआ। 1891 ई. में बिस्मार्क ने कहा था ''मैं विश्व युद्ध को नहीं देखूंगा, परन्तु तुम देखोगे और उसका प्रारंभ पूर्व से होगा''।

1. उग्र राष्ट्रवाद :—राष्ट्रवाद की भावना फ्रांसीसी क्रांति की देन थी। जर्मनी और इटली का एकीकरण राष्ट्रवाद की भावना का प्रतिफल था। लेकिन 19वीं शताब्दी के अंत में राष्ट्रवाद की इस भावना ने उग्र रूप धारण कर लिया। प्रत्येक राष्ट्र अपने विस्तार, सम्मान तथा गौरव की वृद्धि तथा अन्य देशों को नष्ट करने को उद्यत हो उठे। फ्रांस आल्सेस तथा लारेन पाना चाहता था तो राष्ट्रवाद की भावना से प्रेरित पोल, चेक, सर्ब, बल्गर आदि जातियां आस्ट्रिया से स्वतंत्र होना चाहती थी। जर्मन सम्राट कैसर विलियम को विश्व राजनीति तथा विश्व साम्राज्य का स्वप्न दिखाई दे रहा था। उसे विश्वास था कि जर्मनी का वैभव तो साम्राज्य विस्तार में निहित है। जब कि फ्रांस, जर्मनी से प्रतिशोध लेने के लिये अवसर की तलाश में था। कभी भी प्रतिशोधात्मक युद्ध भड़कने का भय था। देशभक्ति की उग्रभावना शांति विरोधी थी। वे यह मानते थे कि समस्या का हल केवल युद्ध से ही निकल सकता है।

2. इंग्लैण्ड व जर्मनी के बीच साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्धा :—उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में जर्मनी ने तीव्र आर्थिक व औद्योगिक प्रगति की और इंग्लैण्ड व फ्रांस को औद्योगिक उत्पादन में पीछे छोड़ दिया। साम्राज्यवाद की दौड़ में अपने मुख्य प्रतिद्वन्द्वी इंग्लैण्ड़ के मुकाबले में जर्मनी उतने ही उपनिवेश प्राप्त करना चाहता था जितने इंग्लैण्ड के पास थे ताकि वह अपनी आर्थिक आवश्यकतायें पूरी कर सके। ब्रिटिश नौसेनिक शक्ति को भी तब झटका लगा जब जर्मनी ने एक बड़ा युद्धपोत इम्परेटर बना लिया। जर्मनी ने कील नहर का निर्माण कर इंग्लैण्ड की तटरेखा के लिये खतरा पैदा कर दिया। बर्लिन को बगदाद से जोड़ने वाली रेल्वे लाइन का निर्माण भी जर्मनी ने कर लिया। इस तरह पूर्व में जर्मनी को सेना या सामान भेजना आसान हो गया। जिससे ब्रिटेन के पूर्व में उपनिवेशों पर खतरा बढ़ गया।

3. जर्मनी व फ्रांस के बीच प्रतिस्पर्धा :— 1871 के युद्ध में जर्मनी ने फ्रांस को हरा दिया। अपने दो उपजाऊ और औद्योगिक क्षेत्र आल्सेस व लारेन जर्मनी को देने पड़े। फ्रांस इस अपमान को भूल न सका व इसका बदला लेने के लिये अवसर की तलाश में रहा। फ्रांस व जर्मनी के हित भी उत्तरी अफ्रीका में मोरक्को को लेकर भी टकराते थे। वर्ष 1904 में फ्रांस और ब्रिटेन ने एक गुप्त संधि कर ली जिसके अनुसार फ्रांस को मोरक्को में तथा ब्रिटेन को मिश्र में मनमानी करने की छूट मिल गई। जर्मनी को इस समझौते से अलग रखने के कारण जर्मनी ने मोरक्को को फ्रांस के विरूद्ध भड़काया। युद्ध के बादल तभी छंटे जब फ्रांस ने मध्य अफ्रीका स्थित फ्रांसीसी उपनिवेश कांगो को जर्मनी को देना स्वीकार कर लिया।

4. गुटों का निर्माण :— संघर्ष व टकराव ने साम्राज्यवादी शक्तियों को मित्र बनाने हेतु खोज में लगा दिया ताकि भविष्य में युद्ध में उनकी सहायता ले सकें। 1882 में जर्मनी, आस्ट्रिया व इटली ने त्रिगुट की स्थापना की कि यदि प्रतिद्वंद्वी शक्ति के साथ युद्ध हुआ तो वह आपस में सैनिक सहायता करेंगे। इंग्लैण्ड, रूस व फ्रांस ने त्रिदेशीय संधि 1907 में की। परस्पर विरोधी गुटों के निर्माण से यूरोप दो खेमों में बंट गया। जिससे यूरोपीय राष्ट्रों में तनाव व प्रतिद्वंद्विता बढ़ गई। इन देशों में हथियारों व अस्त्र—शस्त्रों की होड़ लग गई। आपसी घृणा व शक ने शांति के वातावरण को भंग कर दिया। प्रत्येक गुट ने युद्ध का प्रचार किया। अब यह स्पष्ट था कि यदि युद्ध प्रारम्भ हुआ तो पूरा यूरोप ही इस युद्ध में धकेला जायेगा।

5. सर्व—स्लाव आंदोलन तथा बाल्कन राजनीति :— यूरोप का पूर्वी क्षेत्र बाल्कन क्षेत्र के नाम से जाना जाता है। इस क्षेत्र में स्थित कई राज्य जैसे यूनान, रोमानिया, बुल्गारिया, सर्बिया, मोण्टेनेग्रो तथा अन्य कई छोटे राज्य आटोमन साम्राज्य (तुर्की) के शासक के अधीन थे। 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ में आटोमन शक्तिहीन होने लगा। आस्ट्रिया तथा रूस के कई राज्यों में स्लाव रहते थे जो मूल रूप से रूसी जाति के थे। उन्होंने रूस के समर्थन से एक राष्ट्रीय आंदोलन छेड़ दिया जिसे सर्वस्लाव आंदोलन कहते हैं। जिसका उद्देश्य स्लाव बहुल सर्बिया राज्य को स्वतंत्र कराना था। इस आंदोलन को जहां रूस समर्थन कर रहा था वहीं आस्ट्रिया विरोध कर रहा था। इस से रूस व आस्ट्रिया के बीच प्रतिस्पर्धा उत्पन्न हो गयी। 1908 में आस्ट्रिया ने स्लाव राज्यों बोस्निया तथा हर्जेगोविना को अपने अधिकार क्षेत्र में कर लिया। जिससे आस्ट्रिया तथा सर्बिया एक दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी बन गये।

6. कूटनीतिक संधियाः— यूरोप में इटली और जर्मनी के एकीकरण ने ऐसे युग का सूत्रपात किया जो गुप्त संधियों का युग था। बिस्मार्क को इन गुप्त संधियों का जन्मदाता कहा जाये

तो अतिश्योक्ति नहीं होगी। बिस्मार्क ने विभिन्न राष्ट्रों को विभाजित और यूरोपीय राजनीति में गुप्त संधियों के माध्यम से अकेला रखा। बिस्मार्क ने फ्रांस को पराजित करने के बाद जर्मनी की सुरक्षा के लिये आस्ट्रिया तथा इटली से गुप्त संधियों के माध्यम से त्रिगुट का निर्माण किया। फ्रांस ने भी अपनी सुरक्षा की चिंता में रूस और इंग्लैण्ड से मैत्री कर ''ट्रिपल एंतात'' का गठन किया। इस ट्रिपल एंतात का 1914 तक लगातार नवीनीकरण होता रहा। परिणाम स्वरूप समस्त यूरोप में आपसी संदेह और मंत्रणाओं का दौर चलने लगा। निरंतर असुरक्षा और भय ने अफवाहों और युद्ध की सरगर्मियों को बढ़ावा दिया।

7. व्यापारिक तथा औपनिवेशिक प्रतिस्पर्धाः– उपनिवेश स्थापित करने तथा अपने राष्ट्रों की उत्पादित वस्तुओं की खपत के लिये उपनिवेशों में व्यापार के प्रसार हेतु यूरोपीय राष्ट्रों में आपसी होड़ इस युद्ध का प्रमुख कारण थी। 19वीं सदी के उत्तरार्ध तक इंग्लैण्ड, फ्रांस, जर्मनी, इटली, जापान तथा अमेरिका का तेजी से औद्योगिक विकास आरंभ हुआ। इसके साथ ही कच्चे माल की आपूर्ति तथा उत्पादित माल के लिये नवीन बाजारों की आवश्यकता हुई। बढ़ती जनसंख्या तथा सैनिक आवश्यकताओं ने भी उपनिवेश स्थापना हेतु प्रेरित किया। इस प्रतिस्पर्धा में सबसे अधिक क्षेत्र इंग्लैण्ड और फ्रांस को प्राप्त हुआ। जर्मनी इस में पीछे रह गया। 1890ई. के बाद उसने उपनिवेश प्राप्ति के प्रयास आरंभ किये। जिससे इंग्लैण्ड तथा फ्रांस उसके शत्रु हो गये। रूस तथा आस्ट्रिया ने बाल्कन प्रदेश में प्रभाव बढ़ाना आरंभ कर दिया। इटली भी उपनिवेशों के लिये लालायित था। उपनिवेश प्राप्ति की इस स्पर्धा ने परस्पर घृणा तथा अविश्वास को बढ़ाया।

8. समाचार पत्रों की भूमिकाः– समाचार पत्र अपने देश की विचारधारा का प्रतिनिधित्व अवश्य करते हैं और जनमत को प्रभावित करने में उनका बड़ा योगदान रहता है। इस समय में सभी देशों के समाचार पत्रों ने उग्र राष्ट्रवाद की भावना से प्रेरित होकर बहुत सी घटनाओं को इस प्रकार से प्रस्तुत किया, जिससे कि जनता में उत्तेजना बढ़ी और शांतिपूर्ण ढ़ंग से समझौता करना कठिन हो गया। जब ब्रिटेन के समाचार–पत्रों में जर्मन सम्राट विलियम द्वितीय की नीतियों की आलोचना की गई, तो जर्मनी की जनता इंग्लैण्ड को अपना शत्रु समझने लगी। इसी प्रकार जर्मन समाचार पत्रों ने भी इंग्लैण्ड की जनता को उकसाया। फ्रांस और जर्मनी के सम्बन्ध भी समाचार पत्रों के कारण बिगड़े। फर्डीनेण्ड की हत्या के पश्चात् सर्बिया और आस्ट्रिया के समाचार पत्रों में एक दूसरे के विरूद्ध जो कटुतापूर्ण लेख लिखे गये, उससे दोनों देशों की जनता में रोष उत्पन्न होना स्वाभाविक ही था। इस प्रकार कहा जा सकता है कि यूरोपीय देशों के समाचार पत्रों ने युद्ध को भड़काने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। युद्ध की परिस्थितियों को तभी संभाला जा सकता था, जब प्रेस की स्वतंत्रता पर कोई नियंत्रण होता। वस्तुतः अनियंत्रित प्रेस भी प्रथम विश्वयुद्ध का एक महत्वपूर्ण कारण था।

9. अन्तर्राष्ट्रीय अराजकताः– 20वीं सदी के प्रथम दशक मे ही यूरोप में अशांति एवं अराजकता की स्थिति उत्पन्न हो चुकी थी। शक्तिशाली देश छोटे–छोटे राज्यों को बांटकर अपने स्वार्थो की पूर्ति करने में लगे थे। 1900 ई. के पश्चात् ऐसी घटनायें घटित हुई, जिनके कारण अन्तर्राष्ट्रीय तनाव बना रहा।

रूस–जापान युद्ध (1904–05) ने भी यूरोपीय राजनीति को प्रभावित किया। रूस की पराजय के कारण उसकी दुर्बलता से लाभ उठाने के लिये जर्मनी ने मोरक्को में फ्रांस को चुनौती दी और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में गंभीर स्थिति उत्पन्न कर दी। इसके अतिरिक्त जब रूस को सुदूर–पूर्व में साम्राज्य विस्तार का अवसर नहीं मिला, तो उसने बाल्कन–प्रदेशों में अनुचित हस्तक्षेप करना आरंभ कर दिया।

वर्ष 1911 में फेज के विद्रोह को दबाने के लिये तथा यूरोपियन लोगों के जनजीवन की रक्षा करने के लिये फ्रांस ने वहां अपनी सेना भेज दी, तो इस पर जर्मनी ने इसका विरोध किया और अपना 'पेंथर' नामक युद्ध पोत अगादियर के बंदरगाह पर भेज दिया। इससे अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध का खतरा बढ़ गया। इंग्लैण्ड की चेतावनी के कारण जर्मनी को झुकना पड़ा तथा फ्रांसीसी कॉगो का बहुत–सा भाग जर्मनी को देना पड़ा। इस घटना से इंग्लैण्ड और जर्मनी के सम्बन्धों में और अधिक कटुता उत्पन्न हुई। वर्ष 1908–09 ई. में आस्ट्रिया द्वारा बोस्निया–हर्जेगोविना को अपने साम्राज्य में मिलाने से एक गंभीर संकट उत्पन्न हो गया। रूस और आस्ट्रिया तथा इटली

यूरोप–1914

और आस्ट्रिया के आपसी सम्बन्ध इसी कारण बिगड़ गये।

वर्ष 1912–13 ई. के बाल्कन युद्धों ने भी अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण को अत्यधिक तनावपूर्ण बना दिया इन युद्धों के कारण सैन्यवाद और शस्त्रीकरण की दौड़ और तेज हो गई। बल्गेरिया सबसे अधिक असंतुष्ट राज्य था क्योंकि सर्विया, यूनान आदि राज्यों ने उससे बहुत सा भू–भाग छीन लिया था। इन बाल्कन युद्धों के महत्व के कारण ही ग्राण्ट एवं टेम्परले ने लिखा है कि ''1914ई. के महायुद्ध के लिये कोई घटना इतनी उत्तरदायी नहीं, जितने कि बाल्कन युद्ध।''

युद्ध का तात्कालिक कारणः–आस्ट्रिया और सर्बिया के सम्बन्ध 1908 ई. से ही बिगड़े हुये थे जो 1914 ई. तक अपनी चरम सीमा पर पहुंच गये। सर्बिया के कुछ उग्रराष्ट्रवादियों ने सर्वस्लाव आन्दोलन के प्रभाव में आकर स्लावों की मुक्ति के लिये अनेक गुप्त संस्थायें बनाई थी। इनमें एक संस्था 'काला हाथ' भी थी। इस संस्था ने 'संगठन या मृत्यु' नामक दूसरी संस्था से मिलकर बोस्निया के गवर्नर पोटियोरके की हत्या की योजना बनाई। किन्तु इसी समय उन्हें यह पता चला कि आस्ट्रिया का युवराज फर्डिनेण्ड बोस्निया की सरकारी यात्रा पर आने वाला है, तो उन्होंने युवराज की हत्या का षड्यंत्र रचा। 28 जून 1914 ई. को बोस्निया के प्रमुख शहर सेराजिवो में युवराज फर्डीनेण्ड और उनकी पत्नी की षड्यंत्रकारियों ने गोली मारकर हत्या कर दी। इस घटना ने यूरोप को युद्ध की ज्वाला में झोंक दिया।

इस हत्याकाण्ड की आस्ट्रिया में कड़ी प्रतिक्रिया हुई। हत्यारे सर्व होने के कारण आस्ट्रिया ने सर्बिया को कठोर दण्ड देने का निश्चय किया, किंतु जर्मनी के समर्थन के बिना सर्बिया से युद्ध करने का खतरा नहीं उठा सकता था। अतः आस्ट्रिया के

सम्राट फ्रांसिस ने जर्मन सम्राट को पत्र लिखकर सहयोग का अनुरोध किया, जिसे जर्मनी ने स्वीकार करते हुये आस्ट्रिया को सूचित किया कि सर्बिया के सम्बन्ध में वह जो भी निर्णय करेगा, उसका जर्मनी पूर्ण समर्थन करेगा। जर्मनी का समर्थन पाकर आस्ट्रिया ने 23 जुलाई 1914 को सर्बिया को अल्टीमेटम दिया, जिसमें उसकी शर्तों को 48 घंटे की अवधि में मानने को कहा गया। आस्ट्रिया ने अपनी चेतावनी में सर्बिया पर 1909 ई. के समझौते का उल्लंघन करने तथा आस्ट्रिया विरोधी प्रचार को प्रोत्साहित करने तथा हत्या के बाद षडयंत्रकारियों को यथोचित दण्ड न देने का आरोप लगाया। इन आरोपों के संदर्भ में सर्बिया ने अधिकांश शर्तों को स्वीकार कर लिया परंतु दो शर्तें जिसमें आस्ट्रिया के अधिकारियों द्वारा सर्बिया में जांच–पड़ताल में भाग लेने की मांग भी सम्मिलित थी, मानने से उसकी प्रभुसत्ता और सम्मान को ठेस पहुंचती थी। इन शर्तों के सम्बन्ध में सर्बिया ने हेग के अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय द्वारा जो भी निर्णय हो, उसे स्वीकार करने की बात कही। यूरोप के सभी देशों ने सर्बिया के उत्तर को संतोषजनक माना। किन्तु आस्ट्रिया इस समय तक युद्ध करने का निश्चय कर चुका था। अतः उसने सर्बिया के उत्तर को असंतोषजनक मानकर उसे अस्वीकार कर दिया और 28 जुलाई 1914 को सर्बिया के विरूद्ध युद्ध की घोषणा कर दी।

विश्व युद्ध का आरंभः–

28 जुलाई, 1914 ई. को आस्ट्रिया द्वारा सर्बिया पर आक्रमण किये जाने के साथ ही प्रथम विश्व युद्ध की शुरूआत हो गई अगले दिन जब रूस को सूचना मिली कि आस्ट्रिया ने बेलग्रेड पर बम वर्षा की है, तो रूस की सेना भी लामबंद हो गई। रूस की सेना की लामबंदी के कारण जर्मनी का युद्ध में प्रवेश करना अनिवार्य हो गया। 1 अगस्त, 1914 ई. को जर्मनी ने रूस के विरूद्ध युद्ध की घोषणा कर दी और 3 अगस्त को फ्रांस के विरूद्ध भी युद्ध की घोषणा कर दी। परन्तु एक वर्ष तक इटली तटस्थ बना रहा। जर्मनी की सेनाओं को बेल्जियम द्वारा मार्ग न देने के प्रश्न को लेकर जब जर्मनी और बेल्जियम में तनातनी हुई तो इंग्लैण्ड ने 4 अगस्त 1914 को जर्मनी के विरूद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। इस के साथ ही यूरोप की सभी बड़ी शक्तियों के बीच युद्ध प्रारंभ हो गया। कुछ ही समय पश्चात् यूरोप और एशिया के कुछ अन्य राज्य भी इसमें सम्मिलित हो गये। परिणाम स्वरूप यह युद्ध विश्वव्यापी हो गया।

सम्पूर्ण विश्व, युद्ध के लिये दो प्रमुख गुटों में बट चुका थाः–

1. मित्र राष्ट्र :– मित्र तथा संयुक्त राष्ट्रों में इंग्लैण्ड, फ्रांस, रूस सर्बिया, जापान, पुर्तगाल, इटली, संयुक्त राज्य अमेरिका, रूमानिया, यूनान, श्याम, साइबेरिया, क्यूबा, पनामा, ब्राजील, ग्वाटेमाल आदि थे।

2. धुरी राष्ट्र :– केन्द्रीय शक्तियों में जर्मनी, आस्ट्रिया–हंगरी, बुल्गेरिया और तुर्की मुख्य थे।

युद्ध का उत्तरदायित्वः–

विश्व युद्ध समाप्त हो जाने के पश्चात् शांति सम्मेलन के समय जीते हुये देशों ने 1919 ई. में युद्ध के उत्तरदायित्व का पता लगाने के लिये एक आयोग नियुक्त किया था। इस आयोग ने अपनी रिपोर्ट में जर्मनी तथा उसके मित्र राष्ट्रों को मुख्य रूप से दोषी ठहराया था। किंतु युद्ध के लिए किसी एक देश या गुट को उत्तरदायी मानना उचित नहीं होगा। यदि हम उस समय की 'व्हाइट बुक', 'ब्लयू बुक', 'येलो बुक' आदि को देखें, जिन्हें जर्मनी, इंग्लैण्ड़ रूस और फ्रांस ने प्रकाशित करवाया था, तो भी यह ठीक–ठीक पता नहीं चलता कि वास्तविकता क्या थी क्योंकि प्रत्येक राष्ट्रने युद्ध का उत्तरदायित्व अपने ऊपर न लेकर उसे दूसरों पर थोपा था। परंतु जब हम युद्ध से सम्बन्ध रखने वाले अन्य व्यक्तियों के पत्र, डायरी और संस्मरणों की ओर दृष्टिपात करते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है कि युद्ध का दोष किसी एक राष्ट्र का न था, फिर भी दोष को क्रमबद्ध किया जा सकता है। प्रो. फे. ने स्पष्ट रूप से लिखा है कि ''केवल जर्मनी और उसके मित्रों को युद्ध करने के लिये दोषी ठहराना ऐतिहासिक दृष्टि से उचित नहीं है।'' उन्होंने सभी राज्यों को किसी न किसी रूप में दोषी ठहराया है।

सर्बिया की सरकार ने हत्या के षड्यंत्र की जानकारी होते हुये भी उसको रोकने की प्रभावी कोशिश नहीं की और आस्ट्रिया को भी इसकी जानकारी नहीं दी। बदले की भावना से प्रेरित आस्ट्रिया द्वारा सर्बिया को विश्व मानचित्र से मिटाने का प्रयास अनुचित ही माना जायेगा। लेकिन सबसे अधिक दायित्व जर्मनी का है जिसने आस्ट्रिया को पूर्ण समर्थन दिया। दूसरी ओर रूस को सर्बिया के विनाश की संभावना ने उत्तेजित कर दिया। जर्मनी इस भुलावे में रहा कि यह युद्ध एक 'स्थानीय युद्ध'

ही बना रहेगा। किंतु रूस की सैनिक कार्यवाही से जर्मनी भयभीत हुआ। फ्रांस ने रूस का अनुसरण किया। जिससे युद्ध को अब रोका जाना कठिन हो गया। वास्तव में किसी एक राज्य या पक्ष को युद्ध के लिये दोषी ठहराना संभव नहीं है। इस समय विश्व की सभी शक्तियों ने संसार की शांति की अपेक्षा अपने स्वार्थों एवं महत्वाकांक्षाओं को अधिक महत्व दिया। बेल्जियम को छोड़कर कोई राज्य पूर्णतः निर्दोष नहीं था।

प्रथम विश्वयुद्ध का घटनाक्रमः–

यह युद्ध विश्व के इतिहास में एक अभूतपूर्व युद्ध था, जो चार वर्ष तीन माह ग्यारह दिन तक चला। इसमें करीब 30 राज्यों के लगभग 6 करोड़ 50 लाख सैनिकों ने भाग लिया। इससे पूर्व विश्व के किसी भी युद्ध में इतनी संख्या में सैनिकों ने भाग नहीं लिया था। इस युद्ध में विजेता और पराजित दोनों पक्षों को इसकी भारी कीमत चुकानी पड़ी। युद्ध क्षेत्र में मारे जाने वाले सैनिकों की संख्या लगभग 80 लाख थी और लगभग 2 करोड़ व्यक्ति घायल हुये।

युद्ध के प्रारंभिक 3½ वर्षों तक धुरी राष्ट्रों का पलड़ा भारी रहा। इसी बीच रूस में बोल्शेविकों ने जार के निरंकुश राजतंत्र को उखाड़ कर साम्यवादी सरकार

स्थापित कर ली। इस नयी सरकार ने जर्मनी से 1917 ई. में संधि कर ली। इससे जर्मनी की स्थिति अधिक मजबूत हो गई। मित्र राष्ट्रों की पराजय निकट दिखाई देने लगी। अब जर्मनी ने मित्र राष्ट्रों के जहाज डुबोना शुरू कर दिया।

6 अप्रैल 1917 ई. को अमेरिकी जहाज डुबो देने के कारण अमरीका ने जर्मनी के विरूद्ध युद्ध घोषित कर दिया। अमरीका के युद्ध में प्रवेश करते ही धुरी राष्ट्रों की पराजय आरम्भ हो गई। 29 सितंबर 1918 ई. को जर्मन सम्राट विलियम द्वितीय ने सिहांसन छोड़ दिया तथा नीदरलैण्ड में शरण ले ली। जर्मनी में गणतंत्र स्थापित कर दिया गया। 11 नवम्बर 1918 को प्रातः 11 बजे युद्ध समाप्त हो गया।

1919 का पेरिस शांति सम्मेलनः– प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति पर स्थायी शांति की स्थापना हेतु पेरिस में एक शांति सम्मेलन आयोजित किया गया। इस सम्मेलन में 32 देशों को आमंत्रित किया गया था। वार्ता को गुप्त रखने के लिये चार बड़े राष्ट्रों की परिषद का निर्माण किया गया। इसमें अमेरिका के राष्ट्रपति विल्सन, इंग्लैण्ड के प्रधानमंत्री लायड जार्ज, फ्रांस के प्रधानमंत्री क्लीमेन्शू तथा इटली के प्रधानमंत्री ओरलेण्डो प्रमुख थे। इस परिषद के सदस्यों में सभी अपनी–अपनी विचारधारा, आदर्शों तथ स्वार्थों की दृष्टि से अलग–अलग विचार तथा प्रभाव रखते थे। विल्सन एक आदर्शवादी था, जिसकी दृष्टि मुख्यतः पूर्ण न्याय, लोकतंत्र व राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के सिद्धान्तों तथा राष्ट्रसंघ की प्रतिबद्धता पर थी। जब कि क्लीमेन्शू आदर्शवाद से घृणा करता था। उसके मन में जर्मनी से बदला लेने की उत्कट अभिलाषा थी। वह जर्मनी को इतना कुचल देना चाहता था कि जर्मनी के लिये तीसरी बार फ्रांस पर आक्रमण करना सम्भव न हो सके। लायड जार्ज, विल्सन के 14 सूत्रों में से कुछ को मानने के लिए तैयार था परन्तु वह यह भी नहीं चाहता था कि फ्रांस इतना शक्तिशाली बना दिया जाये कि यूरोप का शक्ति संतुलन बिगड़ जाये। वह जर्मनी की नाविक शक्ति को भी कम करना चाहता था तथा ब्रिटेन के लिये लूट के माल में अधिकाधिक हिस्सा भी प्राप्त करना चाहता था। ओरलेण्डो ने फ्यूम के बंदरगाह की मांग की थी, जिसे विल्सन ने स्वीकार नहीं किया। अतः वह सम्मेलन बीच में छोड़कर चला गया।

पेरिस शांति सम्मेलन में पराजित राष्ट्रों को विजेताओं की प्रतिशोध की भावना से नहीं बचाया जा सका। इस शांति सम्मेलन में भारत देशी राज्यों के प्रतिनिधि के रूप में बीकानेर के महाराजा गंगा सिंह ने भाग लिया। शांति के नाम पर इस सम्मेलन में पराजितों के साथ अनेक संधियां की गई।

1. आस्ट्रिया–हंगरी का साम्राज्य भंग करके आस्ट्रिया के साथ 'सेन्ट जर्मन' की संधि की गई। इसके द्वारा इटली को आस्ट्रिया से दक्षिणी टिरोल, ट्रेन्टिनो, इस्ट्रिया एवं डालमेशिया के तटवर्ती कुछ द्वीप प्राप्त हुये।
2. हंगरी के साथ 'ट्रियानो' की संधि की गई। हंगरी ने 'गेर मेम्यार' लोगों पर से अपना अधिकार छोड़ दिया। हंगरी की सेना घटाकर 35 हजार कर दी गई तथा उसकी नौ सेना भंग कर दी गई।
3. बल्गेरिया के साथ 'न्यूली' की संधि की गई। बल्गेरिया को प्रथम विश्व युद्ध तथा बाल्कन युद्धों में जीते हुये सारे प्रदेश लौटाने पड़े। उसकी सैनिक संख्या घटाकर 33 हजार कर दी, उसे 5 लाख डालर की राशि क्षतिपूर्ति के रूप में देनी पड़ी।
4. तुर्की ने भी जर्मनी के समर्थन में युद्ध किया था, अतः उसके साथ 'सेब्रे' की संधि की गई, जिसके अनुसार डोडेकनीज द्वीप समूह, रोड्स के प्रदेश इटली को दिये गये। डाडेनल्स के जलडलमरूमध्य को अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र घोषित किया। तुर्की की सैनिक संख्या 50 हजार निश्चित कर दी गई। किन्तु तुर्की में तरूण तुर्क आंदोलन के कारण 'सेब्रे' की संधि के स्थान पर 1923 में 'लुसान' की संधि करनी पड़ी, जिसके अनुसार उसे बहुत सा खोया हुआ भू–भाग प्राप्त हुआ।
5. वर्साय की संधि पेरिस के शांति सम्मेलन में अनेक संधिया की गई किन्तु इन सभी संधियों में जर्मनी के साथ की गई 'वर्साय की संधि' महत्वपूर्ण थी। 28 जून 1919 को इस अपमान जनक संधि पर जर्मनी को हस्ताक्षर करने पड़े। इस संधि के अनुसार जर्मनी को अल्सास–लारेन के प्रांत फ्रांस को देने पड़े। खनिज पदार्थों से सम्पन्न जर्मनी की 'सार घाटी' दोहन हेतु

15 वर्षों के लिए फ्रांस को दे दी गई। किंतु सार–प्रदेश पर नियंत्रण राष्ट्रसंघ का स्थापित किया गया।

6. जर्मन अधिकृत 'श्लेसविग' में जनमत संग्रह किया गया। जिस के आधार पर उत्तरी श्लेसविग डेनमार्क को दिया गया। इस संधि में जर्मनी, आस्ट्रिया और रूस के पोल क्षेत्रों को लेकर स्वतंत्र पोलैण्ड का निर्माण किया गया। जर्मनी को डेन्जिग का बंदरगाह राष्ट्रसंघ के संरक्षण में छोड़ना पड़ा। जर्मनी को समुद्रपार के अपने विस्तृत उपनिवेशों पर सारे अधिकार मित्र राष्ट्रों को देने पड़े। राष्ट्रसंघ द्वारा उसके उपनिवेशों को मेण्डेट पद्धति के अन्तर्गत ब्रिटेन, फ्रांस, जापान, आस्ट्रिया, दक्षिणी अफ्रीका आदि में बांट दिये गये।

वर्साय की संधि द्वारा जर्मनी को सैनिक रूप से भी पंगु बना दिया गया था ताकि भविष्य में यूरोप की शांति भंग न हो सके। जर्मनी में अनिवार्य सैनिक सेवा समाप्त कर दी गई, जर्मनी की थल सेना अधिकारियों सहित एक लाख निर्धारित की गई। राइन नदी के पूर्वी तट पर किलेबंदी करने से मना कर दिया गया। उसे वायु सेना रखने का भी निषेध कर दिया गया। उसकी नौ–सैनिक शक्ति को भी सीमित कर दिया गया। इन सब व्यवस्थाओं के अतिरिक्त 5 अरब डालर की राशि क्षतिपूर्ति के रूप में 1921 तक देने को मजबूर किया गया। जर्मनी को युद्ध का उत्तरदायित्व भी स्वीकार करना पड़ा।

पेरिस शांति सम्मेलन के सम्बन्ध में निष्कर्ष के रूप में यही कहा जा सकता है कि यदि वार्ता के समय जर्मनी को भी सम्मिलित कर लिया जाता, तो वर्साय की संधि इतनी कठोर तथा अपमान जनक सिद्ध नहीं होती। जर्मनी के आर्थिक स्रोतों पर अधिकार करने के बाद भी उसे क्षतिपूर्ति की राशि चुकाने के लिए बाध्य किया गया जो अनुचित था। लेकिन हमे यह भी नहीं भूलना चाहिए कि जर्मनी ने युद्ध का समर्थन किया। अतः यह जरूरी हो जाता है कि जो राष्ट्र अकारण ही आक्रांता बन जाता है उसे यह शिक्षा मिलनी चाहिये और पड़ोसियों पर हमला करने वालों के भाग्य पर ऐसी ही मोहर लगनी चाहिये।

प्रथम विश्व युद्ध के परिणाम

1. राजनीतिक परिणाम

I. निरंकुश राजतंत्रों की समाप्तिः– प्रथम विश्व युद्ध के बाद यूरोप का मानचित्र बदल गया था। इस विश्व युद्ध ने जर्मनी, रूस, आस्ट्रिया तथा तुर्की के निरंकुश राजतंत्रों को समाप्त कर दिया। राजवंशों के पतन के साथ ही उन पर आश्रित सामंत प्रथा भी समाप्त होगई।

II. लोकतंत्र का विकासः– प्रथम विश्व युद्ध के बाद हालैण्ड, अमेरिका आदि मित्र राष्ट्रों ने घोषणा की थी कि वे लोकतंत्र की रक्षा के लिये युद्ध लड़ रहे हैं। अतः नवनिर्मित राज्यों एवं समस्त पराजित राष्ट्रों में लोकतंत्रात्मक शासन व्यवस्था कायम की गई। हंगरी, पौलेण्ड़, चेकोस्लोवाकिया, लिथुआनिया, एस्टोनिया, लेटविया आदि में जनतंत्रात्मक शासन की स्थापना हुई। तुर्की के शासक मुस्तफा कमालपाशा ने गणतंत्रात्मक सरकार की स्थापना की।

III. राष्ट्रीयता की भावना एवं नवीन राज्यों का उदयः –राष्ट्रीयता नये यूरोप के राजनीतिक जीवन की आधारशिला थी शांति संधियों द्वारा विश्व मानचित्र पर अनेक परिवर्तन किये गये। चेकोस्लोवाकिया, यूगोस्लाविया, लिथुआनिया, एस्टोनिया, फिनलैण्ड पोलैण्ड आदि नये राज्यों का उदय हुआ। एशिया के पिछड़े देशों में राष्ट्रीयता की लहर आई और वहां की जनता ने भी स्वतंत्र होने के लिये आंदोलन छेड़ दिया। भारत का असहयोग आंदोलन इस संदर्भ में उल्लेखनीय है।

IV. नवीन वादों का उदयः– उन्नीसवीं सदी के अंत तक यूरोप के अनेक देशों में 'समाजवाद' की लहर पहुच चुकी थी। 1917 में रूस में बोल्शेविक क्रांति हुई, जिससे साम्यवाद का प्रभाव बढ़ा। इटली में फासिस्टवाद, जर्मनी में नाजीवाद और जापान में सैन्यवाद का उदय हुआ जिसके कारण विश्व में पुनः तनाव का वातावरण बन गया।

V. संयुक्त राज्य अमेरिका के प्रभाव में वृद्धिः– युद्ध के बाद अमेरिका के प्रभाव में अत्यधिक वृद्धि हुई और वह यूरोपीय राष्ट्रों का मुखिया बन गया। उसका व्यापार दिन दूना और रात चौगुना हो गया। अमेरिका ने अनेक राष्ट्रो को एक खरब बीस अरब डालर का कर्ज दे रखा था। इस समय जर्मनी का व्यापार वाणिज्य समाप्त हो गया था, जिस के कारण अमेरिका का सम्पूर्ण यूरोप के व्यापार–वाणिज्य पर नियत्रंण हो गया।

VI. शस्त्रीकरण की होड़ः–वर्साय की संधि के अन्तर्गत निःशस्त्रीकरण योजना थी, जिसका प्रयोग धुरी राष्ट्रो सहित

जर्मनी को शक्तिहीन करने के लिये हुआ था। इससे निःशस्त्रीकरण के बजाय शस्त्रीकरण की भावना ही प्रबल हुई। आधुनिक अस्त्र–शस्त्रों का निर्माण होने लगा और इसी होड़ ने द्वितीय महायुद्ध का मार्ग खोल दिया।

2. आर्थिक परिणाम

1. आर्थिक विनाशः– जब 11 नवम्बर 1918 ई. को युद्ध विराम की घोषणा से युद्ध समाप्त हुआ तो खून से सनी मानवता सवा चार वर्ष के महाविनाश का मूल्य आंकने को तत्पर हुई। इस युद्ध में 10 खरब रूपया प्रत्यक्ष रूप से खर्च हुआ और जान–माल की परोक्ष हानि का तो कोई अनुमान ही नहीं लगाया जा सकता।

2. जन शक्ति का महाविनाशः– सवा चार वर्ष के युद्ध में 80 लाख मृतकों एवं 2 करोड़ घायलों ने सिद्ध कर दिया कि यह युद्ध एक विनाशकारी युद्ध था। इस अवधि में 7 हजार व्यक्ति प्रतिदिन मरे। बड़ी संख्या में हत्याकाण्डो, भुखमरी, बीमारी से लोग मारे गये अपनी जनसंख्या के अनुपात में फ्रांस को अत्यधिक हानि उठानी पड़ी। यहाँ तक कि अल्सास एवं लारेन पुनः प्राप्त होने पर भी फ्रांस की जनसंख्या उतनी न हुई जितनी कि फ्रांस को चार वर्ष के मार–काट मे खोनी पड़ी थी।

3. युद्ध ऋणः– युद्ध के असाधारण खर्च के कारण संसार के सार्वजनिक ऋणों में भी असाधारण रूप से वुद्धि हुई। 1914 ई. में दोनों पक्षों का सार्वजनिक ऋण 8 हजार करोड़ था, 1918 में यह बढ़कर पांच गुना 40 हजार करोड़हो गया। इस युद्ध में कुल मिलाकर 13 हजार दो सौ करोड़ रूपयों की सम्पत्ति नष्ट हुई। इतनी भारी धन–राशि के विनाश का प्रभाव यह हुआ कि कीमतें बढ़ने लगी। मजदूरी की दर में वृद्धि के साथ ही उत्पादन में कमी आई। मुद्रा की कीमत कम होने लगी और व्यापार–व्यवसाय में अव्यवस्था उत्पन्न हो गई।

4. व्यापार का विनाशः– अरबों रूपये के विनाश से राष्ट्रों के व्यापार पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा। अब प्रत्येक राष्ट्र यह प्रयास कर रहा था कि वह अन्य देशों से कम से कम माल खरीदे और उन्हें अधिक से अधिक माल बेचे। ऐसा करने के लिये सरकारों ने तटकरों में भारी वृद्धि की, जिसके कारण विश्व व्यापार और भी कम हो गया। युद्ध के बाद अमेरिका, जापान तथा कुछ लैटिन देशों ने उन बाजारों में अपने पांव जमा लिये, जो पहले ब्रिटेन और जर्मनी के हांथो में थे। युद्ध के पूर्व अमेरिका एक कर्जदार देश था, युद्ध के बाद वह संसार का प्रमुख कर्ज देने वाला देश बन गया।

5. मुद्रा प्रसारः– अरबों रूपया खर्च कर युद्ध लड़ा गया था। यह राशि किसी उत्पादक कार्य में न लगाकर विनाश में लगायी गई थी। युद्ध में धन पानी की तरह बहाया गया, कल–कारखाने, रेलवे, जहाज अन्य सम्पत्ति का भी विनाश किया गया था। इस स्थिति में सभी राज्य अपने बढ़े हुये खर्चों को पूरा करने के लिए, ऋणों को चुकाने के लिये विशाल मात्रा में कागजी मुद्रा जारी कर दी, जिससे कीमतों में भारी वृद्धि हुई। कागजी मुद्रा का मूल्य बाजार में बहुत गिर गया। इस मुद्रास्फीति ने बचत को समाप्त कर दिया। जिससे आर्थिक संकट उत्पन्न हो गया।

3. सामाजिक परिणाम

1. अल्पसंख्यकों की समस्या के समाधान का प्रयत्नः– पेरिस सम्मेलन में यह समस्या स्पष्ट रूप से सामने आयी कि विदेशों में स्थायी रूप से बस चुके अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा कैसे की जाये। मुख्यतः यह समस्या पोलैण्ड, चेकोस्लोवकिया आदि नये राज्यों में ही नही अपितु आस्ट्रिया, हंगरी, बल्गेरिया और तुर्की में भी थी। यहां भी बहुत से ऐसे लोग बस गये थे, जो राष्ट्रीयता की दृष्टि से उस देश के नागरिक नहीं थे। पेरिस शांति परिषद ने पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया आदि को इस बात के लिये विवश किया कि वे अपने राज्य में स्थायी रूप से बस चुके अल्पसंख्यक जातियों की भाषा, धर्म संस्कृति आदि की रक्षा करने की गारंटी दे किंतु पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया रूमानिया, यूनान, यूगोस्लाविया और तुर्की इस प्रकार की गारण्टी के विरूद्ध थे। फलस्वरूप अल्पसंख्यक जातियों की समस्या का कोई स्थायी समाधान नहीं हो सका और इन अल्पसंख्यकों में अपनी पृथकता की भावना बनी रही।

2. स्त्रियों की स्थिति में सुधारः–प्रथम विश्व युद्ध के चार वर्षों के दौरान ज्यादा से ज्यादा पुरूषों की आवश्यकता युद्ध क्षेत्र में होती थी। युद्ध जनित परिस्थितियों में स्त्रियों की परम्परागत भूमिका के अलावा, समाज में यह अपेक्षा की जाने लगी कि उनके द्वारा दिया गया योगदान पर्याप्त नहीं है। स्त्रियों ने कारखानों तथा दुकानों में कार्य करना शुरू किया और वे अब उन कार्यों को भी कर रहीं थी जिन्हें अब तक पुरूष वर्ग करता था। इसके बाद हर राष्ट्र में स्त्रियों को ज्यादा प्रतिनिधित्व और अधिकार दिये जाने

की बात उठने लगी।

3. नस्लों की समानताः— 19वीं सदी की समाप्ति तक यूरोप के लोगों में अपने वर्ग और नस्ल की उत्कृष्टता की भावना बहुत प्रबल थी, ये लोग एशिया और अफ्रीका के काले, भूरे, पीले रंग के लोगों को अपने से हीन समझते थे परंतु युद्ध की आवश्यकता से विवश होकर भारत, जापान और अफ्रीका के सैनिकों को भी यूरोप भेजा गया था, जहां उन्होंने युद्ध में शौर्य दिखाया था, उससे यूरोपीय नस्लों की उत्कृष्टता का विचार निराधार साबित हुआ।

4. विश्व संस्थाओं का विकासः— प्रथम विश्व युद्ध से उत्पन्न सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक समस्याओं के निराकरण के लिये कई विश्व संस्थाओं की स्थापना की गई। मादक वस्तुओं के व्यापार को रोकने का प्रबन्ध किया गया। श्रमिकों के कल्याण और राजनीतिक समस्याओं के समाधान हेतु 'अंतर्राष्ट्रीय श्रमसंघ' एवम् 'राष्ट्रसंघ' की स्थापना की गई। इससे अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना का विकास हुआ।

इस प्रकार प्रथम विश्व युद्ध के परिणाम बड़े दूरगामी सिद्ध हुये, इसके कारण विश्व की आर्थिक और सामाजिक अवस्था पर अत्यधिक गंभीर प्रभाव पड़े और आने वाले कई वर्षों तक इसकी क्षतिपूर्ति न हो सकी।

प्रथम महायुद्ध और भारत

इंग्लैण्ड के अनेक उपनिवेशो में एक उपनिवेश भारत भी था, जो सबसे विशाल तथा महत्वपूर्ण था। इंग्लैण्ड की सम्पन्नता तथा औद्योगिक साम्राज्य का आधार भारत था।

युद्ध में भारत की भूमिकाः—भारतीयों का इस युद्ध से सीधा सम्बन्ध नहीं था, फिर भी इंग्लैण्ड ने युद्ध शुरू होते ही भारत को इसमें सम्मिलित कर लिया। जब कि यह युद्ध इंग्लैण्ड के हितों का युद्ध था। 1914 में प्रथम विश्व युद्ध की घोषणा से देश के राजनैतिक वातावरण में जबरदस्त परिवर्तन हुआ। इंग्लैण्ड के प्रधानमंत्री ने युद्ध में जर्मनी की हार को संसार भर में जनतंत्रवाद की सुरक्षा के लिये आवश्यक बताया और इस युद्ध में भारतीयों से मदद मांगी। इससे कांग्रेस के उदारवादी नेताओं को लगा कि इंग्लैण्ड लोकतंत्रवाद के लिये युद्ध कर रहा है और युद्ध के बाद वह भारत को भी जनतंत्रवाद की दिशा में कुछ देगा। उदारवादियों ने तन–मन और धन से इंग्लैण्ड की सहायता करने का निश्चय किया जनवरी 1915 में महात्मा गांधी जी दक्षिण अफ्रीका से भारत लौटे तो कांग्रेस का उदारवादी नेतृत्व प्रथम विश्व युद्ध में अंग्रेजों की मदद में लगा हुआ था। गांधीजी भारतीय राजनीति में ब्रिटिश सरकार के सहयोगी के रूप में आये। उन्होंने भारतीयों को ब्रिटिश सरकार को जन–धन से सहायता करने को प्रेरित किया। उन्हें लगा कि अंग्रेज इस महायुद्ध में उच्च सिद्धान्तों की रक्षा के लिए लड़ रहे हैं।

1914 में छिड़े प्रथम महायुद्ध ने लोकमान्य तिलक और क्रान्तिकारियों को झकझोरा, उन्हें उद्वेलित किया। वे गांधी जी और नरम पंथियों की तरह अंग्रेजों का साथ नहीं देना चाहते थे। तिलक का विचार था कि ब्रिटेन पर किसी भी तरह का संकट भारत के हित में है, उसके लिये एक मौका है। तिलक, एनी बेसेण्ट और क्रान्तिकारियों का आकलन था कि अंग्रेज इस समय परिस्थितियों बस भारतीयों से मदद मांग रहे हैं, युद्ध के बाद वे फिर से अपनी नीति पर चलेंगे और भारत का भला बिना किसी प्रचंड आंदोलन के होने वाला नहीं है। युद्ध के बाद अंग्रेजों के क्रियाकलापों से यह अच्छी तरह से स्पष्ट हो गया कि तिलक का आकलन सही था।

उपर्युक्त विरोधाभास के बावजूद भारत की शोषित जनता ने अपने समस्त संसाधनों के साथ ब्रिटेन की सबसे संकट पूर्ण समय में इस आशा के साथ सहायता की कि युद्ध के पश्चात् उन्हें राजनीतिक अधिकार अवश्य दिये जायेंगे। प्रथम विश्वयुद्ध में विभिन्न मोर्चों पर लड़ने के लिये भारत में बड़ी संख्या में सैनिक भर्ती किये गये। हथियार गोला बारूद युद्ध सामग्री के अतिरिक्त बड़ी मात्रा में गेहूँ, चावल, चाय, कपास, जूट, रबड़, कोयला, लोहा तथा इस्पात भेजा गया था। भारत की देशी रियासतों ने भी भरपूर आर्थिक तथा सैनिक सहायता भेजी। अनेक देशी राजाओं ने युद्ध के मोर्चे पर अपनी सेना के साथ युद्ध किया। भारत ने इस युद्ध के लिये 10 करोड़ पौंड युद्ध कोष में दिये थे। यही नहीं अपनी सेनाओं पर 30 करोड़ पौण्ड प्रतिवर्ष खर्च किये। इसमें कोई संदेह नहीं कि ब्रिटेन की प्रतिष्ठा का यह युद्ध भारत की जनता की कीमत पर लड़ा गया तथा जीता गया।

प्रथम विश्वयुद्ध का भारत पर प्रभाव

सरकार ने यह आवश्वासन दिया था कि युद्ध के पश्चात् भारतीयों को अधिक सुविधायें दी जायेगी। अंग्रेजों ने भारतीयों के साथ छल किया उनकी आशा के विपरीत अकाल, महामारी, आर्थिक, शोषण, प्रेस के कठोर नियम और अन्य दमनकारी नीतियां मिली। इंग्लैण्ड आतंकवादी गतिविधियों को दबाने के नाम पर 'रौलट बिल' के माध्यम से भारतीयों के मौलिक अधिकारों का हनन करना चाहता था। यह कानून ऐसे समय पर आया जब भारतीय जनता संवैधानिक सुधारों का इंतजार कर रही थी। गांधी जी को यह लगता था कि अंग्रेज न्याय प्रिय हैं। और युद्ध के पश्चात् भारत की स्वाधीनता के लिये सही दिशा में काम करेंगे, परंतु उनका स्वप्न शीघ्र ही टूट गया।

रौलट एक्ट ने गांधीजी की राजभक्ति को गहरा आघात पहुंचाया। युद्ध काल में उन्होंने ब्रिटिश सरकार की जो सहायता की थी उसका यही पुरस्कार उन्हें मिला। इस कानून के द्वारा अब सरकार किसी भी व्यक्ति को खतरनाक समझने पर बिना मुकदमा चलाये जेल में रख सकती थी। यह अधिनियम 'काले कानून' के नाम से कुख्यात है। उसका विरोध होना स्वाभाविक था। लेकिन अंग्रेजों ने अपना उत्तर जलियांवाला बाग हत्याकाण्ड के द्वारा दिया। 1919 का भारत सरकार अधिनियम भारतीयों की आशाओं पर भीषण प्रहार था। यह उन्हें स्वशासन देने में असफल रहा। यही नहीं युद्ध के पश्चात् सेब्रे की संधि द्वारा तुर्की साम्राज्य को विभाजित कर दिया। खलीफा को हटाकर कुस्तुनतुनिया में नजरबंद कर दिया। भारतीय मुसलमानों में इस की तीव्र प्रतिक्रिया हुई। उन्होंने खिलाफत आंदोलन द्वारा इस विश्वासघात का विरोध किया। महात्मा गांधी ने हिन्दू–मुस्लिम एकता को सुदृढ़ करने हेतु इस अवसर का प्रयोग किया। गांधीजी के परामर्श से कांग्रेस ने अंग्रेजों से दीर्घकालीन संघर्ष हेतु असहयोग आंदोलन और खिलाफत आंदोलन एक साथ चलाने का निर्णय किया।

खिलाफत आंदोलन खलीफा पद की पुर्नस्थापना का आंदोलन था। इसमें गांधीजी के सहयोग से अल्पकालिक लाभ अवश्य हुआ। कुछ मुसलमानों ने कांग्रेस के अधिवेशन में भाग लेना प्रारंभ किया, परंतु खिलाफत का प्रश्न समाप्त होते ही हिन्दू–मुस्लिम एकता ज्यादा देर तक न रह सकी। मुसलमानों का तुर्की के प्रति यह प्रेम वास्तव में राष्ट्रीय न होकर मजहबी था। ऐसे मुसलमान अपना राष्ट्रीय मूल्य अन्यत्र खोजते थे, जब कि मुगल सम्राटों ने भारत के बाहर किसी भी खलीफा या आध्यात्मिक नेता को मान्यता नहीं दी थी। मोहम्मद करीम छागला ने जो स्वतंत्र भारत के मुख्य न्यायाधीश रहे, खिलाफत आंदोलन को राष्ट्रीय आंदोलन के साथ जोड़ने को एक बड़ी गलती कहा है, क्योंकि इससे मुसलमानों में देश बाह्य निष्ठा पैदा हुई। अतः इससे साम्प्रदायिक नेतृत्व को बढ़ावा मिला।

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि अंग्रेजों ने भारतीयों को प्रथम विश्वयुद्ध के बलिदानों के प्रत्युत्तर में दमन और विश्वासघात ही दिया। लेकिन इससे राष्ट्रीय आंदोलन के समर्थन में वृद्धि अवश्य हुई।

1917 ई. की रूस की क्रांति– लेनिन, स्टालिन

पूरब से पश्चिम की ओर विस्तृत, विशालकाय देश, रूस, विश्व के सकल स्थल भू–भाग का 1/6 भाग प्राप्त कर, अपनी विशाल आकृति के कारण 'महाशक्ति' शब्द को सार्थक करता प्रतीत होता था। उसकी विशालता उसकी शक्ति का स्रोत थी तो अड़चनों का कारण भी थी। एशियाई और यूरोपीय महाद्वीपों में तो रूस स्वयं फैला हुआ था ही, उत्तरी अमेरिका की सरहदों का भी इसकी सीमायें स्पर्श करती थी। पड़ोसियों से तनाव उसकी विदेश नीति में परिलक्षित होती रहती थी। अपनी सीमाओं की सुरक्षा, काला सागर में निर्बाध आवागमन, मानचित्र से मिटने वाले राज्यों की लूट में अपना यथेष्ट हिस्सा, मध्य एशिया में ब्रिटेन की महत्वाकांक्षाओं पर रोक लगाना, पूर्वी एशिया में जापानी साम्राज्य विस्तार को रोकते हुये अपना प्रभुत्व कायम रखना उसकी विदेश नीति के प्रमुख उद्देश्य थे।

क्रांति से पूर्व की स्थिति

जापान से 1904–05 ई. के युद्ध में पराजित होकर रूस की मिथकीय श्रेष्ठता छिन्न–भिन्न हो गई। एशियाई बौने ने यूरोपीय दैत्य को पटखनी देकर न केवल उसकी विदेश नीति, आर्थिक घरेलू राजनीति को प्रभावित किया, बल्कि रूस की श्रेष्ठता के तिलिस्म को भी तोड़ दिया। इस पराजय ने रूसी जार (शासक) की दुर्बलता को उजागर कर दिया। पराजय की

निराशा ने रूसी लोगों को रोटी और अन्य अधिकारों की ओर सोचने को प्रवृत्त किया। जब कि रूस के निरंकुश जार अभी भी सामान्य जन से अपनी दुर्बलताओं को छुपाये रखने में लगे हुये थे। रूस की जनता भूख, बेकारी और अव्यवस्था तथा आर्थिक–सामाजिक विपन्नता में जी रही थी। परन्तु जार निकोलस द्वितीय अभी भी अपनी निरंकुशता के लिये उद्यत था। रूस के समाज को कुलीन, मध्यम और सर्वहारा वर्ग की तीन श्रेणियों में मोटे तौर पर बांटा जा सकता था।

रूसी पंचांग

1917 ई. की बोल्शेविक क्रांति तक के रूसी इतिहास की तिथियों को लेकर भ्रम की स्थिति से बचने के लिये यहां यह बताना आवश्यक है कि 1917 ई. की क्रांति तक रूस में दो कैलेण्डर प्रचलित थे– जूलियन पद्धति और ग्रेगोरियन पद्धति। दोनों पंचांगो की तिथियों में 13 दिन का अंतर था। क्रांति के पश्चात् वहाँ भी ग्रगोरियन कैलेण्डर प्रचलित हो गया, अतः तिथियां 13 दिन आगे बढ़ानी पड़ी। बोल्शेविक क्रांति पुरानी जंत्री के अनुसार 25 अक्टूबर, 1917 ई. को सम्पन्न हुई। अतः इसे अक्टूबर क्रांति के नाम से भी जाना जाता है। परन्तु नये पंचांग के अनुसार वह तिथि 7 नवम्बर, 1917 ई. थी।

1917 ई. की रूस को बोल्शेविक क्रांति को तीन क्रांतियों के संकुल के रूप में देखा जाये तो परिस्थितियां अधिक स्पष्ट हो सकेगी। 1905 ई. की क्रांति भले ही सफल न रह सकी हो, परंतु इसने नीव का काम किया। 1917 ई. की फरवरी (मार्च) की क्रांति ने जारशाही का उच्छेदन कर राजनीतिक इतिहास को एक नया मोड़ दिया तथा 1917 ई. की अक्टूबर (नवम्बर) की क्रांति ने आर्थिक स्वतंत्रता को अधिक महत्वपूर्ण बना दिया। यह क्रांति किसी एक दिन घटी कोई घटना नहीं थी, बल्कि यह घटनाओं की एक श्रृंखला–सी प्रतीत होती है। क्रांति से पूर्व के वर्षों में रूस की जनता के विभिन्न वर्गों में विभिन्न कारणों से असंतोष और विरोध की भावना बहुत अधिक बढ़ती जा रही थी। शासन की स्वेच्छाचारी एवं निरंकुश नीतियां इस असंतोष की जनक थी।

अन्य क्रांतियों की भांति 1917 ई. की रूसी क्रांति के कुछ मौलिक कारण तो उसके पिछले एक शताब्दी के इतिहास के गर्भ में छिपे थे और कुछ तात्कालिक परिस्थितियों ने रूस में व्याप्त असंतोष का एकाएक विस्फोट कर दिया। क्रांति के दीर्घकालिक एवं तात्कालिक कारण निम्नलिखित थे।

रूसी क्रांति के कारण

1. जारशाही की निरंकुशताः– रूस के सम्राट अत्यधिक निरंकुश थे। वे अपने को किसी के प्रति उत्तरदायी नहीं समझते थे। वे इवान चतुर्थ के सिद्धांत पर आचरण करते थे। इवान ने घोषणा की थी ''जार रूस का एकाधिपति है।'' इसी प्रकार पीटर महान् का कहना था कि ''जार दुनिया में किसी के प्रति उत्तरदायी नहीं है।'' इतनी ही स्वेच्छाचारिणी केथेराइन महान थी। इससे स्पष्ट है कि स्वेच्छारिता ही रूसी जार का एकमात्र उद्देश्य था। जार अलेक्जेण्डर प्रथम (1801–1825 ई.) ने कुछ उदारता की नीति अपनाने का प्रयत्न किया था किन्तु पौलेण्ड़ के विद्रोह एवं अन्य बाह्य प्रभावों के कारण उसने पुनः प्रतिक्रियावादी नीति अपना ली। जार अलेक्जेण्डर द्वितीय (1858–81 ई.) ने भी उदारवादी दृष्टिकोण अपनाकर कृषक–दासों की मुक्ति एवं स्थानीय स्वशासन सम्बन्धी सुधार किये किन्तु सामंतों के विरोध के कारण उसे पुनः प्रतिक्रियावादी नीति अपनानी पड़ी।

इसी काल में जार के निरंकुश एवं कठोर शासन के विरूद्ध कुछ क्रान्तिकारी एवं आतंकवादी संस्थाओं की स्थापना हुई, जो गुप्त रूप से अपना कार्य करती रहीं। विद्यार्थियों ने भी समाजवादी विचारों से प्रभावित होकर क्रांतिकारी आन्दोलन को आगे बढ़ाने में योगदान दिया। अन्त में एक आतंकवादी ने जार अलेक्जेण्डर द्वितीय की हत्या कर दी। जार अलेक्जेण्डर तृतीय (1881–1894 ई.) ने अपने पिता की हत्या से यह सबक सीखा कि कठोर और दमनकारी नीति द्वारा ही सम्राट की सत्ता को सुरक्षित रखा जा सकता है। निकोलस द्वितीय (1894–1917 ई.) ने भी इसी नीति का पालन किया किन्तु 1905 ई. की क्रांति के फलस्वरूप उसे सुधारवादियों को संतुष्ट करने के लिए 'डयूमा' का निर्वाचन कराने की घोषण करनी पड़ी। किन्तु 'डयूमा' को भी उसने जनता की प्रतिनिध सभा के वास्तविक अधिकारी होने से वंचित रखा और स्टालीपिन की सहायता से पुनः प्रतिक्रियावादी शासन स्थापित कर लिया। निकोलस द्वितीय के अंतिम वर्षों में रासपुटीन जैसे दुष्टात्मा का प्रभाव सर्वोपरि रहा, जो साम्राज्य के लिए अनिष्टकारी रहा। उस तथाकथित 'पवित्र साधु' के प्रति जारीना की अन्ध–भक्ति के कारण शासन के

प्रत्येक कार्य में रासपुटीन का हस्तक्षेप होने लगा। यही कारण था कि 1916 ई. में विरोधियों ने रासपुटीन की हत्या कर दी।

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक यूरोप के प्रमुख देशों में उत्तरदायित्वपूर्ण शासन की स्थापना हो चुकी थी किन्तु रूस में नागरिकों के कोई अधिकार नहीं थे। वहाँ शासन का विरोध करने वालों को कठोर से कठोर दण्ड दिया जाता था। ऐसी दमनकारी व्यवस्था के कारण जार का निरंकुश शासन अब असहनीय हो गया था और जनता के कुछ प्रबुद्ध नेता सुधारों की मांग करने लगे थे। जैसे–जैसे जारशाही के अत्याचार बढ़ते गये वैसे–वैसे उसके प्रति जनता का असंतोष एवं विरोध भी बढ़ता जा रहा था।

2. 1905 की क्रांति तथा ड्यूमा के प्रभाव को कुचलने का प्रयासः– वर्ष 1904–05 ई. में रूस–जपान युद्ध हुआ। इस युद्ध में रूस की छोटे से जापान के हाथों पराजय हुई। पहले क्रीमिया और अब रूस–जापान युद्ध में पराजय के कारण सरकार की अक्षमता जनता के सामने आ गई और यह भी स्पष्ट हो गया कि रूस में सुधारों की आवश्यकता है। 22 जनवरी, 1905 ई. को रविवार के दिन लगभग डेढ़ लाख मजदूरों ने पादरी ''गैपों'' के नेतृत्व में जार के सम्मुख अपनी राजनीतिक और औद्योगिक मांगों को मनवाने के लिए प्रदर्शन किया। ये शान्तिपूर्वक प्रदर्शन कर आगे बढ़ रहे थे किन्तु जार के सैनिकों ने निहत्थे लोगों पर आक्रमण कर 130 व्यक्तियों को मार दिया। गैपों को कोई चोट नहीं लगी परन्तु बाद में 1906 ई. में क्रान्तिकारियों ने उसे कत्ल कर दिया क्यों कि उनका अनुमान था कि वह एक सरकारी जासूस था। 1905 ई. की इस 'खूनी रविवार' की घटना का रूसी इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान है।

परिस्थिति पर काबू पाने के उद्देश्य से जार ने 30 अक्टूबर, 1905 को शासन–सुधारों की घोषणा की। इसके द्वारा लोगों को भाषण देने, विचार प्रकट करने और संघ बनाने की स्वतंत्रता प्रदान की गई। यह घोषणा शासन–तंत्र द्वारा आत्मसमर्पण जैसा ही था।किन्तु असंतोष के कम होते ही जार ने ड्यूमा को संसद का प्रथम सदन मानकर ''साम्राज्य परिषद'' के नाम से दूसरे सदन का निर्माण किया, जिसके सदस्य सम्राट द्वारा नियुक्त किये जाने थे। हेजन के अनुसार, ''ड्यूमा जो कि विधि निर्मात्री संस्था होनी थी तथा जिसको राज्याधिकारियों की देखभाल का अधिकार प्राप्त होना था, परन्तु इसके अधिवेशन आरम्भ होने के पूर्व ही इसके पर काट दिये गये। यही नहीं, जार निकोलस ड्यूमा की शक्ति को नष्ट भी करना चाहता था, अतः जब मार्च, 1906 के निर्वाचन में ड्यूमा के अनुदार दल को कम सफलता मिली, तो जार ने उसके प्रथम अधिवेशन में ही ड्यूमा का विघटन कर दिया। मार्च, 1907 ई. में ड्यूमा का दूसरा अधिवेशन हुआ, तो उसका भी विघटन कर दिया। इससे जनता में जार के प्रति अविश्वास बढ़ने लगा। 1905 ई. की क्रांति के फलस्वरूप प्राप्त किये गये अपने अधिकारों को इस प्रकार पुनः छिनता हुआ देखकर जनता भीतर ही भीतर तिलमिला उठी।

3. कृषकों की दयनीय दशाः– रूस एक कृषि प्रधान देश था। वहां कृषकों की स्थिति अत्यंत दयनीय थी। जार अलेक्जेण्डर द्वितीय द्वारा 1861 ई. में कृषि–दासों की मुक्ति की घोषणा के उपरान्त भी कृषकों की स्थिति में विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। रूस में उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक बीस हजार बड़े जमींदारों के पास लगभग 1800 लाख एकड़ भूमि थी, जबकि एक करोड़ से अधिक कृषकों के पास केवल 1900 लाख एकड़ भूमि थी। रूस की समस्त कृषक जनसंख्या का एक तिहाई भाग भूमिहीन था। भूमिहीन कृषकों को जमींदारों की भूमि पर काम करना पड़ता था। इन्हें कई तरह के करों का भुगतान भी करना पड़ता था, जिससे उनकी आर्थिक स्थिति अधिक चिन्तनीय हो गयी थी। कृषि दासों की मुक्ति का नियम भी रूस के सभी प्रान्तों में लागू नहीं किया गया था। कृषकों को दोनों समय का भोजन भी उपलब्ध नहीं होता था। पहले वे भूमिकर में कमी एवं सुविधा–अधिकारों की समाप्ति की मांग करते रहे किन्तु जब उनकी मांगों की अवहेलना की गयी, तो वे अधिक उग्र हो गये। क्रांतिकारी समाजवादी दल ने इन कृषकों की स्थिति का लाभ उठाया और उन्हें शासन के विरूद्ध उत्तेजित किया। 1905 ई. में समस्त कृषक प्रतिनिधियों का मास्को में एक सम्मेलन हुआ, जिसमें ''रूसी कृषक संघ'' बनाने का निर्णय लिया। फलस्वरूप 1906 ई. के कानून को 'कम्यून' से अपनी भूमि अलग करने का अधिकार दिया गया। इन कानूनों से कुछ ही कृषकों को लाभ हुआ किन्तु भूमिहीन किसानों की समस्या सुलझ नहीं सकी और कृषकों की दरिद्रता में भी कमी नहीं हुई। ऐसी स्थिति में कृषकों का विद्रोही होना अवश्यम्भावी हो गया।

4. श्रमिकों का अंसतोषः– यद्यपि इस समय रूस एक कृषि

प्रधान देश था फिर भी औद्योगिक क्रांति का प्रभाव वहाँ दिखाई देने लगा। अलेक्जेण्डर तृतीय के समय में औद्योगीकरण की गति में तीव्रता आयी। हजारों की संख्या में भूमिहीन कृषक इन औद्योगिक केन्द्रों पर रोजगार के लिए पहुँचे। उद्योगपतियों ने उनकी असहाय एवं दयनीय स्थिति का पूरा लाभ उठाया और उनसे न्यूनतम मजदूरी पर अधिक से अधिक कार्य लिया। इनकी मजदूरी इतनी कम थी कि उनका जीवन–निर्वाह कठिन होने लगा। इन कठिनाईयों को दूर करने के लिए वे अपने मालिकों से कुछ भी नहीं मांग सकते थे और न 'मजदूर संघ' ही बना सकते थे। 1885 ई. के बाद यद्यपि कुछ श्रमिक कानून बनाये गये लेकिन मजदूरों की स्थिति में कोई विशेष अन्तर नहीं आया क्योंकि शासन की नीति मूलतः उद्योगपतियों के हितों की रक्षा करने की थी। क्रान्तिकारी समाजवादी दल ने मजदूरों के इस असंतोष का लाभ उठाकर उनमें समाजवादी सिद्धान्तों का प्रचार किया। 1902–03 ई. से ही मजदूरों की हड़तालें आरम्भ हो गयी थीं। 1905 ई. की क्रांति का आरम्भ भी मजदूरों के जुलूस से ही हुआ था। इस समय मजदूरों की शक्ति इतनी बढ़ गयी थी कि उन्होंने सेन्ट पीटर्सवर्ग में अपनी अलग सरकार बना ली। ये मजदूर पूँजीवादी व्यवस्था एवं जारशाही की निरंकुशता को समाप्त कर 'सर्वहारा वर्ग' का शासन स्थापित करना चाहते थे।

5. आर्थिक एवं सामाजिक विषमताः–इस समय रूस की सामाजिक स्थिति वैसी ही थी, जैसी 1789 ई. से पूर्व फ्रांस की थी। समस्त रूसी समाज दो भागों में विभक्त किया जा सकता था–प्रथम, अधिकार युक्त वर्ग–जिसमें जार के कृपा प्राप्त कुलीन लोग थे। ये लोग जार की निरंकुशता एवं स्वेच्छाचारिता को आवश्यक समझते थे। यह वर्ग बहुत सम्पन्न था। राज्य के अधिकांश महत्वपूर्ण पदों पर तथा अधिकांश भूमि पर इन्होंने अधिकार कर रखा था। दूसरा वर्ग अधिकारहीन वर्ग था। इसमें किसान तथा मजदूर थे। इनकी आर्थिक स्थिति अत्यधिक दयनीय थी। इनको कुलीन वर्ग के अत्याचारों को भी सहना पड़ता था। दास प्रथा की समाप्ति पर भी इस वर्ग की स्थिति में कोई सुधार नहीं हुआ। इस प्रकार रूसी समाज में भारी आर्थिक एवं सामाजिक विषमता थी। फलतः यह वर्ग–संघर्ष रूसी क्रांति का एक महत्वपूर्ण कारण बना।

6. जार की रूसीकरण की नीतिः– रूस की प्रजा विभिन्न जातियों के सम्मिश्रण से बनी थी। वहाँ कई धर्म प्रचलित थे, कई भाषाएँ थीं। रूस की जनता में यहूदी, पोल, फिन, उजबेग, तातार, कजाक, आर्मीनियन, रूसी आदि का समावेश था। इन सबकी अपनी–अपनी संस्कृति और सभ्यता थी। रूसी इन सब में प्रभावशाली होने के कारण शासक बन गये थे। इनको अन्य अल्पसंख्यक जातियों के साथ कोई हमदर्दी नहीं थी। इन अल्पसंख्यक जातियों के विरूद्ध निकोलस II के समय से ही ''रूसीकरण'' की नीति अपनाई गई और ''एक जार, एक धर्म'' का नारा अपनाया गया। गैर–रूसी जनता का दमन किया गया, इनकी भाषाओं पर प्रतिबन्ध लगाये गये, इनकी सम्पत्ति छीन ली गई। इस कारण गैर–रूसी जनता में असंतोष फैला और वह जारशाही के विरूद्ध हो गई। 1905 ई. में जार्जिया, पोलैण्ड और बाल्टिक सागर में भयानक विद्रोह हुये। जार निकोलस ने जिस प्रकार इन विद्रोहों को कुचलने के लिए इन पर अमानुषिक अत्याचार किये, उससे उनका विद्रोही होना स्वाभाविक ही था। इन्होंने भी जार के विरूद्ध आन्दोलन में सक्रिय भाग लिया।

7. बौद्धिक क्रांतिः– रूस में कई वर्षों से पश्चिमी यूरोप के उदारवादी विचार प्रवेश कर रहे थे और जार तथा उसके प्रतिक्रियावादी पदाधिकारी उनका दमन करने में कोई कसर नहीं छोड रहे थे। फिर भी उदारवादी विचारों का यहाँ प्रसार हुआ। स्वयं रूस के टॉल्सटाय, तुर्गनेव, दोस्तोवस्की आदि उपन्यासकारों ने भी रूसी जीवन की विफलताओं की ओर जनता का ध्यान आकृष्ट किया। इनके विचारों से लोगों में राजनैतिक जागृति उत्पन्न हुई। शिक्षित वर्ग राजनैतिक अधिकारों की मांग करने लगा। इनके साथ ही कार्ल मार्क्स, मैक्सिम गोर्की और बाकुनिन के समाजवादी विचारों का भी देश के श्रमिकों एवं बुद्धिजीवियों पर प्रभाव पड़ा। देश में कई समाजवादी दल बन गये थे, जिनका प्रभाव कृषकों और मजदूरों पर बढ़ रहा था। इसी समय समाज में शून्यवाद का उदय हुआ, जिसने प्रचीन व्यवस्थाओं को मिटाने का प्रयत्न किया। प्रिंस कोप्टिकिन शून्यवाद का प्रमुख प्रचारक था।

8. रूस में समाजवाद का प्रसारः– पश्चिमी यूरोप के देशों में हुई औद्योगिक क्रांति का प्रभाव रूस पर भी पड़ना स्वाभाविक ही था। रूस में औद्योगिक क्रांति का आरम्भ उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में हुआ था। वहाँ औद्योगिक देशों की तरह 'श्रमिक

आन्दोलन' की भावना का प्रसार हुआ। यहाँ किसानों ने अपनी दयनीय स्थिति में सुधार के लिए भी विद्रोह किये। इन किसानों की दयनीय स्थिति से प्रभावित होकर कुछ मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों ने 1860 ई. के पश्चात् समाजवादी विचारधारा के आधार पर एक आन्दोलन आरम्भ किया। हर्जेन और चर्नीशेवेस्की इस आन्दोलन के मुख्य प्रणेता थे। उनके समर्थकों को 'नरोदनिक' या पापुलिस्ट कहा जाता था। वे चाहते थे कि रूस के कृषकों को भूमि का स्वामी माना जाए और ग्राम–सभाओं के माध्यम से भूमि का वितरण किया जाए। कुछ समय बाद समाजवादी दल दोभागों में विभाजित हो गया–पहला, क्रांतिकारी समाजवादी दल और दूसरा, सोश्यल डेमोक्रेटिक दल। क्रांतिकारी समाजवादी दल कृषकों को संगठित कर देश में क्रांति लाना चाहता था। इस दल ने आतंकवादी कार्यक्रम बनाये और कई हत्याएँ भी की। किन्तु सोश्यल डेमोक्रेटिक दल, जिसकी स्थापना 1898 ई. में हुई थी, सर्वहारा वर्ग को क्रान्ति का मुख्य आधार मानता था, कृषकों को नहीं। सोश्यल डेमोक्रेंटिक दल भी 1903ई. में दो दलों में विभक्त हो गया बोल्शेविक और मेनशेविक। जारशाही ने समाजवादी विचारों पर रोक लगाने का प्रयत्न किया किन्तु उसे पर्याप्त सफलता नहीं मिलीं

9. जार निकोलस द्वितीय का व्यक्तित्व एवं भ्रष्ट शासनः– फिशर के अनुसार ''रूस का जार निकोलस द्वितीय बड़ा अन्धविश्वासी और अयोग्य था। वह दुर्बल और हठी स्वभाव का मन्दबुद्धि था, जिसमें घटनाओं के महत्त्व और व्यक्तियों के चरित्र को समझने की शक्ति नहीं थी। उस पर महारानी अलैक्जैण्ड्रा का विशेष प्रभाव था। वह स्वेच्छाचारी शासन की पक्षपाती थी। जारीना रासपुटिन नामक साधु के हाथ की कठपुतली बनी हुई थी। रासपुटिन ने अपने व्यापक प्रभाव का लाभ उठाकर प्रशासन में हस्तक्षेप शुरू कर दिया। उच्च पदाधिकारियों की नियुक्ति एवं पदच्युति रासपुटिन के हाथ में आश्रित हो गई। फलस्वरूप राजदरबार में रासपुटिन के विरोध में एक दल बन गया, जिसने दिसम्बर, 1916 ई. में उसकी हत्या कर दी।

10. तत्कालिक कारण–प्रथम विश्व युद्ध में रूस का प्रवेश एवं आर्थिक संकटः–अगस्त, 1914 ई. में रूस ने प्रथम विश्वयुद्ध में मित्र राष्ट्रों की ओर से भाग लिया था। उस समय बोल्शेविक दल के पाँच सदस्यों को छोड़कर संसद के सभी सदस्यों ने शासन के इस निर्णय का स्वागत किया था। यदि जार निकोलस योग्य होता और प्रशासन ईमानदार होता, तो ऐसी परिस्थिति में जनमत को राजभक्त बनाया जा सकता था परन्तु इस समय भी रूस–जापान युद्ध के समय के इतिहास की पुनरावृत्ति हुई। युद्ध के प्रारम्भिक काल में रूस की सेनाओं को कुछ सफलता अवश्य मिली परन्तु कुछ ही समय बाद जापान के विरूद्ध रूस की सेनाएँ पराजित होने लगीं। सेनाओं को पर्याप्त मात्रा में अस्त्र–शस्त्र एवं खाद्य सामग्री नहीं मिल पा रही थी। यातायात व्यवस्था का पूर्ण विकास न होने के कारण समय पर रसद पहुँचाने में कठिनाई होती थी। सेना के अधिकारियों की आयोग्यता, प्रशासन के विभिन्न विभागों में व्याप्त भ्रष्टाचार तथा साम्राज्ञी एवं प्रमुख सामन्तों का युद्ध कार्य में हस्तक्षेप आदि के कारण रूस की सेनाओं की लगातार पराजय हुई। यद्ध के प्रथम तीन वर्षों में एक करोड़ 50 लाख सैनिक युद्ध क्षेत्र में भेजे गये, जिससे खेतों में काम करने वालों की कमी हो गई और कृषि उत्पादन में गिरावट आयी। खाद्य सामग्री के साथ–साथ अन्य वस्तुओं की भी कमी होने लगी। ऐसी स्थिति में जनसाधारण का असंतोष बढ़ना स्वाभाविक ही था। 1916–17 ई. के शीतकाल में रूस में घोर असंतोष व्याप्त था। उधर तो सेनाओं की निरंतर हार के अपमान से जनता क्षुब्ध थी, इधर अनाज, ईंधन, कपड़े आदि की कमी होने लगी और देश में दुर्भिक्ष की आशंका उत्पन्न होने लगी। इस अवस्था के लिए जनता जार की अव्यवस्था और कुप्रबन्ध को ही उत्तरदायी समझती थी।

फरवरी 1917 ई. की क्रांति और जारशाही का अन्तः–रूस में अव्यवस्था और कुप्रबन्ध की इस दशा को सुधारने के लिए विशेषज्ञों की एक कमेटी सरकार द्वारा नियुक्त की गई थी। इस कमेटी के विचार थे कि देश में अनाज और कपड़ा प्रचुर मात्रा में विद्यमान है, पर सरकारी अव्यवस्था और कुप्रबन्ध के कारण वह चोर–बाजार में चला गया है। फरवरी, 1917 ई. में मास्को में कुलीन वर्गों का एक सम्मेलन हुआ, इस वर्ग ने भी यह मांग की कि स्थिति को सम्भालने के लिए शासन में सुधार होना आवश्यक है तथा पार्लियामेन्ट का अधिवेशन शीघ्र बुलाना चाहिये। किन्तु सम्राट और उसके सहायंकों ने इस ओर कोई ध्यान नहीं दिया।

पेट्रोग्राड की मजदूर हड़ताल

अन्त में, मार्च, 1917 ई. को स्थिति अनियंत्रित हो गई। भूख और ठण्ड से ठिठुरते हुए गरीब मजदूरों ने पेट्रोग्राड की सड़कों पर दुकानों को लूटना आरम्भ कर दिया। सम्राट ने इन पर गोलियाँ चला कर हटाने का आदेश दिया किन्तु सिपाहियों ने गोलियाँ चलाने से इन्कार कर दिया। यही क्रांति का आरम्भ था। 8 मार्च, 1917 ई. को पेट्रोग्राड के कपड़े के कारखाने में काम करने वाली स्त्रियों ने हड़ताल कर दी क्योंकि उन्हें भर पेट भोजन नहीं मिल रहा था। अगले दिन पुरूष मजदूर भी उनके साथ सम्मिलित हो गये। हड़ताली लोगों ने एक जुलूस निकाला, जो शहर के मध्य भाग में प्रविष्ट हो गया। वे लोग 'रोटी दो' के साथ–साथ 'अत्याचारी शासन का नाश हो', के भी नारे लगा रहे थे। 10 मार्च 1917 को पेट्रोग्राड के सभी कारखानों में काम बन्द रहा और शहर के बाहरी भाग में मजदूरों ने पुलिस से हथियार छीन लिये। जार ने उपद्रवकारियों का दमन करने के लिए सेना भेजी किन्तु सैनिकों ने भी आन्दोलकारियों का साथ दिया। इसके दूसरे दिन सम्राट ने 'ड्यूमा' को भंग कर दिया, फिर भी तीन दिन तक यह संघर्ष चलता रहा। 12 मार्च 1917 के दिन सैनिक टुकड़ियाँ अधिकारियों के आदेश का उल्लंघन कर विद्रोहियों से मिल गयीं।

क्रांतिकारी सोवियत (परिषद) का गठन

1905–1907 ई. की क्रान्तियों के अपने अनुभव को ध्यान में रखकर क्रान्तिकारी सत्ता के नये निकाय–मजदूरों और सैनिकों ने मिलकर ''सैनिकों एवं मजदूरों के प्रतिनिधियों की 'क्रान्तिकारी' सोवियत'(परिषद) बना ली। शासन के वास्तविक अधिकार इस परिषद ने अपने हाथ में ले लिये। 14 मार्च 1917 को क्रान्तिकारी परिषद और ड्यूमा के सदस्यों की एक समिति ने मिलकर एक 'अस्थायी सरकार' गठित की, जिसका नेता प्रिंस ल्वोव को बनाया गया। इस 'अस्थायी सरकार' में क्रांतिकारी समाजवादी दल के नेता अलेक्जैण्डर करेन्स्की, अक्टूबरिस्ट दल के नेता गुशकाव तथा कान्स्टीट्युशनल डेमोक्रेटिक दल के नेता मिल्यूकाव को भी सम्मिलित किया गया। स्थिति को बिगड़ते देख 15 मार्च, 1917 ई. को जार निकोलस द्वितीय ने अपने भाई ग्रेण्ड ड्यूक माइकेल के पक्ष में सिंहासन का परित्याग कर दिया। तीन सौ साल से जो रोमानोव राजवंश शासन कर रहा था, उसका अब अन्त हो गया। रूस में राज्य क्रांति सफल हो गई। रूस की इस क्रांति में पेट्रोग्राड का वही स्थान था, जो फ्रांस की राज्य–क्रांति में पेरिस का था।

अस्थायी उदारवादी सरकार का मंत्रिमण्डलः– रूस की अस्थायी सरकार में क्रांतिकारी समाजवादी दल के नेता अलेक्जेण्डर केरेन्स्की को न्यायमंत्री, अक्टूबरिस्ट दल के नेता गुशकाव को युद्धमंत्री, कान्स्टीट्यूशनल डेमोक्रेटिक दल के नेता प्रोफेसर मिल्यूकाव को विदेशमंत्री और टेरेवेन्को को अर्थमंत्री बनाया गया। यद्यपि क्रांति का मुख्य श्रेय भूखे और नंगे मजदूरों को था, पर सम्राट को राज्यच्युत करके जो नई सरकार स्थापित हुई, उसका नेतृत्व कुलीन और मध्यम वर्ग के हाथों में पहुँच गया था। लिप्सन ने भी इस सम्बन्ध में लिखा है कि ''जार से शासन सत्ता मजदूरों ने छीनी थी, पर उन्होंने तुरन्त उसे मध्यम वर्ग को सौंप दी।''

बोल्शेविक विचारधारा के विकास में लेनिन का योगदानः–

समाजवाद को धरती पर स्थापित करने वाले, युगों के स्वप्न को साकार रूप देने वाला वास्तविक तत्वदर्शी कार्ल मार्क्स था। लेकिन, विश्व में प्रथम साम्यवादी सरकार की स्थापना करने एवं शासन के मार्क्सवादी माडल को ग्रंथों से उतारकार धरती पर लाने का श्रेय लेनिन को है। बाल्शेविक क्रांति के महानायक का जन्म रूस की वोल्गा नदी के समीप सिम्बिर्स्क नगर मे 22 अप्रैल 1870 ई. को हुआ था। इनके पिता का नाम इलिया उलियानोफ और मां का नाम अलेक्सान्द्रोला ब्लांक था। लेनिन का प्रारंभिक नाम व्लादिमिर इलिच उलियानोफ रखा गया था। वह बड़े भाई अलेक्सान्द्र से सबसे अधिक प्रभावित था। लेनिन को बचपन से इतिहास और साहित्य में बहुत रूचि थी। उसके सभी भाई–बहिनों ने क्रांतिकारी बनकर अपना जीवन देश और सर्वहारा वर्ग की मुक्ति के प्रयत्न में लगाया। इस समय रूसी क्रांतिकारियों के ही नही, रूसी कामगारों, किसानों तथा पराजित जातियों के ऊपर भी आये दिन अत्याचार होते रहते थे। रूस में होने वाली इन घटनाओं को लेनिन ने बड़े मनोयोग से देखा। उसके जीवन पर चेर्नीशेब्स्की के उपन्यास 'क्या करना है' का काफी प्रभाव पड़ा। अपने बड़े भाई के कारण लेनिन में आत्मानुशासन, विचार

शीलता, गंभीर मनोवृत्ति तथा कर्त्तव्य परायणता कूट–कूट कर भरी हुई थी। इन्होंने ने ही पहली बार 1885–86 में मार्क्स की प्रसिद्ध रचना 'दास केपिटल' लेनिन को पढ़ने हेतु दी थी। इसी समय से क्रांति के अंकुर लेनिन के मस्तिष्क में उपजने लगे।

सोश्यल डेमोक्रेटिक पार्टी का दो गुटों बोल्शेविक एवं मेन्शेविक में विभाजन

8 मई, 1887 ई. को जार अलेक्जेण्डर तृतीय की हत्या के जुर्म में लेनिन के भाई अलेक्सान्द्र उलियानोफ को फांसी के तख्ते पर लटका दिया गया। इस घटना के बाद लेनिन ने जारशाही ही नही बल्कि उसकी जड़ को उखाड़ फेंकने का संकल्प कर लिया था। अपने इस संकल्प में लेनिन अन्ततः सफल रहे। लेकिन उनका मानना था कि स्वेच्छाचारिता से लड़ने के लिये आतंकवाद का रास्ता गलत है। वह प्रचार, संगठन और नेतृत्व के बचाव की आवश्यकता से भलीभाँति परिचित था। पत्र–पत्रिकाओं द्वारा विचारों के प्रचार–प्रसार के साथ–साथ संगठन पर भी उसने पूरा ध्यान दिया। 'सोश्यल डेमोक्रेटिक पार्टी' की स्थापना उसके निर्वासन काल में 1898 ई. में ही हो चुकी थी, उसका प्रथम अधिवेशन भी उसकी अनुपस्थिति में हो चुका था। परन्तु इस दल की 'दूसरी पार्टी कांग्रेस'लेनिन के लिए अधिक महत्वपूर्ण थी। यह लंदन में 17 जुलाई, 1903 ई. को शुरू हुई। यहीं सोश्यल डेमोक्रेटिक दल का विभाजन हुआ। कांग्रेस के बहुमत ने लेनिन के क्रान्तिकारी कार्यक्रम का समर्थन किया। बहुमत को रूसी भाषा में ''बोलशिन्स्त्वो'' कहते हैं, इसी से 'बोल्शेविक' शब्द प्रचलित हुआ। लेनिन विरोधी धड़ा अल्पमत में था, रूसी भाषा में अल्पमत को 'मेन्शिन्स्त्वों' कहते हैं, इसी से 'मेन्शिविक' शब्द विकसित हुआ। बोल्शेविकों ने स्वयं को क्रान्तिकारी और मेन्शेविकों को सुधारवादी एवं अवसरवादी माना। अल्पमत और बहुमत का यह दावा लेनिन समर्थकों का था। कांग्रेस में तो प्रतिनिधि सीमित थे, रूस से दूर लंदन में बैठकर बहुमत का अंकन कर लिया जाए तो अलग बात है, रूस में तो 1917 ई. के प्रारम्भ तक वस्तुतः मेन्शेविकों का प्रभाव अधिक था।

युद्धकाल में लेनिन को आस्ट्रिया और जर्मनी का सहयोग

लेनिन ने उदार लोकतांत्रिक देशों की राजनीतिक स्वतन्त्रता का उपभोग किया परन्तु स्वयं ने असहमति या विरोध को सहन नहीं किया–यह एक विरोधाभास लगता है। अपने से असहमत पार्टीजन या विचारक को प्रायः संशोधनवादी या अवसरवादी बताना राजनीतिक फैशन है। लेनिन ने पार्टी के संगठनात्मक ढांचे, उसके अधिवेशनों, कार्यक्रमों आदि के द्वारा निरन्तर पार्टी पर अपनी पकड़ मजबूत बनाई, विरोधियों का सफाया किया।

लेनिन अपने अग्रज की तरह भावुक क्रान्तिकारी नहीं था, जो दो–चार की हत्या कर स्वयं भी सत्ता के हत्थे चढ़ जाए। उसने संकट की घड़ी में बिना हिचक पलायन किया और मौका आने पर ही लौटा। आश्चर्य का विषय है कि 1905, फरवरी (मार्च) 1917 और अक्टूबर (नवम्बर), 1917 ई. में जब रूस में क्रांतियाँ उफन रही थीं, लेनिन विदेशों में था।

25 अक्टूबर (7 नवम्बर), 1917 ई. को बोल्शेविक क्रान्ति सफल होने पर ही वह फिनलैण्ड से लौटकर रूस पहुँचा। 1900–17 ई. के बीच उसका अधिकांश समय विदेशों में ही व्यतीत हुआ। युद्धकाल में आस्ट्रिया और जर्मनी का उसे संभवतः सहयोग मिला था। क्योंकि एक रूसी होते हुए भी वह रूस के प्रथम विश्व युद्ध में सम्मिलित होने का विरोधी था, यह उन देशों के अनुकूल था। इसिलिए ऑस्ट्रिया ने उसे रूसी जासूस के चक्कर में 8 अगस्त, 1914 को बन्दी बनाया, और 19 अगस्त,1914 ई. में उसे छोड़ भी दिया। वह रूस की जारशाही का विरोध करते हुए 1912–14 ई. के बीच आस्ट्रियन सीमा में बिना किसी बाधा के रहता रहा। जर्मनी ने उसे अप्रैल, 1917 को अपनी सीमाओं से होते हुए युद्ध काल में रूस पहुँचाया। मार्च, 1918 में लेनिन की सरकार ने जर्मनी के साथ ब्रेस्ट–लिटोवस्क की अपमानजनक सन्धि की। इससे बोल्शेविकों के प्रति युद्धकाल में जर्मनी की उदारता का कारण समझ में आ सकता है। अपने विदेश प्रवास द्वारा यूरोपीय देशों में बोल्शेविकों का एक नेटवर्क विकसित हुआ, प्रचार तन्त्र विकसित हुआ, लेनिन रूस में सम्भावित दमन से भी बच सका और दूर होने से पार्टी की राजनीति पर अधिक प्रभावी नियन्त्रण रख सका। 'बोल्शेविक पार्टी' का नाम बाद में लेनिन ने 'कम्युनिस्ट पार्टी' रखा। लेनिन के सुयोग्य नेतृत्व और मजबूत संगठन के बल पर बोल्शेविक 25 अक्टूबर (7 नवम्बर), 1917 को सत्ता हस्तगत

करने में सफल हुए।

अक्टूबर (नवम्बर), 1917 ई. की बोल्शेविक क्रान्ति

वर्णित क्रान्तियों के क्रम में इसका स्थान तीसरा था। स्थायित्व एवं प्रभाव की दृष्टि से यह चरण अधिक महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ। 1898 ई. में सोश्यल डेमोक्रेटिक पार्टी, तत्पश्चात् 1903 ई. में में इसके गुट बोल्शेविक दल का उदय, उसके विकास एवं नेता लेनिन की गतिविधियों का लेखाजोखा पूर्व शीर्षक में अंकित किया गया है। इससे स्पष्ट है कि रूस की सत्ता हस्तगत करने हेतु बोल्शेविक संगठन एवं प्रचार के स्तर पर 1917 की प्रथम क्रान्ति के बाद बहुत सक्रिय हो गए। वे सरकार का तख्ता पलटने हेतु एक अवसर की तलाश में थे। बोल्शेविकों ने सरकार के विरूद्ध प्रचार करते हुए सर्वहारा के मन में उसके प्रति आक्रोश का भाव भरा। केरेन्सकी सरकार बहुत दुर्बल थी, सभी प्रमुख दल सरकार से पृथक हो गए थे। फिनलैण्ड में निर्वासित जीवन बिता रहे लेनिन ने समय का मूल्य आंकते हुए 12–13 सितम्बर को वहाँ से रूस में बोल्शेविक कार्यकारिणी को गुप्त पत्र लिखकर कहा कि अब सशस्त्र क्रान्ति द्वारा सत्ता हस्तगत करने का समय आ गया है।

क्रान्ति के लिए पोलित ब्यूरो एवं सैनिक क्रान्तिकारी समिति की नियुक्ति

बोल्शेविक दल की कार्यकारिणी ने 10 अक्टूबर (23 अक्टूबर), 1917 ई. को लेनिन के निर्देशानुसार सशस्त्र क्रान्ति द्वारा सत्ता हस्तगत करने का निर्णय किया और योजना कार्यान्वित करने के लिए एक 'पोलितब्यूरो' की नियुक्ति की। ट्राटस्की, जो पेट्रोग्राद सोवियत का प्रधान बन गया था, ने सोवियत की 'सैनिक क्रान्तिकारी समिति' नियुक्त कर दी। बोल्शेविक नेताओं ने निश्चय किया कि 25 अक्टूबर 1917 को होने वाले 'अखिल रूसी सोवियत सम्मेलन' से पहले क्रान्ति की योजना कार्यान्वित कर दी जाए। केरेन्सकी सरकार की स्थिति डाँवाडोल थी। सरकार को बोल्शेविक गतिविधियों की भनक पड़ी तो उसने बोल्शेविक नेताओं को बन्दी बनाने की आज्ञा निकाली। परन्तु इस समय तक क्रान्ति की तैयारियाँ पूर्ण हो चुकी थीं। सैनिक क्रान्तिकारी समिति के सदस्य ट्राटस्की, पोदवाइस्की और लाशेविच सशस्त्र आक्रमण की तैयारियाँ कर चुके थे।

24–25 अक्टूबर 1917 (6–7 नवम्बर) की संधि–बेला में बोल्शेविकों के लाल रक्षकों और नियमित सैनिकों की टुकड़ियों ने योजनानुसार पेट्रोग्राद में बिना किसी प्रतिरोध के टेलीफोन केन्द्र, डाक–घर, बिजली–घर, रेल्वे स्टेशन, राष्ट्रीय बैंक आदि प्रमुख स्थानों पर कब्जा कर लिया–रात्रि में वहाँ प्रतिरोध करने को था ही कौन, फिर एक दुर्बल सरकार प्रतिरोध भी क्या करती? 25 अक्टूबर (7 नवम्बर), 1917 ई. को प्रातःकाल बोल्शेविकों के नेतृत्व में कामगारों और सैनिकों ने पेट्रोग्राद में रूस के पूर्व जार के शीतप्रसाद पर अधिकार कर लिया, सरकार के मंत्रियों को बंदी बना लिया गया। केरेन्सकी राजधानी छोड़कर भाग गया। राजधानी पेट्रोग्राद (पूर्व में सेण्ट पीटर्सवर्ग, बाद में लेनिनग्राद) में सभी प्रमुख स्थानों पर इश्तहार चिपकाए गए, जिसमें घोषित किया गया–''अस्थायी सरकार को समाप्त कर दिया गया है और उसके स्थान पर सर्वहारा वर्ग की क्रान्तिकारी समिति तथा पेट्रोग्राद के गेरीसन ने सत्ता ग्रहण कर ली है।''

इस प्रकार बिना रक्तपात के, कुछ घण्टों में ही सत्ता सूत्र बोल्शेविक दल को हस्तान्तरित हो गए, राजधानी पर उनका आधिपत्य हो गया। क्रान्ति के विषय में ट्राटस्की ने पेट्रोग्राद सोवियत को अपने प्रतिवेदन में कहा–'लोग कहते थे कि जब बलवा होगा तो क्रान्ति रक्त की नदियों से डूब जाएगी, परन्तु हमने एक भी व्यक्ति की मृत्यु की खबर नहीं सुनी। इतिहास में ऐसा कोई उदाहरण नहीं है कि किसी क्रान्ति में इतने लोग सम्मिलित हों और वह रक्तहीन हो।' ट्राटस्की की गर्वोक्ति दम्भपूर्ण लगती है। क्योंकि रूस की ही पिछली क्रान्ति जो सप्ताह भर से ज्यादा चली थी (नए मार्च, 1917 में) उसमें भी कोई रक्तपात नहीं हुआ जबकि सामने निरंकुश जारशाही थी। दूसरे, बोल्शेविक क्रान्ति अचानक रात को प्रारम्भ हुई और प्रातः काल तक पूर्ण हो गई, दूसरा पक्ष मैदान में ही नहीं था तो रक्तपात की जरूरत ही नहीं पड़ी। परन्तु रक्तपात तो क्रान्ति के बाद हुआ। ए. राथेन्सटीन (ए हिस्ट्री ऑव दि यू.एस.एस.आर.) के अनुसार 'तीन वर्ष के संघर्ष में 13.50 लाख लोग मारे गए या घायल हुए।' स्वयं ट्राटस्की को भी स्वीकार करना पड़ा कि जनता को लाल आतंक का त्रास सहना पड़ा। साधारण जनता को क्रान्तिकारियों के 'लाल आतंक' और प्रतिक्रान्तिकारियों के 'श्वेत आतंक' का शिकार होना पड़ा। ऐसा आमूलचूल परिवर्तन होगा तो उसके परिणामस्परूप हिंसा–प्रतिहिंसा का दौरा

आएगा ही।

बोल्शेविक सरकार का गठनः—

7 नवम्बर, 1917 ई. (आगे सभी तिथियाँ नए कैलेण्डरानुसार) को बोल्शेविकों ने सत्ता पर कब्जा कर लिया। उसी दिन उनका नेता लेनिन भी फिनलैण्ड से रूस लौट आया। सांयकाल पूर्व निर्धारित 'अखिल रूसी सोवियत सम्मेलन' का अधिवेशन प्रारम्भ हुआ। उसके 649 प्रतिनिधियों में से 390 बोल्शेविक थे, अब उनका प्राधान्य था। लेनिन ने युद्धबन्दी और भूमिपतियों से भूमि छीनने का प्रस्ताव प्रस्तुत किया। सम्मेलन ने इसे स्वीकार किया तथा अस्थायी सरकार को हटाकर नई सरकार बनाने का स्वागत किया। 8 नवम्बर, 1917 ई. को लेनिन की अध्यक्षता में नई सरकार का प्रथम मंत्रिमण्डल (काउन्सिल ऑफ पीपुल्स काम्मिसार) गठित किया गया। नई सरकार में ट्राटस्की को विदेशमंत्री, स्टालिन को राष्ट्रिक—जातियों का मंत्री राइकाव को गृहमन्त्री बनाया गया। नवीन सरकार ने युद्ध बन्द कर केन्द्रीय शक्तियों से सन्धि करना, राज्य में व्यापक राजनैतिक, सामयिक एवं आर्थिक परिवर्तन करना तथा सर्वहारा वर्ग की क्रान्ति का विश्व में प्रसार करने का निर्णय लिया।

गृह कलह और विदेशी राज्यों का हस्तक्षेपः—

बोल्शेविक दल को अपने शासन के प्रारम्भिक तीन वर्षों (1917—20 ई.) में गृह—कलह का सामना करना पड़ा। बोल्शेविक सरकार से अन्य राजनीतिक दलों का विरोध तो था ही, साथ ही जिन लोगों की भूमि छिन गई थी वे और सैन्य अधिकारी भी उससे असंतुष्ट थे। इन क्रान्ति विरोधियों के विरूद्ध सरकार को कठिन संघर्ष करना पड़ा। मित्र राज्यों ने बोल्शेविक सरकार द्वारा जर्मनी से संधि कर लेने के पश्चात् रूस के प्रतिक्रान्तिकारियों का खुला समर्थन कर लेनिन सरकार का संकट और बढ़ा दिया। मित्र राज्यों की सेनाओं ने रूस के विभिन्न क्षेत्रों में बोल्शेविक विरोधियों के सहयोग से 'श्वेत सरकारें' स्थापित कीं। ये सरकारें विभिन्न सैन्य अधिकारियों के नेतृत्व में स्थापित हुई। कुछ समय तक तो बोल्शेविक सरकार का अधिकार पेट्रोग्राद और मास्को के आस—पास तक ही सिमट गया। परन्तु अन्त में लेनिन की विजय हुई।

लाल सेना और चेका का आतंकराजः—

बोल्शेविकों ने विदेशी सेनाओं और जार के पूर्व सेनापतियों का सामना करने हेतु शक्तिशाली 'लाल सेना' का गठन किया। प्रतिक्रान्तिकारियों की सेना को 'श्वेत सेना' कहा गया। जनता को लाल और श्वेत दोनों प्रकार के आतंक का कोपभाजन बनना पड़ा। संघर्ष के दौरान बोल्शेविकों ने जार और जारीना की जुलाई, 1918 में हत्या कर दी। जार और उसका परिवार पेट्रोग्राद के राजमहल में बंदी जीवन व्यतीत कर रहा था। बोल्शेविक सरकार ने उन्हें वहाँ से हटाकर यूराल प्रदेश के 'इकेटेरिनबर्ग' नामक स्थान पर भेज दिया। वहीं जार और उसकी पत्नी की गोली मारकर नृशंसतापूर्वक हत्या कर दी गई। बोल्शेविकों ने प्रतिक्रान्तिकारियों के दमनार्थ एक गुप्त, क्रान्तिकारी न्यायालय 'चेका' का संक्षिप्त रूप की स्थापना की। चेका ने हजारों प्रतिक्रान्तिकारियों को पकड़ कर गोली से उड़ा दिया और आतंकराज स्थापित किया। इसका अध्यक्ष फेलिक्स केरजिंस्की आतंकवादी नीति को आवश्यक मानता था। चेका ने प्रतिक्रान्तिकारियों का निर्ममतापूर्वक दमन किया। 'लाल सेना' ट्राटस्की के नेतृत्व में बहुत शक्तिशाली हो गई तो मित्र राज्यों को भी अपनी सक्रिय हस्तक्षेप की नीति बदलती पड़ी। फिर एक—एक कर विद्रोही सेनापतियों को लाल सेना ने परास्त कर दिया, वे आपस में संगठित नहीं हो पाए।

इस प्रकार चेका, लाल सेना आदि की मदद से प्रतिक्रान्तिकारियों और मित्र राज्यों के सैनिक हस्तक्षेप से उत्पन्न संकट पर काबू पा लिया गया। एक तो विदेशी हस्तक्षेप से रूसी देशभक्तों की राष्ट्रभक्ति जागृत हुई, उसका लाभ बोल्शेविकों को मिला। दूसरे, जिन कृषकों को नई सरकार ने भूमि वितरित की, उन्होंने भी बोल्शेविकों का साथ दिया। इन तीन वर्षों में रूस की आर्थिक स्थिति अत्यन्त निराशाजनक हो गई, कृषि और औद्योगिक उत्पादन आधा रह गया (1913 की तुलना में) और ईंधन, मिट्टी का तेल, बिजली, कपड़े इत्यादि वस्तुओं का अभाव हो गया। संघर्ष में 13.50 लाख लोग मारे गए। 'न्यू केम्ब्रिज मॉडर्न हिस्ट्री—खण्ड—12' के अनुसार जिनोवीव, जो 1917 की क्रान्ति का एक नेता था, ने अक्टूबर, 1920 में जर्मन समाजवादियों के समक्ष बोलते हुए यह स्वीकार किया था—''हमने कभी यह कल्पना नहीं की थी कि गृह कलह के काल में हमें इस प्रकार की आतंकवादी नीति अपनानी पड़ेगी और हमारे हाथ खून में रंग जायेंगे।''

बोल्शेविक क्रान्ति के परिणाम

1917 ई. की बोल्शेविक क्रान्ति के अनेक दूरगामी

परिणाम हुए। इसके परिणामों को बिन्दुओं के रूप में निम्नानुसार दर्शाया जा सकता है–

(अ) राजनीतिक परिणाम

1. केरेन्सकी सरकार का पतन : बोल्शेविकों ने 6–7 नवम्बर, 1917 ई. को केरेन्सकी सरकार का तख्ता, बिना एक बूंद रक्त बहाए, पलट दिया। केरेन्सकी क्रान्तिकारी समाजवादी दल का नेता था, उसकी सरकार में अन्य दल भी सम्मिलित थे। अपने अन्तिम समय में यह साझा सरकार एकदम दुर्बल एवं एकाकी हो गई थी। बोल्शेविकों को रोमानोव राजवंश के पतन के लिए उत्तरदायी ठहराना उपयुक्त नहीं है, क्योंकि उसे तो 1917 की प्रथम क्रान्ति ही समाप्त कर चुकी थी।

2. प्रथम साम्यवादी सरकार की स्थापना : साम्यवादी सरकार की स्थापना का यह विश्व में पहला प्रयोग था। मार्क्स का विचार कभी कार्यरूप ले सकेगा, यह रूस में बोल्शेविकों ने सम्भव कर दिखाया। सिद्धान्त और व्यवहार में कभी–कभी बहुत फासला होता है। बोल्शेविक प्रयोग ने मार्क्सवादी विचारकों को अपने दर्शन के परीक्षण हेतु एक प्रयोगशाला उपलब्ध करवायी।

3.रूस का युद्ध से प्रथक होना : बोल्शेविक प्रारम्भ से ही प्रथम विश्व युद्ध में रूस के भाग लेने के विरोधी थे। उन्होंने इसे दो साम्राज्यवादी खेमों का आपसी संघर्ष बताया था। अस्थायी गल्वोव और केरेन्सकी सरकारों से भी उन्होंने युद्ध से अलग होने की मांग की थी। वे 'शान्ति, रोटी और भूमि' के नारों से जन–मानस को प्रभावित करते रहे। युद्ध में जर्मनी के हाथों रूस की निरन्तर पराजय से जनता भी युद्ध के विरूद्ध हो गई थी। नई सरकार ने अपनी नीति के अनुसार बिना मित्र राज्यों से परामर्श किए जर्मनी से मार्च, 1918 में 'ब्रेस्ट लिटोवस्क सन्धि' करके रूस को प्रथम विश्वयुद्ध से पृथक कर दिया।

4. मित्र राष्ट्रों का असंतोष और गृह–युद्ध में हस्तक्षेप : रूस ने अपने मित्रों (मित्र राष्ट्र = सहबद्ध एवं सहचर शक्तियाँ) से परामर्श किए बिना ही जर्मनी के साथ सन्धि कर ली तो मित्र राष्ट्र असंतुष्ट हो गए। अब जर्मनी पूर्वी मोर्चे से निश्चित होकर पश्चिमी मोर्चे पर पश्चिमी राज्यों के लिए अधिक कठिनाई उपस्थित कर सकता था। मित्र राज्य ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस आदि उससे नाराज हो गए। उन्होंने बोल्शेविक सरकार के विरूद्ध रूस से उभरे असंतोष को सैनिक सहायता उपलब्ध कराकर, वहाँ गुह–युद्ध की स्थितियाँ पैदा कर दी। नई सरकार को प्रारम्भिक तीन वर्षों तक गृह–युद्ध में उलझे रहना पड़ा, एक समय तो उसका अधिकार राजधानी और उसके आस–पास के प्रदेशों तक ही सीमित रह गया। अधिकांश प्रान्तों पर अलग–अलग सेनापतियों ने अपनी सरकारें स्थापित कर लीं। 1920 ई. में पश्चिमी शक्तियों ने अपना हस्तक्षेप समाप्त किया।

5. साम्यवादी व्यवस्था एवं विचारधारा का प्रसार : चूंकि साम्यवाद राष्ट्र, राज्य या देश की परिधि को स्वीकार नहीं करता, बोल्शेविक क्रान्ति को भी उन्होंने रूस की चार–दीवारी में कैद रखना उपयुक्त नहीं समझा। साम्यवादी विचारधारा को विश्व भर में प्रसारित करने हेतु ही मार्च, 1919 में मास्को में तृतीय (प्रथम कम्युनिस्ट) इण्टरनेशनल या 'कोमिन्टर्न' की स्थापना की गई। जी.एम. गेथोर्न हार्डी (अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का संक्षिप्त इतिहास : 1920–39) के अनुसार, 'वस्तुतः सोवियत नीति के पहले नेता अपने आपको विश्वव्यापी आर्थिक और सामाजिक क्रान्ति के मिशनरी या प्रचारक समझते थे और उनके लिए रूस सिर्फ एक ऐसा उपकरण था, जिसके द्वारा उनके अन्तिम लक्ष्य की सिद्धि हो सकती थी। राष्ट्रवाद उनके विचारों से असंगत था।

6. नागरिक स्वतन्त्रताओं का हनन : बोल्शेविक क्रान्ति के फलस्वरूप रूस आर्थिक और सामाजिक स्वतंत्रता की दिशा में तो आगे बढ़ा परन्तु राजनीतिक स्वतंत्रता का हनन हुआ। रूस में कम्युनिस्ट पार्टी एकमात्र वैधानिक दल घोषित कर दिया गया, उसमें भी असहमत, असंतुष्ट लोगों का दमन कर दिया जाता था। भाषण, लेखन, संगठन और आस्था की जिस स्वतन्त्रता का बोल्शेविकों ने जारशाही के युग में भी किसी न किसी रूप में उपभोग किया था, अपने शासन में उन्होंने उसका पूर्णतः उन्मूलन कर दिया। असहमत या असंतुष्ट का स्थान साइबेरिया या परलोक में हो सकता था या बन्दीगृह में।

7. गृह–युद्ध और आतंक : बोल्शेविकों के सत्ता में आने के बाद रूस को गृह–युद्ध में उलझना पड़ा। प्रतिपक्षी राजनीतिक दल, सामंतों–कुलीनों और मित्र राज्यों की सेनाओं से रूस की नई सरकार को संघर्ष करना पड़ा। दोनों पक्षों की ओर से नृशंसता, आतंक और निर्दयता का परिचय दिया गया।

बोल्शेविकों ने 'लाल आतंक' और विरोधी सेनापतियों ने 'श्वेत आतंक' द्वारा रूसवासियोंको आक्रान्त किया। बोल्शेविकों की अंतिम विजय (1920 ई.) के बाद इन्होंने आतंकऔर भय के आधार पर अपनी सत्ता बनाए रखने का प्रयत्न किया। दल या उसके नेता की नतियों से असहमत व्यक्ति या संस्था को 'प्रतिक्रियावादी' घोषित करना, संस्था को भंग करना, व्यक्ति को बन्दी गृह, साइबेरिया या यमलोक पहुँचाना बोल्शेविक नीति का अंग रहा है। दल में अपने प्रतिस्पर्धियों के साथ भी ऐसा ही व्यवहार किया जाता था, ट्राटस्की के साथ नेतृत्व की होड़ में स्टालिन द्वारा किया गया व्यवहार इसका पुख्ता प्रमाण है।

8. रूस का विश्व शक्ति के रूप में उदय : बोल्शेविक सरकार ने मार्च, 1918 ई. में जर्मनी के निर्देशानुसार ब्रेस्ट–लिटोवस्क सन्धि पर हस्ताक्षर किए तो रूस एक शिथिल, विश्रृंखल और निर्बल राज्य प्रतीत हो रहा था। परन्तु क्रान्ति के परिणामस्वरूप आगामी 5–7 वर्षों में ही रूस एक महाशक्ति के रूप में उभर आया। द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति से 1991 ई. में सोवियत संघ के विघटन तक रूस यानी सोवियत संघ विश्व की प्रमुख दो महाशक्तियों में से एक था।

9. पराधीन राष्ट्रों में नवचेतना का संचरण : रूसी सरकार ने विश्व में सर्वत्र दबे–कुचले लोगों को समर्थन दिया। एशिया और अफ्रीका के पराधीन राज्यों ने रूस की क्रान्ति से प्रेरणा ग्रहण की। प्रत्येक क्रान्तिकारी घटना, सार्वदेशिक और सार्वकालिक प्रभाव छोड़ती है। फ्रांसीसी क्रान्ति स्वयं फ्रांस में निढ़ाल हो गई परन्तु इसने विश्व भर में पीड़ित जनमत को जगाने का कार्य किया। रूसी क्रान्ति ने भी चीन, भारत सहित अनेक देशों के लोगों में राष्ट्रवादी एवं प्रगतिशील भावनाएँ जगाकर, साम्राज्यवादी शक्तियों के विरूद्ध संघर्ष हेतु उन्हें प्रेरित किया।

10. अधिनायकवाद का उदय : बोल्शेविकक्रान्ति ने जिस सर्वहरा अधिनायकतन्त्र को स्थापित किया वह कालान्तर में सर्वाधिकारवाद या नेता का अधिनायकवाद प्रमाणित हुआ। रूसी क्रान्ति ने 20वीं सदी में एक सैद्धान्तिक सर्वसत्तावादी राज्य स्थापित किया, जबकि यूरोप राजनीतिक स्वतन्त्रताओं की दिशा में अग्रसर था। इटली और जर्मनी के सर्वसत्तावादी अधिनायकतंत्रों ने रूस से कितनी प्रेरणा ग्रहण की यह तो स्पष्ट नहीं परन्तु प्रभाव अवश्य पड़ा। पश्चिमी लोकतांत्रिक शक्तियों ने भी सोवियत संघ के बोल्शेविक प्रेत को रोकने के लिए फासिज्म, नाजीवाद जैसी अधिनायकवादी शक्तियों का तुष्टीकरण किया।

11. विश्व का दो ध्रुवों में बंटना : यद्यपि सोवियत संघ ने पहले कुछ वर्षों तक अपने समाजवाद की परवरिश में ही अधिक समय लगाया। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद उसने अन्य राज्यों में समाजवाद की अधिक प्रखर पैरवी की। अब विश्व पूँजीवादी और साम्यवादी दो खेमों में बँट गया। यह रूस की क्रान्ति का दूरगामी परिणाम था। बाद में साम्यवादी खेमे में दरारें आने लगी तथा तीसरा निर्गुट खेमा भी उभरा।

(ब) सामाजिक परिणाम

रूसी क्रांति सामाजिक असमानता के गर्भ से ही पैदा हुई थी। इसने सामाजिक क्षेत्र में व्यापक असर डाला।

1. वर्ग भेद का विलोपन :रूस में कुलीन और सर्वहरा वर्ग में जो भेद था, क्रांति ने उसे मिटा दिया। प्रारम्भ में तो तथाकथित कुलीनों के विशेषाधिकारों के खात्मे के साथ, उनके सामान्य अधिकारों को भी नकारा गया। बोल्शेविकों ने संगठित श्रमिकों को प्रारम्भ में एक विशिष्ट वर्ग बनाने का प्रयत्न किया। परन्तु कालान्तर में भूमि पुत्र किसानों को भी समान महत्व दिया गया। धीरे–धीरे रूसी समाज में सारे वर्ग–भेद विलुप्त होते गए। यद्यपि पार्टी अभिजत्य तो अस्तित्व में आये परन्तु जन्मगत अभिजात्य समाप्त हो गए।

2. स्त्रियों की दशा में सुधार : रूसी क्रान्ति ने लिंग आधारित परम्परागत भेदभाव को भी नष्ट कर दिया। महिलाओं को पुरूषों के समान मताधिकार, शिक्षा का अधिकार और आजीविका कमाने का अधिकार दिया गया। महिलायें आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर, राजनीतिक दृष्टि से जागरूक और सामाजिक दृष्टि से प्रगतिशील बन गई।

3. शिक्षा का विकास एवं बोल्शेविकीकरण : रूसी क्रान्ति के परिणामस्वरूप एक सकारात्मक परिणाम यह हुआ कि शिक्षा पर से चर्च का शिकंजा हटा दिया गया। अब शिक्षा का बोल्शेविकीकरण हो गया–पाठ्यक्रम, पाठ्यपुस्तक और अध्यापन सभी स्तरों पर। यह एक नकारात्मक प्रभाव था। परन्तु शिक्षा सार्वजनिक हुई, आम जन को सुलभ हुई। साक्षरता का तो तीव्र गति से विकास हुआ।

4. नास्तिक विचारों को प्रोत्साहन : साम्यवादी धर्म को अफीम मानते थे, अतः रूसी क्रान्ति के बाद वहाँ नास्तिक विचारधारा का योजनापूर्वक विकास किया गया। 1925 ई. में एक नास्तिक संघ का गठन किया गया। साम्यवादी पार्टी के सदस्यों का धार्मिक होना निषिद्ध था। चर्च को शोषण और जारशाही का औजार मानने के कारण उसका प्रभुत्व तोड़ा गया, उस पर प्रतिबन्ध लगाया गया और उसके विरूद्ध अभियान चलाया गया। चर्च को 1918 ई. की आज्ञप्ति द्वारा राज्य से पूर्णतः पृथक कर दिया गया।

(स) आर्थिक परिणाम

1. आर्थिक समानता की स्थापना :क्रान्ति से पूर्व रूस में आर्थिक विषमता थी। 19वीं सदी के अंत तक 30 हजार बड़े जमींदारों के पास 7 करोड़ डेसयाटिन भूमि थी जबकि 1 करोड़ कृषकों के पास 7.50 करोड़ डेसयाटिन भूमि ही थी (1 डेसयाटिन = 2.7 एकड़)। समाज में अधिकार–युक्त तथा अधिकार–वंचित दो वर्ग थे। रूसी क्रान्ति के फलस्वरूप जागीरदारों से भूमि का अधिग्रहण कर सरकार ने पुनर्वितरण किया, उद्योगों का राष्ट्रीयकरण किया, निजी व्यापार को सीमित किया एवं उत्पादक श्रम को महत्व दिया गया। आय के विषम वितरण पर नियन्त्रण कायम हुआ और असमानता की खाई पाट दी गई।

2. रूस का औद्योगिक विकास : जार अलेक्जेण्डर तृतीय के काल में रूस का औद्योगिकीकरण प्रारम्भ हुआ था। क्रान्ति के समय रूस औद्योगिक विकास की दृष्टि से यूरोप के अन्य राज्यों से काफी पिछड़ा हुआ था। क्रान्ति के बाद रूस ने तीव्र गति से प्रगति की। बड़े–बड़े आधारभूत उद्योगों की सरकार ने स्थापना की। श्रमिकों की कार्यदशा एवं क्षमता में भी सुधार हुआ। रूस औद्योगिक उत्पादन की दृष्टि से आत्मनिर्भर हो गया। विडम्बना ही है कि मार्क्स के अनुसार जिस औद्योगिक विकास को वहाँ साम्यवाद का जनक बनना था वह वहाँ साम्यवाद की संतान बन गया।

3. श्रमिकों एवं कृषकों के जीवन–स्तर में सुधार : अर्द्धदासों, सीमान्त और भूमिहीन किसानों और कामगारों का युद्ध पूर्व जीवन काफी कष्टमय था। पेट्रोग्राद की सड़कों पर फरवरी (मार्च) 1917 ई. की प्रथम क्रान्ति के समय कामगारों की भीड़ रोटी की तलाश में ही उतरी थी। बोल्शेविक क्रान्ति भी 'रोटी' की मांग का परिणाम थी। क्रान्ति के प्रारम्भिक वर्षों में गृह–कलह और नीतियों की अस्पष्टता के कारण अफरा–तफरी रही। कलान्तर में इस वर्ग की आय तथा कार्यदशा में सुधार हुआ। शिक्षा, स्वास्थ्य का प्रबन्ध व्यवस्थित हुआ। जीवन–स्तर में काफी उन्नति हुई।

सोवियत संघ का परवर्ती इतिहास और स्टालिन

जनरवरी, 1924 में लेनिन की मृत्यु के पश्चात् दल और सरकार का शीर्षस्थ पद प्राप्त करने हेतु लेव दव्यदोविच ब्रोंन्सटेन उर्फ लियो ट्रॉटस्की और जोसेफ विसरियोनोविच जुगश्विली उर्फ जोसेफ स्टालिन के मध्य सत्ता संघर्ष में स्टालिन को सफलता मिली। ट्राटस्की को 1927 ई. मे पार्टी से निकाल दिया गया तथा 1928 ई. में दूरस्थ प्रदेश में निर्वासित कर दिया गया। ट्राटस्की ने मध्य एशिया से भी स्टालिन के विरूद्ध गतिविधियाँ जारी रखीं तो 1928–29 ई. के शीतकाल में स्टालिन ने दमन का आदेश दिया। तेजी से रूस से निकलते हुए ट्राटस्की कुस्तुन्तुनिया के निकट जा बसा, वहाँ उसने आत्मकथा लिखी, बोल्शेविक क्रान्ति का लेखाजोखा किया और स्टालिनवाद पर प्रहार किया।

स्टालिन का जन्म गोरी नामक गाँव में 1879 ई. में एक चर्मकार परिवार में हुआ। उसके पिता उसे पादरी बनाना चाहते थे। परन्तु उसकी मार्क्सवाद में अधिक रूचि थी। वह सोश्यल डेमोक्रेटिक पार्टी से सक्रियता से जुड़ गया। 'स्टालिन' नाम स्टील के आधार पर पड़ा। वह 1903 में लेनिन के प्रथम अनुयायी बोल्शेविकों में से एक था। 1902–13 ई. के मध्य उसे 6 बार कैद किया गया एवं निर्वासित किया गया। पाँच बार वह बचकर निकल गया परन्तु 1913 में उसे आर्कटिक वृत्त में भेज दिया गया, जहाँ वह मार्च, 1917 की क्रान्ति के बाद मुक्त होने तक रहा। स्टालिन ने रूस में रहकर आन्दोलन चलाना उपयुक्त समझा। वह पार्टी का महासचिव था, सरकार बनने पर राष्ट्रिक जातियों का मंत्री भी बनाया गया। वह समाजवाद को पहले रूस में केन्द्रित करने के पक्ष में था। स्टालिन ने कमेनेव और जिनोवेव के सहयोग से ट्रॉटस्की को परे धकेल कर, सर्वोच्च सत्ता अर्जित करने में सफलता प्राप्त की। स्टालिन ने लेनिन के उत्तराधिकारी के रूप में सत्ता हस्तगत की व 6 मार्च, 1953 ई. को उसकी मृत्यु हुई। उसके लम्बे शासन काल में सोवियत संघ ने बहुत प्रगति की, द्वितीय विश्व युद्ध में विजय

प्राप्त की और दो महाशक्तियों के युग में अमेरिका की बराबरी की।

अभ्यासार्थ प्रश्न

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न

प्र.1 प्रथम विश्व युद्ध से पूर्व नवोदित दो शक्तियों का नाम लिखिए।

प्र.2 मित्र राष्ट्रों के नाम लिखिए।

प्र.3 प्रथम विश्व युद्ध के बाद नवसृजित राज्यों के नाम लिखिए।

प्र.4 'ट्रिपल एंतात' में सम्मिलित देशों के नाम लिखिये।

प्र.5 शांति सम्मेलन में सम्मिलित प्रमुख व्यक्तियों के नाम लिखये।

प्र.6 शांति सम्मेलन में देशी राज्यों के प्रतिनिधि के रूप में भारत के किस राजा ने भाग लिया?

प्र.7 बोल्शेविक का अर्थ बताइये।

प्र.8 रासपुटिन कौन था?

प्र.9 लेनिन का पूरा नाम लिखिये।

प्र.10 गैपों के बारे में क्रांतिकारियों की धारणा क्या थी?

लघूत्तरात्मक प्रश्न

प्र.1 मोरक्को संकट से आप क्या समझते हो?

प्र.2 रूस द्वारा बाल्कन में रूचि के क्या कारण थे?

प्र.3 प्रथम विश्व युद्ध का तात्कालिक कारण लिखिये।

प्र.4 वर्साय की सन्धि की प्रमुख शर्ते लिखिये।

प्र.5 'खूनी रविवार' की घटना का रूस के इतिहास में महत्व बताइये।

प्र.6 रूसीकरण की नीति से आप क्या समझते हो?

प्र.7 बोल्शेविक क्रांति में लेनिन का योगदान लिखिए।

प्र.8 जारशाही का अंत किस क्रांति के द्वारा हुआ?

प्र.9 स्टालिन ने किस प्रकार से रूस की सत्ता प्राप्त की उसके कार्यों का वर्णन कीजिए।

प्र.10 पेट्रोग्राड की मजदूर हड़ताल का वर्णन करो।

निबन्धात्मक प्रश्न

प्र.1 प्रथम विश्व युद्ध के प्रमुख कारणों का वर्णन कीजिए।

प्र.2 बोल्शेविक क्रांति के परिणामों का विवरण दीजिए।

प्र.3 1917 ई. की रूसी क्रांति के प्रमुख कारणों का वर्णन कीजिए।

प्र.4 प्रथम विश्व युद्ध के राजनैतिक परिणामों का उल्लेख कीजिए।

प्र.5 बोल्शेविक दल के उत्कर्ष में लेनिन की भूमिका का उल्लेख कीजिए।

इकाई 6
1919–1945 के मध्य का विश्व

राष्ट्र संघ

युद्ध मानव जाति के लिए सदैव से ही विनाशकारी सिद्ध हुए हैं। प्रथम विश्व युद्ध के प्रारम्भ होते ही दुनिया में एक ऐसे संगठन की अत्यधिक आवश्यकता अनुभव की जाने लगी जो युद्धों को रोकने में समर्थ हो।

संयुक्त राज्य अमेरिका में राष्ट्रसंघ की स्थापना के विषय में जगह–जगह चर्चाएँ होने लगी। पेरिस शांति सम्मेलन में अमेरिकी राष्ट्रपति वुडरो विल्सन के अत्यधिक प्रयासों से राष्ट्रसंघ की स्थापना हो सकी। इसकी स्थापना विश्व शान्ति की दृष्टि से मानव का एक बड़ा कदम था।

राष्ट्रसंघ की स्थापना :– राष्ट्रसंघ की स्थापना में अमेरिका के तत्कालीन राष्ट्रपति विल्सन का सर्वाधिक योगदान रहा। 8 जनवरी 1918 को विल्सन ने अपना प्रसिद्ध चौदह सूत्री कार्यक्रम प्रकाशित किया। इसके अन्तिम सूत्र में राष्ट्रसंघ की स्थापना पर विशेष बल दिया गया था। 28 अप्रेल 1919 को शान्ति सम्मेलन के पूर्ण अधिवेशन में राष्ट्रसंघ के प्रारूप को स्वीकार कर लिया गया। 14 फरवरी 1919 को ''राष्ट्रसंघ आयोग ने राष्ट्रसंघ का अन्तिम प्रारूप तैयार किया। 10 जनवरी, 1920 को राष्ट्रसंघ वैधानिक रूप से स्थापित हुआ।

इस संघ का मुख्य कार्यालय स्विट्जरलैण्ड की राजधानी जेनेवा में था।

राष्ट्रसंघ के उद्देश्य :– राष्ट्रसंघ की प्रस्तावना में संघ के उद्देश्यों, सदस्यता की अवस्थाओं, इसकी रचना के सामान्य ढ़ाँचे और दायित्वों आदि का समावेश किया गया था। राष्ट्रसंघ के मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित थे–

1. विश्व में सुरक्षा और शान्ति की स्थापना और अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के द्वारा दुनिया में होने वाले भावी युद्धो को रोकना।
2. निःशस्त्रीकरण
3. पेरिस शान्ति सम्मेलन की संधियो का पालन हो, यह सुनिश्चित करना।
4. राष्ट्रों के बीच होने वाले विवादों को शान्तिपूर्ण ढ़ंग से सुलझाना।
5. मानव मात्र के कल्याण के लिए विविध उपाय करना।
6. प्रत्येक कार्य में सभी राष्ट्रों के समान हित का ध्यान रखना।

राष्ट्रसंघ की सदस्यता :– राष्ट्रसंघ के प्रारम्भिक सदस्य 43 थे। इनमें से 30 ने प्रारम्भ में हस्ताक्षर किये और 13 राज्यों को जो कि तटस्थ थे राष्ट्रसंघ की सदस्यता के लिए आमंत्रित किया गया था। भारत भी प्रारंभ से राष्ट्रसंघ का सदस्य था।

राष्ट्रसंघ का दुर्भाग्य था कि इसमें सब महाशक्तियाँ कभी भी शामिल नहीं हुई। राष्ट्रसंघ के निर्माण में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाने वाले विल्सन भी अमेरिका को सीनेट (अमेरिका संसद का उच्च सदन विरोध के कारण) राष्ट्रसंघ में शामिल नहीं करवा पाए।

किसी भी राष्ट्र को सदस्य बनाने के लिए साधारण सभा के 43 सदस्यों की सहमति होना आवश्यक था। कोई भी सदस्य दो वर्ष का नोटिस देकर इसकी सदस्यता से पृथक हो सकता था अथवा परिषद् के सर्वसम्मत मत से निष्कासित किया जा सकता था।

राष्ट्रसंघ के अंग :–

1. साधारण सभा 2. परिषद् 3. सचिवालय

इनके अतिरिक्त दो स्वशासी अंग थे:–

1. अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय 2. अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संगठन

इनके अतिरिक्त अन्य सहायक अंग भी थे। जैसे –

आर्थिक और वित्तीय संगठन, संवाद एवं यातायात संगठन, स्थायी शासनादेश या प्रादेश आयोग और बौद्धिक सहयोग का अन्तर्राष्ट्रीय संस्थान।

1. साधारण सभा :– साधारण सभा राष्ट्रसंघ का एक अत्यंत महत्वपूर्ण अंग था। इसमें संघ के सभी सदस्यों को शामिल किया गया था। सभा में कोई भी सदस्य देश अधिकतम तीन प्रतिनिधि भेज सकता था, किंतु उसका मत एक ही गिना जाता था।

साधारण सभा के कार्य बहुत अधिक व्यापक थे। राष्ट्र संघ का बजट पारित करना, अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में न्यायाधीशों की नियुक्ति करना, परिषद् के अस्थायी सदस्यों को चुनना, राष्ट्रसंघ के नये सदस्य बनाना आदि प्रमुख थे। यह सभा ऐसे प्रत्येक विषय पर विचार करती थी जिससे अन्तर्राष्ट्रीय शांति के भंग होने की आशंका हो। वास्तव में यह सभा राष्ट्र संघ का एक प्रभावशाली अंग थी।

2. परिषद :– परिषद् राष्ट्रसंघ का सर्वाधिक शक्तिसम्पन्न अंग था। साधारण सभा में राष्ट्रसंघ के सभी सदस्य थे किंतु परिषद् में सीमित सदस्य थे। इसमें दो प्रकार के सदस्य थे – स्थायी और अस्थायी। प्रारम्भ में परिषद् में पाँच स्थायी सदस्य बनाये गये जिनमें ब्रिटेन, फ्रांस, इटली, जापान और अमेरिका सम्मिलित थे। किन्तु अमेरिका का राष्ट्र संघ का सदस्य न बनने से इनकी संख्या चार ही रही। इसी प्रकार चार अस्थायी सदस्य बनाये गये जिनमें बेल्जियम, ब्राजील, ग्रीस व स्पेन को शामिल किया गया।

परिषद् के प्रमुख कार्य थे बाह्य आक्रमणों से सदस्य राष्ट्रों की अखण्डता की रक्षा करना, अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों का प्रबन्ध करना, सचिवालय को समय–समय पर निर्देश देना तथा निःशस्त्रीकरण की योजना बनाना इत्यादि।

यह राष्ट्रसंघ के कार्यक्षेत्र में सम्मिलित प्रत्येक विषय और विश्व शान्ति सम्बन्धी मसलों पर विचार कर सकती थी।

परिषद् वास्तव में राष्ट्रसंघ का एक महत्वपूर्ण और शक्तिशाली अंग थी जिसके पास अनेक अधिकार थे।

3. सचिवालय :– राष्ट्रसंघ का तीसरा महत्वपूर्ण अंग सचिवालय था। सचिवालय का प्रधान ''महासचिव'' कहलाता था। इसकी नियुक्ति साधारण सभा की अनुमति से परिषद् द्वारा की जाती थी। सचिवालय सभा एवं परिषद् के ही प्रशासकीय कार्यों को करता था।

यह साधारण सभा और परिषद् के लिए चिन्तनीय मुद्दों की सूचना बनाना, बैठकों की व्यवस्था करना, अनेक प्रशासनात्मक कार्य करना, संधियों का रिकॉर्ड रखना आदि इसके प्रमुख कार्य थे।

4. अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय :– इस न्यायालय का मुख्यालय हेग में स्थापित हुआ। न्यायालय के सदस्यों की संख्या प्रारम्भ में 11 निर्धारित की गई थी किंतु बाद में इसकी संख्या बढ़ाकर 15 कर दी गई। न्यायाधीशों का निर्वाचन परिषद् के बहुमत द्वारा होता था और साधारण सभा के बहुमत द्वारा उन्हें स्वीकृत्ति प्रदान की जाती थी। इनका निर्वाचन 9 वर्ष के लिए होता था।

प्रमुख कार्य :–

1. राष्ट्रों के बीच के विवादों को सुलझाना।
2. नियमों का स्पष्टीकरण और
3. कानूनी मामलों में साधारण सभा और परिषद् को परामर्श देना इसके प्रमुख कार्य थे।

5. अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठनः– श्रमिकों की मांगो के फलस्वरूप जन्म लेने वाले इस संगठन का मुख्यालय जेनेवा में रखा गया। अन्तर्राष्ट्रीय प्रयासों द्वारा मजदूरों की दशा और उनके जीवन स्तर में सुधार लाना इस संगठन का मुख्य उद्देश्य था। यह संघ मजदूरों के हितों की सुरक्षा की दिशा में कार्य करने हेतु बनाया गया था।

यह तथ्य विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि वे देश जो राष्ट्र संघ के सदस्य नहीं थे, इस संगठन के सदस्य बन सकते थे। सन् 1934 में अमेरिका द्वारा इसकी सदस्यता लेना इसका उदाहरण है। श्रम संघ का निदेशक राष्ट्रसंघ के महासचिव के प्रति उत्तरदायी था ।

राष्ट्रसंघ के कार्य :–

राष्ट्रसंघ का मुख्य उद्देश्य संसार में स्थायी रूप से शान्ति बनाये रखना और विभिन्न राष्ट्रों के बीच पारस्परिक सहयोग को बढ़ाना था। अपने इस उद्देश्य को पूर्ण करने के

लिए राष्ट्रसंघ को जो कार्य करने पड़ते थे वे निःसंदेह व्यापक थे। राष्ट्रसंघ के मुख्यतः कार्य निम्नलिखित थे–

1. प्रशासनिक कार्य :– वर्साय की शांति सन्धि में विश्व के अनेक विवादित भू–भागों के प्रशासन की व्यवस्था का दायित्व राष्ट्रसंघ को दिया गया था। सार घाटी का प्रशासन और डेजिंग का प्रशासन अस्थायी रूप से राष्ट्रसंघ को सौंपा गया था।

2. मेण्डेट अथवा संरक्षण व्यवस्था :– इसे प्रादेश पद्धति भी कहा जाता है। प्रथम विश्वयुद्ध के अन्त में जर्मनी और टर्की से प्राप्त उपनिवेशों के प्रशासन का उत्तरदायित्व राष्ट्रसंघ को मिला। राष्ट्रसंघ को यह जिम्मेदारी दी गई कि वह इन उपनिवेशों के निवासियों के कल्याण और विकास की व्यवस्था करे। ये उपनिवेश राष्ट्रसंघ ने मेण्डेट व्यवस्था के अन्तर्गत जापान, फ्रांस, बेल्जियम, इंग्लैण्ड आदि देशों के संरक्षण में प्रशासन के लिए दे दिए गए।

प्रतिवर्ष इन देशों को इनके शासन की रिपोर्ट राष्ट्रसंघ को देनी होती थी। राष्ट्रसंघ ने 1920 में एक ''स्थायी प्रादेश आयोग'' की स्थापना की। यह आयोग मेण्डेट व्यवस्था के अन्तर्गत आने वाले भू–भागों के प्रशासन की निगरानी करता था।

इनके अतिरिक्त अल्पसंख्यको के हितों की सुरक्षा करना, विश्व में सामाजिक, आर्थिक और मानवता सम्बन्धी कार्य, तथा अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा सम्बन्धी कार्य प्रमुख थे।

राष्ट्रसंघ की सफलताएँ :–

1. राजनीतिक क्षेत्र में सफलता :– राष्ट्रसंघ के समक्ष संपूर्ण विश्व से अनेक विवादों को लाया गया। इनमें से कुछ विवादों को सुलझाने में राष्ट्रसंघ पूर्ण रूप से सफल रहा। जिन राजनीतिक विवादों को सुलझाने में राष्ट्रसंघ को सफलता मिली उनमें अल्बानिया का सीमा विवाद (1921–24 ई.) ऑलैण्ड द्वीप विवाद (1921 ई.) हंगेरियन विवाद (1923–30 ई.) यावोर्जनो विवाद (1923–29 ई.) लौटेशिया विवाद (1932–33 ई.) और बल्गेरिया तथा यूनान का विवाद (1925–26 ई.) शामिल थे।

इसके अतिरिक्त युद्ध बन्दियों को छुड़ाना और उनके वापस स्वदेश लौटने की व्यवस्था करना भी राजनीतिक क्षेत्र में राष्ट्रसंघ की एक उल्लेखनीय सफलता थी।

2. सामाजिक, आर्थिक तथा मानवता के क्षेत्र में सफलता :– राष्ट्रसंघ ने सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और स्वास्थ्य क्षेत्र में निःसन्देह अतिमहत्वपूर्ण कार्य किये। राष्ट्रसंघ ने कई आर्थिक और वित्तीय समितियों की स्थापना की जिन्होंने संपूर्ण विश्व से आँकड़ों और तथ्यों का संकलन किया। इसने सभी देशों को स्वस्थ आर्थिक नीतियाँ अपनाने को प्रेरित किया। राष्ट्रसंघ का बौद्धिक सहयोग भी सराहनीय था। इसकी परिषद् ने बौद्धिक सहयोग के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय समिति की स्थापना की। इसमें विश्व के प्रसिद्ध बुद्विजीवी जैसे प्रो. आइन्सटाइन, मैडम क्यूरी आदि सम्मिलित थे। इसका उद्देश्य विश्व के राष्ट्रों के आपसी सहयोग द्वारा सभ्यता और संस्कृति की उन्नति करना था।

इसके अतिरिक्त राष्ट्रसंघ ने चिकित्सा क्षेत्र में नारी और बाल कल्याण के क्षेत्र में तथा मादक द्रव्यों पर नियन्त्रण के लिए जो प्रयास किए वे प्रशंसनीय है।

राष्ट्रसंघ की असफलताएँ :–

यद्यपि राष्ट्रसंघ छोटे देशों के आपसी विवादों को सुलझाने में सफल रहा किंतु अन्तर्राष्ट्रीय महत्व के प्रमुख विवादों को सुलझाने में राष्ट्रसंघ पूर्णतः असफल रहा। इसका मुख्य कारण यह रहा कि बड़े राष्ट्रों ने राष्ट्रसंघ के सिद्धान्तों में विश्वास का ढ़ोंग किया और अपनी स्वार्थपूर्ण नीतियों को लगातार जारी रखा।

राष्ट्रसंघ विलना विवाद (1920–22 ई.) इटली और यूनान के मध्य का कोर्फू विवाद, ग्रानचाको विवाद (1928–33 ई.), मंचूरिया विवाद (1931–32 ई.), स्पेन का गृह युद्ध, चीन–जापान युद्ध (1937–45 ई.), रूसी–फिनिश युद्ध (1939–40 ई.) इत्यादि विवादो को सुलझाने में असफल रहा।

राष्ट्रसंघ की असफलता के कारण

1. राष्ट्रसंघ के सिद्धान्तों में बड़े राष्ट्रों की निष्ठा का अभाव :– राष्ट्रसंघ की स्थापना के समय महाशक्तियों ने विश्व शान्ति एवं सुरक्षा के लिए अनेक उत्तरदायित्व स्वीकार करने में अपनी सहमति जताई थी। सदस्य राष्ट्रों ने संघ के सिद्धान्तों के प्रति निष्ठा रखने सम्बन्धी प्रसंविदा पर हस्ताक्षर किये थे किंतु अवसर आने पर महाशक्तियों ने संघ के इन नियमों का पालन

नही किया।

महाशक्तियों के निजी स्वार्थों और साम्राज्यवादी लिप्सा ने राष्ट्रसंघ के सिद्धान्तों को महत्वहीन बना दिया।

2. उग्र राष्ट्रवाद :– राष्ट्रसंघ की असफलता का एक प्रमुख कारण उग्र राष्ट्रवाद को भी माना जा सकता है। प्रत्येक शक्ति सम्पन्न राष्ट्र स्वयं को अन्य सभी राष्ट्रों से अधिक प्रभुता सम्पन्न समझता था। प्रत्येक राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा के स्थान पर अपनी सम्प्रभुता को अत्यधिक महत्व देता था। संघ के सदस्य राष्ट्रों की राष्ट्रीयता सम्बन्धी विचारधारा अत्यन्त संकीर्ण थी, जिसने अन्तर्राष्ट्रीय सद्भाव नष्ट किया।

3. वैश्विक आर्थिक संकट :– 1930 के विश्वव्यापी आर्थिक संकट ने भी राष्ट्रसंघ को बहुत कमजोर किया। इसके परिणामस्वरूप समस्त विश्व में पूँजीवादी शक्तियाँ प्रबल हो उठी। आर्थिक मंदी ने जर्मनी के नाजीवाद और जापान के सैनिकवाद को बल दिया जिसके फलस्वरूप वैश्विक सामाजिक व्यवस्था बिखरने लगी। साम्यवाद विरोधी विचार बढ़ने लगे और फ्रांस, ब्रिटेन व अमेरिका जैसी पूंजीवादी महाशक्तियाँ रूस के हर विरोधी को अपना मित्र समझने लगी। इस तरह तुष्टिकरण की नीति को बल मिला। अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा और शांति के सिद्धान्तों को उपेक्षित किया जाने लगा जो कि राष्ट्रसंघ के मूल आधार थे।

4. वैश्विक सेना का न होना:– राष्ट्रसंघ के पास अपनी कोई सेना नहीं थी। इस स्थिति में अपने निर्णयों का पालन करवाने के लिए संघ को सदस्य राष्ट्रों की सेना पर निर्भर रहना पड़ता था। सदस्य राष्ट्र संघ की किसी भी प्रकार की सैनिक आवश्यकता को पूरा करने की लिए बाध्य नहीं थे।

5. निरंकुश शासन का उदय :– राष्ट्रसंघ की स्थापना के समय सभी राष्ट्रों ने वैश्विक शान्ति, सुरक्षा और सद्भाव में अपनी निष्ठा व्यक्त की थी लेकिन विश्व के शक्तिशाली राष्ट्रों ने राष्ट्रसंघ के इन सिद्धान्तों की धज्जियाँ उड़ा दी। इटली, जर्मनी, स्पेन, पुर्तगाल और अन्य यूरोपीय देशों में निरंकुश सरकारों की स्थापना होने लगी।

6. महाशक्तियों का असहयोग :– राष्ट्रसंघ की असफलता का एक मुख्य कारण यह भी रहा कि इसे शक्तिशाली राष्ट्रों का पूर्ण समर्थन नहीं मिल पाया। राष्ट्रसंघ की स्थापना में सर्वाधिक महत्वपूर्ण भूमिका अमेरिकी राष्ट्रपति विल्सन ने अदा की थी लेकिन दुर्भाग्यवश राष्ट्रपति विल्सन अमेरिका को राष्ट्रसंघ का सदस्य नहीं बनवा पाए।

इससे राष्ट्रसंघ की नींव प्रारम्भ में ही कमजोर पड़ गई। ब्रिटेन, फ्रांस और जर्मनी जैसी महाशक्तियों ने भी अपने संकीर्ण राष्ट्रीय हितों के नाम पर विश्व–शान्ति, सुरक्षा और सद्भाव को उपेक्षित कर दिया।

निष्कर्षतः सदस्य राष्ट्रों के असहयोग के कारण राष्ट्रसंघ विश्व शान्ति, सुरक्षा एवं न्याय के अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने में पूर्णतः सफल नहीं हो सका। तथापि संघ ऐतिहासिक महत्व की एक महान् संस्था के रूप में उभरकर सामने आया। इसने वैश्विक शान्ति, सुरक्षा तथा न्याय की दिशा में संपूर्ण संसार को सोचने के लिए बाध्य किया।

वाल्टर के शब्दों में हम कह सकते हैं कि ''संयुक्त राष्ट्रसंघ के उद्देश्यों, सिद्धान्तों, संस्थाओं और पद्धतियों पर तथा इसकी प्रत्येक बात पर राष्ट्रसंघ की स्पष्ट छाप है।''

वर्तमान संयुक्त राष्ट्रसंघ के निर्माण में राष्ट्रसंघ ने बुनियादी भूमिका निभाई।

आर्थिक मंदी

1929 ई. तक आते–आते संसार प्रथम विश्व युद्ध द्वारा प्रदत्त आघातों से उबरने लगा था। जर्मनी की अर्थव्यवस्था पटरी पर लौटने लगी थी। रूस में नव निर्माण की आर्थिक नीतियाँ और योजनाएँ क्रियान्वित की जा रही थी। अखिल विश्व तीव्र गति से आशावाद की ओर कदम बढ़ा रहा था किन्तु यह सब विनाश से ठीक पहले दिखाई देने वाले तीव्र विकास की भांति था।

विश्व परिदृश्य में अचानक ही आश्चर्यजनक परिवर्तन होने लगे। 1929 ई. में विश्व के आर्थिक जगत में विस्फोटक गिरावट देखने को मिली और यहीं से वैश्विक आर्थिक मंदी का प्रारम्भ हो गया। अमेरिकी शेयर बाजार में भीषण गिरावट हो गई। 1929 ई. से 1932 ई. के बीच 5700 बैंक दिवालिया हो गए। मुद्रा का अवमूल्यन हो गया, कृषि उत्पादों के मूल्यों में भारी गिरावट आ गई। कृषकों की स्थिति मजदूरों से भी बदतर हो गई और मजदूरों को रोजगार मिलने बंद हो गए।

सन् 1933 ई. में अमेरिका में राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने नई व्यवस्था (न्यूडील) नामक प्रसिद्ध कार्यक्रम प्रारम्भ किया। अनेक देशों ने कई प्रकार के समझौते करके अपनी अर्थव्यवस्था को पुनर्गठित करने का प्रयास किया। 1929 ई. से 1934 ई. तक सम्पूर्ण विश्व पर आर्थिक मंदी का संकट छाया रहा। इसके पश्चात् धीरे–धीरे ये संकट के बादल हटने लगे और आर्थिक मंदी का भीषण दौर समाप्त हो गया।

आर्थिक मंदी के कारणः–

1. प्रथम विश्व युद्ध का प्रभाव :– आर्थिक मन्दी के लिए प्रमुख विश्वयुद्ध प्रत्यक्ष रूप से जिम्मेदार था। प्रत्येक बड़े युद्ध के बाद निश्चित रूप से आर्थिक संकट का सामना करना पड़ता है। युद्ध के समय सेना के लिए उत्पादों की मांग में अप्रत्याशित वृद्धि होती है और इन मांगों की पूर्ति के लिए उद्योगों का असाधारण विस्तार होता है। औद्योगिकीकरण से रोजगार के अवसर, आय और क्रयशक्ति में वृद्धि होती है। युद्ध की समाप्ति के बाद भी कुछ समय तक तो यह बढ़ोतरी बनी रहती है किन्तु उसके बाद आर्थिक मन्दी का सामना करना पड़ता है। इस युद्ध में लगभग संपूर्ण विश्व ने भाग लिया था अतः आर्थिक मन्दी का सामना भी सम्पूर्ण विश्व को करना पड़ा।

2. उद्योगों का मशीनीकरण :– प्रथम महायुद्ध में सैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भारी मात्रा में जवानों को भर्ती किया गया। इस दौरान श्रम की कमी को पूरा करने के लिए कृषि एवं उद्योगों में नये–नये उपकरणों का आविष्कार किया जाने लगा। धीरे–धीरे श्रमिकों का स्थान मशीनों ने ले लिया। महायुद्ध के बाद बेकार हुए सैनिकों को रोजगार मिलना कठिन हो गया और युद्ध के बाद ये बेरोजगार हो गए। ये सैनिक मूलतः मजदूर व किसान थे। बेरोजगारी के गम्भीर संकट ने आर्थिक मंदी को आमंत्रित किया।

3. उत्पादन की अधिकता :– मशीनीकरण के फलस्वरूप कारखानों की संख्या में वृद्धि हुई। नई मशीनों ने भारी मात्रा में वस्तुओं का उत्पादन किया। युद्ध के बाद कुछ समय तक तो उत्पादन की अधिकता का आभास नही हुआ क्योंकि उत्पादित माल की खपत पुनर्निर्माण में हो गई किन्तु कुछ समय बाद उत्पादन की अधिकता का दुष्प्रभाव दिखाई देने लगा। बाजार अनाज और माल से भर गए, किन्तु बेरोजगारी के कारण खरीददारों का अभाव हो गया। इस कारण से धीरे–धीरे कारखाने बन्द होने लगे। इससे बेरोजगारी की समस्या और भी अधिक विकराल रूप में सामने आने लगी। इन परिस्थितियों में आर्थिक मन्दी का दौर आना स्वाभाविक था।

4. आर्थिक राष्ट्रवाद :– युद्ध के बाद अधिकांश देशों ने आर्थिक राष्ट्रीयता की नीति अपनाई। सभी राष्ट्र अत्यन्त संकुचित और स्वार्थपूर्ण आर्थिक नीतियों का अनुसरण करने लगे। किसी भी राष्ट्र को विश्व अर्थव्यवस्था की चिन्ता नहीं थी। अधिकांश राष्ट्रों ने आयात में कटौती की, विदेशी वस्तुओं पर भारी कर लादकर उनके उपभोग को हतोत्साहित किया। इन कारणों से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार अव्यवस्थित हो गया।

5. सोने का असमान विभाजन :– महायुद्ध के बाद अमेरिका ने सभी कर्जदार राष्ट्रों से युद्ध के समय दिए गए ऋणों की वसूली करना प्रारम्भ कर दिया। अमेरिका अपने ऋण की वसूली माल के स्थान पर सोने के रूप में करने लगा। इस कारण से सोना बड़ी मात्रा में अमेरिका में इकट्ठा होने लगा। अन्य देशों में सोने का अभाव उत्पन्न हो गया। अनेक यूरोपीय देशों को स्वर्ण निर्यात पर प्रतिबन्ध लगाना पड़ा इस स्थिति ने आर्थिक मन्दी को और भी अधिक भयावह बना दिया।

6. अमेरिकी शेयर बाजार में गिरावट :– विश्वव्यापी मंदी का तात्कालिक कारण अक्टूबर 1929 ई. में अमेरिकी शेयर बाजार पर आया आर्थिक संकट था। न्यूयॉर्क के शेयर बाजार में अचानक शेयरों का मूल्य 50 अरब डॉलर तक गिर गया। अचानक इसका प्रचण्ड दुष्प्रभाव अमेरिका के साथ सम्पूर्ण विश्व पर पड़ा। अनेक बैंक और कारोबारी दिवालिया हो गए।

आर्थिक मंदी के परिणाम

सन् 1929 ई. से 1934 ई. तक सम्पूर्ण विश्व पर छाए हुए इस आर्थिक संकट ने समस्त छोटे–बड़े देशों को अत्यधिक प्रभावित किया। विश्व इतिहास पर आर्थिक मंदी के निम्न परिणाम हुए–

1. सैन्यवाद का उदय :– आर्थिक मंदी का दुष्प्रभाव सम्पूर्ण विश्व को झेलना पड़ा। जापान का व्यापार आर्थिक मंदी की भेंट चढ़ गया। आर्थिक मंदी से उत्पन्न परिस्थितियों ने जापान को स्वार्थी और आक्रामक बना दिया। जापान की साम्राज्यवादी

आकांक्षाएँ बढ़ने लगी। सन् 1931 में जापान ने मंचूरिया पर हमला कर दिया। मंचूरिया का अधिकांश भू–भाग जापान के कब्जे में आ गया। जापान ने वहाँ मंचूकुओ सरकार के नाम से एक कठपुतली सरकार स्थापित करके उसे मान्यता दे दी। इसी प्रकार इटली के तानाशाह मुसोलिनी ने भी जनता का ध्यान आर्थिक समस्याओं से हटाने के लिए अबीसीनिया पर आक्रमण किया।

2. लोकतांत्रिक पद्धति से मोह भंग :– आर्थिक मंदी के परिणामस्वरूप विश्व में लोकतन्त्र के प्रति आम जनता का विश्वास डगमगा गया। लोकतान्त्रिक सरकार बेरोजगारी, महंगाई, अस्थिरता और असुरक्षा से निपटने में असमर्थ रही। अतः जनता का इस व्यवस्था से विश्वास उठने लगा। सामान्य जनता पूंजीवाद व लोकतन्त्र के स्थान पर साम्यवाद और फासीवाद की ओर आशा भरी दृष्टि से देखने लगी।

3. अधिनायकवाद का प्रसार :– प्रजातान्त्रिक सरकारों की असफलता ने अधिनायकवादी शासन व्यवस्था को और अधिक बल दिया। आर्थिक मंदी के फलस्वरूप यूरोप के अधिकांश देशों की बागडोर ताकतवर तानाशाहों के हाथ में आ गई। आस्ट्रिया और जर्मनी में निरंकुश शासन की स्थापना हुई। आर्थिक मन्दी के फलस्वरूप पूर्व सरकार से असंतुष्ट जनता ने हिटलर के नाजी दल पर विश्वास व्यक्त किया। सन् 1932 ई. में हिटलर जर्मनी का चांसलर नियुक्त हुआ।

युगोस्लाविया, पोलेण्ड, रूमानिया, यूनान, पुर्तगाल इत्यादि अनेक यूरोपीय देशों में तानाशाही और निरंकुश शासन की स्थापना होने लगी। यदि आर्थिक मन्दी न आई होती तो सम्भवतः अधिनायकवाद का यह विस्फोटक प्रसार नहीं हुआ होता।

4. सरकारी नियन्त्रण में वृद्धि :– मन्दी के परिणामस्वरूप आर्थिक क्षेत्र में सरकारी नियन्त्रण में वृद्धि होने लगी। मन्दी से पूर्व तक जो देश आर्थिक क्षेत्र में अहस्तक्षेप की नीति अपना रहे थे, वो भी मन्दी के परिणामस्वरूप असुरक्षा की भावना से पीडित हो गए। अधिकांश देशों ने आर्थिक उदारवाद की नीति का त्याग किया और आर्थिक क्रियाकलापों पर राज्य का नियन्त्रण कड़ा हो गया।

अमेरिका में रूजवेल्ट की नई व्यवस्था (न्यूडील) भी आर्थिक क्षेत्र में राज्य के बढ़ते हुए दखल को दर्शाती है। इस नीति के फलस्वरूप राष्ट्रपति को विशेषाधिकार प्राप्त हुए और सरकार आर्थिक क्षेत्र में अत्यधिक हस्तक्षेप करने लगी। विश्व के बड़े राष्ट्रों की इस नीति ने विश्व अर्थव्यवस्था को बुरी तरह प्रभावित किया।

5. साम्यवाद का उत्कर्ष :– आर्थिक मंदी से पूंजीवादी राष्ट्रों की अर्थव्यवस्था खोखली हो गई। वहाँ बेराजगारी और घोर गरीबी बढ़ती ही चली गई किन्तु इसी समय साम्यवादी रूस ने अच्छी प्रगति की। आर्थिक व्यवस्थाओं से असन्तुष्ट जनता साम्यवाद की ओर तेजी से आकर्षित हुई। साम्यवाद तीव्र गति से अन्य देशों में फैलने लगा। पाश्चात्य राष्ट्र साम्यवाद के प्रसार से भयभीत हुए और उन्होंने साम्यवाद के प्रसार को रोकने के अनेक प्रयास प्रारम्भ कर दिये।

6. शस्त्रीकरण की होड़:– आर्थिक मन्दी के फलस्वरूप अधिकांश राष्ट्रों ने अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग और सद्भाव की भावना को त्यागकर स्वार्थपूर्ण और संकुचित आर्थिक नीतियाँ लागू की। राष्ट्रों में परस्पर संदेह की भावना बढ़ने लगी। परिणामस्वरूप असुरक्षा की भावना से पीड़ित राष्ट्रों ने अपनी–अपनी सैनिक शक्ति का विकास करना प्रारम्भ कर दिया। पूंजीवादी देशों ने अवसर द्वार पर आया देखकर अत्यधिक मात्रा में शस्त्रों का उत्पादन आरम्भ कर दिया। ये देश धनार्जन के लिये शस्त्रों का भारी मात्रा में निर्यात करने लगे। फिर तो राष्ट्रों में शस्त्रीकरण की प्रतिस्पर्धा सी दिखाई देने लगी जिसका अन्तिम परिणाम हमें द्वितीय विश्वयुद्ध के रूप में देखने को मिला।

7. राष्ट्रसंघ को क्षति :– राष्ट्रसंघ की मजबूती के लिए आवश्यक था कि सभी राष्ट्र आपसी सहयोग और सद्भाव को कायम रखें। विश्व शान्ति और सुरक्षा की दिशा में सभी राष्ट्रों का योगदान आवश्यक था किन्तु आर्थिक मन्दी ने राष्ट्रों का ध्यान वैश्विक सुरक्षा से हटाकर राष्ट्रीय सुरक्षा पर लगा दिया। प्रत्येक राज्य अपने लाभ के विषय में सोचने लगा राष्ट्रसंघ को शक्तिशाली बनाने के लिए जिस प्रकार के उदार और अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण की आवश्यकता थी उसे आर्थिक मन्दी ने नष्ट कर दिया। उसके स्थान पर संकुचित राष्ट्रवादी दृष्टिकोण का उदय हुआ। राष्ट्रसंघ के आदर्शों को उपेक्षित किया जाने लगा, ऐसी परिस्थितियों में राष्ट्रसंघ का दुर्बल हो जाना स्वाभाविक ही था।

निष्कर्षतः आर्थिक मन्दी ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था को व्यापक रूप में अस्त व्यस्त कर दिया। आर्थिक मन्दी के परिणाम दूरगामी और अत्यन्त घातक सिद्ध हुए। विश्व में अधिनायकवाद के उदय से लेकर द्वितीय विश्व युद्ध तक के घोर अभिशापों की जड़ इस आर्थिक मन्दी में दिखाई देती है।

फासीवाद

'फासीवाद' के लिए समानार्थक 'फासिस्टवाद', 'फासिज्म' जैसे पदों का भी प्रयोग किया जाता है। 'फासिस्ट' शब्द की उत्पत्ति 'फासियो' शब्द से हुई है जो लैटिन शब्द 'फासेज' से बना है यानी 'छड़ों का गट्ठर'। सी.डी.एम. केटलबी के अनुसार, प्राचीन रोम में लोहे की छड़ों के गट्ठर को सत्ता और अधिकार का प्रतीक माना जाता था। डब्ल्यू. सी. लेंगसम के अनुसार, फरसे के चारों ओर लिपटी हुई छड़ों का गट्ठर, बल और शक्ति के रूप में, फासिज्म का प्रतीक–चिन्ह बन गया। विवेच्य शब्द से समूह और शक्ति का चित्र उपस्थित होता है। फासिस्टों ने इसे लाक्षणिक विरासत के रूप में प्राचीन रोम से ग्रहण किया। मुसोलिनी द्वारा गठित संगठन और शासन की विचारधारा को फासीवाद कहा जा सकता है।

बेनिटो मुसोलिनी :– मुसोलिनी का जन्म इटली के रोमाग्ना शहर में 29 जुलाई 1883 ई. को हुआ। उसके पिता अलसेण्ड्रो मुसोलिनी लोहार तथा समाजवादी विचारक थे जबकि उसकी माता रोसा मुसोलिनी एक कैथोलिक स्कूल की अध्यापिका थी। वह अपने माता–पिता की तीन संतानो में से सबसे बड़ा था। मुसोलिनी सन् 1901 में 18 वर्ष की आयु में एक स्कूल में अध्यापक बन गया किन्तु कुछ समय पश्चात् ही सन् 1902 में मुसोलिनी अपनी अध्यापक की नौकरी छोड़कर स्विट्जरलैण्ड आ गया। वहाँ वह समाजवादी दल के सम्पर्क में आया तथा उसने सरकार विरोधी आन्दोलन प्रारम्भ कर दिये जिस कारण उसे जेल में डाल दिया गया। जेल से मुक्त होते ही मुसोलिनी ने सन् 1912 में समाजवादी पत्रिका ''अवंती'' का संपादन प्रारम्भ कर दिया।

प्रथम विश्व युद्ध में समाजवादी दल चाहता था कि इटली युद्ध में भाग नहीं ले, किन्तु यह सब मुसोलिनी की इच्छा के विरूद्ध था। इसलिए मुसोलिनी समाजवादी दल को छोड़कर इटली की सेना में भर्ती हो गया और 1915 ई. में युद्ध के दौरान आईसोना में अपनी वीरता का प्रदर्शन किया। 1917 ई. में वह बुरी तरह से घायल हो गया और उसने सेना छोड़ दी। युद्ध की समाप्ति के पश्चात् उसने इटलीवासियों को निराशा से निकालने हेतु ''फासिस्ट काम्बाटिमेटो'' नामक संगठन बनाया।

उसने प्राचीन रोमन साम्राज्य का प्रतीक चिन्ह ''कुल्हाडी सहित लकड़ियों का गठ्ठर'' अपने संगठन के लिए प्रतीक चिन्ह बनाया। उसने काली कुर्ती नाम का दल बनाया। ये शस्त्रधारण करते थे तथा मुसोलिनी के प्रति भक्ति रखते थे। उसने इटली के जमींदार तथा उद्योगपतियों को साम्यवादियों से संघर्ष का वचन दिया। उसके स्वयंसेवकों ने साम्यवादियों पर सशस्त्र आक्रमण करने आरम्भ कर दिए। फासिस्ट दल की संख्या जो 1919 ई. में 22000 थी उसमें वृद्धि होकर 1921 ई. में 5 लाख हो गई।

मई 1921 ई. के चुनाव में फासिस्ट दल ने 35 सीटें जीती तथा नवम्बर 1921 ई. में उसने एक राजनीतिक दल को स्थापित कर लिया। इस विजय के पश्चात् भी मुसोलिनी ने अपने संगठन को मजबूत बनाए रखने के कार्यक्रमों को सुचारू रूप से जारी रखा। तत्पश्चात् उसने अपने दल के साथ वहाँ के राजा विक्टर इमेनुअल तृतीय को रोम पर आक्रमण की चुनौती दी। 27 अक्टूबर 1922 ई. को मुसोलिनी ने 30000 स्वयंसेवकों के साथ रोम पर अधिकार के लिए प्रस्थान कर दिया। गृह युद्ध से बचने के लिए विक्टर इमेनुअल तृतीय ने 30 अक्टूबर 1922 को मुसोलिनी को प्रधानमंत्री नियुक्त कर दिया।

फलस्वरूप मुसोलिनी ने इटली के समस्त पदों पर फासीवादियों को स्थापित कर दिया। उसने सम्पूर्ण शक्तियाँ अपने हाथों में ले ली। प्रेस को प्रतिबंधित कर दिया और सन् 1924 ई. के चुनाव में उसके दल फासिस्ट पार्टी ने पूर्ण बहुमत प्राप्त कर लिया। अब मुसोलिनी ने अपने आप को इटली का अधिनायक घोषित कर दिया।

फासीवाद के उदय के कारण :–

1. वर्साय सन्धि से उत्पन्न निराशा :– पेरिस शांति सम्मेलन में इटली को गहरी निराशा और असंतोष का सामना करना पड़ा क्योंकि वर्साय की संधि में मित्रराष्ट्रो ने इटली को जो क्षेत्र देने का वचन दिया था वह उसे मित्रराष्ट्रो के विश्वासघात के कारण नहीं मिले इससे इटली की जनता में निराशा और असंतोष

व्याप्त हो गया और इसका कारण जनता ने इटली में एक कमजोर जनतंत्र को बताया तथा इसका सर्वाधिक फायदा मुसोलिनी के फासीस्ट दल को प्राप्त हुआ।

2. शिथिल अर्थव्यवस्था :– प्रथम युद्ध के पश्चात् मिली निराशा के फलस्वरूप इटली की आर्थिक स्थिति में गिरावट आने लगी। चारो ओर बेरोजगारी फैल गयी जिससे वहां के मजदूर व सैनिक बेरोजगार हो गये। जर्मनी ने युद्ध में उसकी फसल को नष्ट कर दिया था। उस पर 12 लाख डालर का ऋण था। इटली की मुद्रा में 70 प्रतिशत गिरावट आ गई। मंहगाई अपने चरम पर पहुँच गई। उद्योग, व्यापार, कृषि आदि को भी बहुत हानि हुई तथा आम लोगों का जीवन निर्वाह मुश्किल हो गया। इस कारण इटली की जनता में तत्कालीन सरकार के प्रति विद्रोह का जन्म हुआ।

3. साम्यवाद से प्रभावित इटली :– इटली में साम्यवाद का प्रभाव बढ़ रहा था। वहाँ की जनता के मन में वर्साय की सन्धि के प्रति असंतोष था। इस कारण साम्यवादी दल ने वहाँ की जनता को यह विश्वास दिलाया था कि वह इटली को सशक्त बनाएगा। किन्तु इसका फायदा फासिस्टवादी मुसोलिनी ने ले लिया और वहाँ की जनता मुसोलिनी के पक्ष में हो गई।

4. दार्शनिक हीगल की विचारधारा का प्रभाव :– हीगल के विचारो की मान्यता थी कि वह व्यक्ति से ज्यादा राज्य को महत्ता देता था। उसके अनुसार व्यक्ति राज्य के अनुशासन में रहकर ही अपनी श्रेष्ठता की ओर अग्रसर हो सकता है। उसने राज्य को ईश्वरीय रूप बताते हुए कहा कि उससे कभी भी त्रुटि नहीं हो सकती। ये सब विचारधाराएँ जर्मनी में प्रसारित हो रही थी जिसका लाभ मुसोलिनी को मिला और वहाँ की जनता ने उससे सहमति जताई।

5. शक्तिशाली शासक की आवश्यकता :– इटली की तात्कालीन स्थिति अत्यंत शोचनीय थी। वहाँ के प्रत्येक वर्ग में असंतोष व्याप्त था। जनता में अराजकता की स्थिति का निर्माण हो रहा था। इस परिस्थिति में वहाँ के लोग एक ऐसे शासक की आकांक्षा कर रहे थे जिसका व्यक्तित्व उनके राष्ट्र की स्थिति में सुधारात्मक साबित हो और यह सब उनको मुसोलिनी के व्यक्तित्व में दिखाई दिया।

6. इटली में अस्थिर सरकार का होना :– इटली में उस समय की परिस्थितियों के कारण वहां के मंत्रिमंडल अपनी स्थिर सरकार बनाने में नाकाम रहे। परिणामस्वरूप वहाँ की जनता जनतंत्र से अपना विश्वास खोने लगी। इन परिस्थितियों में मुसोलिनी ने उन्हें स्थिर सरकार देने का विश्वास दिलाया।

7. इटली की साम्राज्यवादी लिप्सा :– इटली प्रारंभ से ही अपने साम्राज्य में वृद्धि करने का आकांक्षी था। वह भूमध्यसागर में रोमन झील बनाना चाहता था तथा 1896 ई. में उसने अबीसीनिया पर जो हमला किया उसमें भी वह परास्त हुआ।

मुसोलिनी ने साम्राज्य को बढ़ाने की इटली की आकांक्षा को पूरा करने के लिए इटली को आश्वस्त किया।

8. मुसोलिनी का इटली की राजनीति में प्रवेशः– तात्कालीन परिस्थितियों में जब इटली की जनता के मन में असंतोष, आक्रोश व अराजकता व्याप्त थी। उस समय इटली की राजनीति में मुसोलिनी का प्रवेश हुआ। उसका उद्‌बोधन अत्यन्त सम्मोहक था जो कि लोगों को बहुत अधिक प्रभावित करता था। उसके प्रबल व्यक्तित्व से जनता आकर्षित होती थी। इस कारण जनता को मुसोलिनी में अपने इटली को उन्नत करने की प्रत्येक संभावना स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती दिखाई दी।

परिणाम :–

1. अधिनायकवाद की स्थापना :– मुसोलिनी ने सत्ता में आते ही यह घोषित कर दिया कि ''हम अनन्त शान्ति की मूर्खता को अस्वीकार करते है, हमें सदैव शक्ति सम्पन्न होना चाहिए'' और इसके पश्चात् 1926 में उसने स्पष्ट कह दिया कि ''हम भूमि के भूखे है क्योंकि हमारी जनसंख्या में वृद्धि हो रही है और हम ऐसा चाहते भी है।'' शक्ति व अधिनायकवादी भावनाओं के द्वारा मुसोलिनी ने राष्ट्रसंघ को बहुत कमजोर बना दिया फलस्वरूप वैश्विक माहौल तनावग्रस्त हो गया।

2. साम्यवाद विरोधी आन्दोलन में तेजी :– मुसोलिनी ने इटली में साम्यवाद के बढ़ते हुए प्रभाव का लाभ उठाकर ही जीत अर्जित की थी और इसके बाद वह रूस व साम्यवाद का विरोधी हो गया। परिणामस्वरूप इटली में साम्यवाद विरोधी आंदोलन में तीव्रता आयी।

3. प्रजातन्त्र विरोधी विचारों का प्रसार :– इटली में मुसोलिनी के सत्ता में आते ही उसने इटली का विकास करने के लिए

कठोर कदम उठाए। जिससे लोगों का प्रजातंत्र से बिल्कुल विश्वास उठ गया और पड़ोसी राष्ट्रों के भी अधिनायकवाद के पक्ष में विचार प्रबल होने लगे। परिणामस्वरूप स्पेन व जर्मनी में भी अधिनायकवाद की स्थापना हो गई।

4. तुष्टिकरण की नीति :– मुसोलिनी के बढ़ते हुए प्रभाव से यूरोप के अधिकांश राष्ट्रों में भय का वातावरण परिलक्षित होने लगा और पूंजीवादी राष्ट्रों ने इटली के प्रति तुष्टिकरण की नीति अपनाई।

5. शक्तिशाली सेना का गठन :– इटली की जनता में पेरिस शान्ति सम्मेलन के विरूद्ध असंतोष था क्योंकि इस सम्मेलन ने उसको वैश्विक जगत् में अपमानित किया था। इस कारण मुसोलिनी का अब सबसे प्रमुख उद्देश्य था कि वह पुनः वैश्विक जगत् में इटली की प्रतिष्ठा को कायम करें। इस कारण सन् 1937 ई. में उसने अपने उद्बोधन में घोषित कर दिया कि–

''फासीवादी इटली का प्रमुख कर्त्तव्य अपनी समस्त जल, थल और वायु सेनाओं को हर समय तैयार रहने की स्थिति में अवस्थित करना है। हमें इतना तत्पर रहना होगा कि हम पाँच लाख व्यक्तियों को एक क्षण में पुनः शस्त्र सज्जित कर सके। तभी हमारे अधिकारों और हमारी मांगों को मान्यता प्राप्त होगी। इस घोषणा से स्पष्ट हो गया कि इटली अपने साम्राज्य का विस्तार करना चाहता है।''

6. अन्य राष्ट्रों के प्रति कूटनीति :– मुसोलिनी जानता था कि ब्रिटेन व फ्रांस उसके प्रतिद्वन्द्वी है। इस कारण उसने उन दोनों राष्ट्रों को एक–दूसरे के प्रति तथा सोवियत रूस के विरूद्ध भड़काने के लिए षड्यंत्र रचा। पश्चिम के राष्ट्रो को कमजोर बनाने के लिए उसने जर्मनी का सहयोग लेकर ''कॉमिन्टर्न विरोधी'' समझौता किया। स्पेन को साम्यवाद से सुरक्षित करने के बहाने उसने ब्रिटेन व फ्रांस में भी हस्तक्षेप किया। यह सब कार्य उसकी अन्य राष्ट्रों के प्रति कूटनीति का परिचय देती है।

7. लोसाने की सन्धि :– यह सन्धि यूनान व इटली के मध्य सन् 1923 में हुई जिसमें उसने पेरिस शांति सम्मेलन में यूनान को दिये हुए अपने क्षेत्र (रोड्स व डोडेकमीज द्वीप) पुनः प्राप्त कर लिये।

8. इटली व फ्रांस में मतभेद :– प्रथम महायुद्ध में इटली ने विजेता राष्ट्रों में अपना स्थान ग्रहण किया था किन्तु फ्रांस, ब्रिटेन व अमेरिका के विरोध के कारण उसे अपमान का सामना करना पड़ा। उसे उसके अपेक्षित क्षेत्र प्रदान नहीं किये गये व लूट का भी पर्याप्त हिस्सा प्रदान नहीं किया गया। इस कारण फ्रांस व इटली में पहले से ही मतभेद थे। मुसोलिनी के सत्ता में आ जाने के बाद उसने भूमध्यसागर में फ्रांस के प्रभुत्व को चुनौती दी। उसने फ्रांस के अधिकृत कॉर्सिका, सेवॉय और नीस पर भी अपना दावा प्रस्तुत किया। भूमध्यसागरीय प्रदेश में एक इटालियन नौ–सैनिक अड्डे की स्थापना को लेकर भी विरोधी भाव उत्पन्न हुए। इस कारण उन दोनों राष्ट्रों के बीच मतभेद और भी गहरे हो गये।

लैंगसम के शब्दों में ''युद्धोतर प्रारंभिक वर्षों में इटली के सबसे अधिक खतरनाक वैदेशिक सम्बन्ध फ्रांस के साथ रहे।''

9. इटली का अबिसीनिया पर आक्रमण :– मुसोलिनी अपने साम्राज्य का विस्तार करना चाहता था। वह जानता था कि यह कार्य युद्ध व आक्रमण द्वारा ही पूरा किया जा सकता है। उसने इटली की जनता के मन में भी इस वृत्ति का विकास कर दिया था। सन् 1935 ई. तक अफ्रीका में एबीसीनिया, मिस्त्र, लाइबीरिया और दक्षिण अफ्रीका को छोड़कर पूरा महाद्वीप यूरोपीय शक्तियों के साम्राज्य का अंग था। इनमें इटली अबीसिनिया को ही प्राप्त करना चाहता था क्योंकि वह 1896 में ई.में एडोवा में हुई हार का प्रतिशोध लेना चाहता था। इसलिए उसने 3 अक्टूबर 1935 को अबीसीनिया पर आक्रमण कर उसे अधिगृहित कर लिया।

10. जर्मनी व इटली के बीच समझौता (1936) :– हिटलर ने इटली के साथ एक सैनिक समझौता (एण्टी कॉमिन्टर्न पैक्ट) करने की इच्छा मुसोलिनी के समक्ष प्रकट की थी किन्तु मुसोलिनी इसके लिए राजी नही हुआ। परिस्थितिवश कुछ समय पश्चात् उसने इसके लिए हामी भर दी क्योंकि इटली व फ्रांस के बीच मतभेद बढ़ता जा रहा था। इटली में फ्रांस में सोकोर्मिका और ट्यूनीशिया के अपने क्षेत्र वापस लेने की मांग की जा रही थी। इसलिए उसने जर्मनी के साथ 22 मई 1939 ई. को एक सैनिक समझौता किया जो कि ''फौलादी समझौता'' कहलाया। इस समझौते में निम्न बातें तय की गई–

पारस्परिक विचार–विमर्श, सामान्य हितों की रक्षा, पारस्परिक राजनीतिक एवं कूटनीतिक समर्थन, सैनिक तथा आर्थिक क्षेत्रों में सहयोग, एक पक्ष के किसी अन्य देश में युद्ध के अनुरूप कठिनाइयों में फँसने पर पारस्परिक सहयोग किया जाएगा।

इस समझौते से मुसोलिनी को जर्मनी की विशाल सैन्य शक्ति का भी भरोसा मिल गया क्योंकि वह जर्मनी से सैन्य बल में कमजोर था।

नाजीवाद

प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् जर्मनी में हिटलर के नेतृत्व में नाजी दल उभरा और सत्तारूढ़ हुआ। इस दल की विचारधारा को 'नाजीवाद' के नाम से जाना जाता है। फासिज्म की तरह इसे भी 'सर्वाधिकारवाद' या 'सर्वसत्तावाद' के रूप में पहचाना जा सकता है। सरकार द्वारा समस्त मानवीय गतिविधियों का पूर्ण नियन्त्रण अपने हाथ में रखने की अवधारणा 'सर्वसत्तावाद' कहलाती है। राज्य और राज्य के प्रतीक स्वरूप अधिनायक को सर्वोच्च और परम समझकर, उसका अन्य समर्थन व अनुकरण करना तथा अपना सर्वस्व न्यौछावर करने को तत्पर रहना इसका सारांश है। शासन–सत्ता के समस्त सूत्रों की बागडोर नेता के हाथ में होना, दल में सैनिक अनुशासन और पदक्रम का निर्वहन, अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता पर अंकुश, देशभक्ति और युद्ध का उन्माद पैदा करना तथा आतंक का सहारा लेना इस दल और उसकी विचारधारा की विशेषताएँ कही जा सकती हैं।

नाजीवाद के अभ्युदय के कारण

1. वर्साय संधि द्वारा उपेक्षा :– वर्साय की संधि में जर्मनी को मित्रराष्ट्रों द्वारा वैश्विक धरातल पर तिरस्कार का सामना करना पड़ा। इस सन्धि से पारम्परिक गौरव व स्वाभिमान को ठेस पहुँची थी तथा इस अपमान को वे भुला नहीं पाये। तत्कालीन जर्मनी को एक ऐसे शक्तिशाली नेतृत्व की आवश्यकता थी जो उसके खोये हुये गौरव को पुनः लौटा सके। वर्साय की संधि का जर्मनी में बहुत अधिक दुष्प्रभाव हुआ। जिसके फलस्वरूप जर्मनी का आर्थिक ढ़ाँचा बिखर गया। इस आर्थिक संकट ने वहाँ के लगभग 60 लाख लोगों को बेरोजगार बना दिया और वहाँ भयावह भुखमरी और निर्धनता चारों ओर नजर आने लगी। कृषक भारी कर्ज के नीचे दबने लगे। हिटलर ने इस अवसर का लाभ उठाया और जनता में यह प्रचारित किया कि इन बदतर हालात की जिम्मेदार जर्मनी की तात्कालीन अशक्त प्रजातांत्रिक सरकार है। हिटलर ने वहाँ की जनता का, किसानों का कर्ज माफ करके, बेरोजगार जनता को रोजगार दिलवाने तथा युद्ध हर्जाने पर प्रतिबंध लगाने के लिए आश्वस्त कर दिया। इससे वह जल्द ही जनता के बीच में लोकप्रिय हो गया। जर्मनी की अत्यन्त निराश जनता को हिटलर के नेतृत्व में एक आशा की किरण नजर आने लगी। धीरे–धीरे जनमत का झुकाव हिटलर की ओर होने लगा।

2. वाइमर गणतंत्र की असफलता :– वाइमर गणतंत्र का उदय जर्मनी की दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति में हुआ। आरम्भ में ही इस गणतंत्र को वर्साय संधि पर हस्ताक्षर करने पड़े जिसमें उसने लगभग अपना सबकुछ खो दिया था। जर्मनी के जनतांत्रिक संविधान में अनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली थी। इस कारण वहाँ अनेक दलों का निर्माण हो गया था। जिससे जर्मनी में कुशल सरकार स्थापित नहीं हो सकी इसके कारण जनता में वाइमर गणतंत्र के प्रति असंतोष था। अधिनायकवाद की ओर उसका विश्वास और अधिक प्रबल हो गया। इस स्थिति का लाभ हिटलर को मिला जो कि वहाँ एक अधिनायकवादी शासन की स्थापना करना चाहता था।

3. जनतांत्रिक प्रणाली से मोहभंग :– नाजी दल के अस्तित्व में आने का यह भी एक मुख्य कारण था कि वहाँ कि जनता का जनतान्त्रिक प्रणाली से मोहभंग हो गया था। सरकार जिस प्रकार से कार्य कर रही थी उससे वहाँ की जनता सन्तुष्ट नही थी। इस प्रणाली में उसे अनुशासन का वातावरण दिखाई नहीं देता था। उसे लगने लगा था कि यह सरकार सिर्फ बातें ही कर सकती है काम नहीं कर सकती। इस कारण जर्मनी की जनता इस सरकार से असंतुष्ट थी। जनता को वर्साय संधि के बाद एक ऐसे शासक की आकांक्षा थी जो कि उसे इस दयनीय दशा से मुक्त कर सके। जर्मन जनता को लगने लगा था कि हिटलर उनकी इन अपेक्षाओं को पूरा कर सकता है। इसलिए उसने हिटलर को समर्थन दिया।

4. साम्यवाद का खौफ :– हिटलर को अपने लक्ष्य में साम्यवाद ही सबसे बड़ी रूकावट नजर आ रहा था। साम्यवाद ने रूस में अपना प्रभाव स्थापित कर लिया था तथा उससे जर्मनी भी

अछूता नहीं रहा। हिटलर जानता था कि साम्यवादियों को वहाँ की जनता के समर्थन के द्वारा ही रोका जा सकता है इसलिए उसने साम्यवादियों के विरोध में वहाँ की जनता के मन में डर की भावना को जन्म दिया। उसने उनके समक्ष स्पष्ट किया कि साम्यवाद का अन्तर्राष्ट्रीयवाद जर्मनी के राष्ट्रवाद के लिए सबसे बड़ा खतरा हैं। साम्यवादी शक्तिशाली होकर जर्मनी पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लेंगे। हिटलर की इन सब बातों ने वहाँ की जनता को बहुत अधिक प्रभावित किया।

5. यहूदी विरोधी भावना :– जर्मन जनता यहूदियों के प्रति घृणा की भावना रखती थी। ये यहूदी बड़े–बड़े उद्योग धन्धों व व्यापारियों में अपना प्रमुख स्थान रखते थे। हिटलर ने प्रथम विश्वयुद्ध में जर्मनी की हार का जिम्मेदार भी यहूदियों को ही ठहराया। उसने जर्मन जनता को आश्वासन दिया कि जर्मन जनता पर यहूदियों के ऋणों को वह माफ कर देगा और यहूदियों को देश से बाहर खदेड़ देगा।

6. हिटलर के प्रभावशाली कार्यक्रम :– हिटलर जर्मन जनता के मन में अपने प्रति विश्वास जगा कर ही जर्मनी में नाजीवाद को स्थापित कर सकता था। इसलिए वह वहाँ की जनता की आकाक्षांओं, मनोभावों, विचारों तथा स्थानीय संस्कृति आदि के अनुसार ही कार्य करता था। उसके इन सभी कार्यक्रमों से जनता बहुत अधिक प्रभावित थी। जर्मन जनता के विचारों को उसने सच में बदलने का संकल्प लिया था। वह जनता के इन विचारों को और गहरा करते हुए लोकतंत्र की निंदा करता था। वह शक्ति के शासन को प्रबल बनाता था। वहाँ की जनता वीर नायकों की तरह हिटलर को मानने लगी थी।

7. जर्मन नवयुवकों, सैनिकों तथा राज–कर्मचारियों का साथ :– प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् जर्मनी की दशा इतनी शोचनीय हो गयी थी कि वहाँ के नवयुवकों को रोजगार नहीं मिल रहा था। इसलिए वे हिटलर के नाजीवाद के कार्यक्रम की ओर आकृष्ट हुए। वर्साय संधि में जर्मनी का जो निःशस्त्रीकरण कर दिया गया हिटलर ने उसका विरोध किया। इसलिए वहाँ के सैनिक भी उसका साथ देने के लिए उत्साहित थे। वहाँ के राजकर्मचारी जनतांत्रिक पद्धति से असंतुष्ट थे इसलिए हिटलर को वहाँ के नवयुवकों सैनिकों तथा राज कर्मचारियों का भी समर्थन प्राप्त हुआ।

8. जर्मनी की पारंपरिक राजनीतिक विचारधारा :– जर्मनी के इतिहास का प्रारम्भ राष्ट्रीय नायक से ही हुआ था। वहाँ की जनता अनुशासन प्रिय थी। वहाँ की पारम्परिक राजनीति अधिनायकवादी थी। वह शक्ति के शासन में विश्वास रखती थी। यह सब कुछ जर्मनी की जनता को हिटलर में स्पष्ट रूप से दिखाई दे रहा था।

एडोल्फ हिटलर :– हिटलर का जन्म 20 अप्रैल 1889 को आस्ट्रिया के बौनी नामक एक छोटे से गाँव में हुआ था। उसका पिता चुंगी कर्मचारी था। निर्धनता के कारण उसकी उच्च शिक्षा भी नहीं हो सकी निर्धनता के कारण ही उसने पेन्टर का कार्य करके अपना जीविकोपार्जन किया। उसके लिए जर्मन जाति ही श्रेष्ठ थी। वह यहूदियों से बहुत अधिक घृणा करता था। उसे जनतंत्र भी नापसंद था। वह प्रारम्भ से ही शांति में रहने के स्थान पर शौर्य के साथ सेना में जीवन व्यतीत करने को श्रेष्ठतर समझता था। इसलिए उसने प्रथम विश्व युद्ध के प्रारम्भ होते ही सेना में प्रवेश ले लिया।

प्रथम विश्व युद्ध में हिटलर ने वीरता का परिचय दिया। इस कारण उसे सम्मान स्वरूप वीरता पुरस्कार ''आयरन क्रास'' मिला। किन्तु इस युद्ध में जर्मनी की हार ने हिटलर के मन में बहुत अधिक विद्रोह की भावना उत्पन्न कर दी। उसने इस युद्ध में हार का मुख्य कारण साम्यवादियों यहूदियों, समाजवादियों तथा वहाँ की जनतंत्रात्मक पद्धति को ठहराया।

युद्ध के समाप्त हो जाने पर 1918 ई. में वह म्यूनिख आ पहुँचा और वहाँ उसे जासूसी विभाग में नौकरी मिल गयी यहीं जर्मन श्रमिक दल के 6 व्यक्तियों के एक गुप्त दल का उसे पता चला। वह भी 1920 ई. में इस दल का सदस्य बन गया और धीरे–धीरे वह इस दल का नेता बन गया। उसने इस दल के नाम को परिवर्तित करके इसे ''राष्ट्रीय समाजवादी जर्मन श्रमिक दल'' दे दिया। इसे संक्षिप्त रूप में नाजीदल कहा जाता है। इस दल के उत्थान के लिए उसने अपनी पूरी शक्ति लगा दीं उसने ''स्वास्तिक'' को अपने दल का चिन्ह बनाया। वह अपने दल का कार्य पूर्ण रूप से गुप्त रखता था। दल के प्रत्येक सदस्य उसके प्रति समर्पित थे। उसने सन् 1923 में वहाँ की जनतांत्रिक सरकार के विरोध में विद्रोह प्रारम्भ कर दिया था। इस कारण उसे देशद्रोह के आरोप में 5 वर्ष के लिए जेल की

सजा काटने का दण्ड सुनाया गया। किन्तु 8 माह बाद उसे कैदखाने से छोड दिया गया। उसने इस कैद में ही रहकर अपनी प्रसिद्ध पुस्तक ''मीन काम्फ'' लिखी।

नाजीवाद के उत्कर्ष परिणाम :–

1. एकता समझौता:– जर्मनी में हिटलर के अभ्युदय के पश्चात् प्रथम हलचल उसके तीन प्रमुख नजदीकी लघु मैत्री संघ के राष्ट्रों में हुई जो कि चेकोस्लोवाकिया, यूगोस्लाविया, रूमानिया थे। इन देशों ने हिटलर के भय से जेनेवा में नि:शस्त्रीकरण सम्मेलन में भाग लेते वक्त ''एकता समझौता'' किया। जिसमें यह निश्चित हुआ कि इन तीनों देशों के विदेश मन्त्रियों की एक परिषद् का गठन किया जाए जिसमें वे अपने हितों को ध्यान में रखते हुए विचार संगोष्ठी कर सके। क्योंकि जर्मनी इन राष्ट्रों के प्रति घृणा का भाव रखता था।

2. हंगरी का सहयोग :– हंगरी का तत्कालीन प्रधानमंत्री गोम्वस भी नाजीवाद के प्रति सहानुभूति रखता था। हंगरी भी वर्साय संधि द्वारा उपेक्षित था और लघु मैत्री संघ के राष्ट्रों से नफरत करता था। इस कारण इन दोनों राष्ट्रों की विचारधारा एक–दूसरे से मिलती–जुलती थी। इसलिए हंगरी जर्मनी एक–दूसरे को अपना मित्र समझने लगे और जर्मनी को यह विश्वास हो गया कि अब यदि विश्व युद्ध हुआ तो उसे हंगरी का सहयोग मिलना संभव है।

3. जर्मनी पोलैण्ड समझौता :– हिटलर के नाजीवाद के जर्मनी में सफल होने के पश्चात् पौलेण्ड को यह भय सताने लगा कि जर्मनी उस पर आक्रमण न कर दे क्योंकि वर्साय की संधि में मित्रराष्ट्रों द्वारा उसे जर्मनी का बहुत अधिक क्षेत्र प्राप्त हुआ था। उसे डर था कि हिटलर पोलिश गलियारे को समाप्त न कर दे। इस कारण उसने जर्मनी से मैत्री करने में ही अपना लाभ समझा। जर्मनी भी अपने आस–पास के राष्ट्रों को मित्र बनाने के लिए तलाश कर रहा था। इस कारण जनवरी 1934 को दोनों देशों में एक समझौते के साथ मित्रता हो गयी।

4. सोवियत रूस में क्रान्तिकारी परिवर्तन :– रूस एक साम्यवादी राष्ट्र था। जर्मनी में साम्यवाद के विरोध में एक ऐसी संस्था अस्तित्व में आयी थी जो कि अधिनायकवादी थी। इस कारण रूस को अपनी असुरक्षा का भय सताने लगा। इस कारण उसने राष्ट्रसंघ की सदस्यता ग्रहण कर ली और अपनी विदेश नीति को सुदृढ़ करते हुए अमेरिका तथा फ्रांस से मित्रता करके चेकोस्लोवाकिया के साथ सुरक्षा संधि स्थापित कर ली।

5. इटली व फ्रांस में मैत्री :– जर्मनी में हिटलर के उत्कर्ष के कारण, फ्रांस को अपनी सुरक्षा का भय सताने लगा। उसने चेकोस्लोवाकिया, इटली व रूस से मित्रता स्थापित कर ली। इनमें इटली व फ्रांस की मित्रता मुख्य थी जो कि लेवाल मुसोलिनी समझौता जनवरी 1935 से प्रारम्भ हुई। इस मैत्री ने चारों और हलचल उत्पन्न कर दी। किन्तु अपने स्वार्थों में अन्तर होने के कारण इन दोनों राष्ट्रों की मैत्री अधिक समय तक अस्तित्व में नहीं रह सकी।

6. ब्रिटेन की तुष्टिकरण की नीति :– हिटलर साम्यवादियों का विरोधी था। इसलिए अमेरिका व ब्रिटेन को इसमें सोवियत रूस के विरूद्ध अपने उद्देश्यों की प्राप्ति प्रतीत हो रही थी। इस कारण उन्होंने जर्मनी के प्रति तुष्टिकरण की नीति अपनाई।

7. यूरोपीय राष्ट्रों में असुरक्षा का भय :– जर्मनी में हिटलर के नाजी दल के उत्कर्ष के साथ ही सम्पूर्ण यूरोप में असुरक्षा का वातावरण स्पष्ट दिखाई देने लगा। छोटे–छोटे राज्य ही नहीं अपितु महाशक्तियाँ भी हिटलर से भयभीत हो गई।

8. द्वितीय महायुद्ध की पृष्ठभूमि का निर्माण :– हिटलर के आक्रामक व्यक्तित्व के कारण लगभग सम्पूर्ण यूरोप भयभीत था और उन्हें आगामी युद्ध का विध्वंस स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होने लगा।

9. पड़ोसी राष्ट्रों में रहने वाली जर्मन जातियों का जर्मनी में एकीकरण :– हिटलर ने ऑस्ट्रिया डेंजिग, स्विट्जरलैण्ड, चैकोस्लोवाकिया और बाल्टिक राज्यों में रहने वाली जर्मन जातियों को दूसरे राष्ट्रों की क्षमता से मुक्त कराकर उनका जर्मनी में एकीकरण कर लिया गया। जबकि वर्साय की सन्धि में जर्मनी को एकीकरण से कई प्रकार से प्रतिबन्धित कर दिया गया था।

10. वर्साय की संधि का अंत व शस्त्रीकरण का आरम्भ :– वर्साय संधि जर्मन जनता के लिए घोर अपमानित करने वाली थी। इसलिए हिटलर ने वर्साय की संधि की सभी शर्तों को रद्द कर दिया और उसने राष्ट्र संघ द्वारा आयोजित नि:शस्त्रीकरण सम्मेलन में जाकर यह स्पष्ट कर दिया कि सभी राष्ट्रों को

समानता दी जानी चाहिए। इसलिए उसने 14 अक्टूबर 1933 को निःशस्त्रीकरण का बहिष्कार करके राष्ट्र संघ की सदस्यता से भी इस्तीफा दे दिया और जर्मनी में शस्त्रीकरण की कार्यवाही शुरू कर दी।

11. रोम–बर्लिन–टोकियो धुरी :– हिटलर मुसोलिनी को अपना मित्र बनाना चाहता था और यह संभव भी था क्योंकि जर्मनी व इटली की विचारधाराएं एवं हित समान थे। आरम्भ में दोनों में मित्रता नहीं थी किन्तु अबीसीनिया काण्ड के कारण राष्ट्रसंघ में इटली के विरोध में ब्रिटेन, फ्रांस व रूस आ गये जिसके कारण राष्ट्रसंघ ने इटली पर बहुत से प्रतिबन्ध लगा दिये। इटली ने जर्मनी से मित्रता कर ली हिटलर यहीं आकांक्षा रखता था। इसलिये उसने मुसोलिनी को हर संभव मदद दी और उसने अबीसीनिया युद्ध में इटली को विजयी बनाकर उसके लिए अपने प्रति विश्वास को स्पष्ट कर दिया। इटली से मित्रता करने के उपरांत उसने जापान से मित्रता स्थापित करने का प्रयत्न किया उस समय रूस जर्मनी और जापान दोनों के साम्राज्य के विस्तार में बाधक था। ''एन्टी कॉमिन्टर्न पैक्ट'' जर्मनी व जापान के बीच 25 नवम्बर 1936 को हुआ एवं इटली, जर्मनी व जापान के मध्य 6 नवम्बर 1937 को हुआ था।

12. पोलेंड पर आक्रमण और द्वितीय विश्वयुद्ध का आरम्भ :– वर्साय की संधि में जर्मनी का बहुत सा भू–भाग पोलेंड को दे दिया गया था। जर्मनी अपने इस अपमान को भूल नहीं पाया था किन्तु कुछ कारणवश उसे सन् 1934 ई. में पोलेंड के साथ 10 वर्ष तक अनाक्रमण संधि करनी पड़ी थी। फिर भी पोलेंड इस बात से अनभिज्ञ नहीं था कि जर्मनी उस पर आक्रमण करेगा। उनकी यह शंका सत्य में परिणित हो गयी और जर्मनी ने पोलेण्ड पर आक्रमण कर दिया और यही से द्वितीय विश्व युद्ध का आरम्भ हुआ।

द्वितीय विश्व युद्ध

वर्साय की संधि पर विचार करते समय मार्शल फौच ने कहा था कि ''यह शान्ति संधि नहीं, यह तो बीस वर्ष के लिए युद्ध विराम संधि है।'' वास्तव में मार्शल फौच की यह भविष्यवाणी सत्य सिद्ध हुई। प्रथम महायुद्ध की समाप्ति सन् 1918–19 में हुई थी और ठीक 20 वर्ष बाद सन् 1939 में द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ हुआ।

इस महाविनाशकारी युद्ध ने मानवता को विनाश के गर्त में ढ़केल दिया। प्रथम महायुद्ध तुलनात्मक रूप से सीमित था, किन्तु द्वितीय विश्व युद्ध ने सम्पूर्ण विश्व को अपने घातक परिणामों से प्रभावित किया। इस विश्वयुद्धने विख्यात वैज्ञानिक आइंसटाइन को यह कहने पर बाध्य कर दिया कि ''तृतीय विश्वयुद्ध के बारे में तो मैं नहीं कह सकता, परन्तु चौथा विश्वयुद्ध पाषाण अस्त्रों से लड़ा जाएगा।''

स्पष्ट हैं कि द्वितीय महायुद्ध की भयंकरता ने राजनीतिज्ञों और वैज्ञानिकों के हृदय में यह आशंका पैदा कर दी कि यदि कही तृतीय महायुद्ध हो गया तो सम्पूर्ण मानव सभ्यता ही नष्ट हो जाएगी।

द्वितीय विश्व युद्ध के कारण

प्रथम महायुद्ध 11 नवम्बर 1918 ई. को समाप्त हुआ और ठीक 20 वर्ष बाद सन् 1939 ई. में द्वितीय महायुद्ध प्रारंभ हुआ। प्रथम महायुद्ध के उपरान्त विश्व शान्ति के प्रयत्न ही अप्रत्यक्ष रूप से द्वितीय महायुद्ध के कारण बन गए। राष्ट्रसंघ अन्तर्राष्ट्रीय शांति के प्रयास में असफल रहा और राष्ट्रों द्वारा उसके लक्ष्यों की अवमानना की गई। यूरोप के सभी छोटे बड़े साम्राज्यवादी राष्ट्र जैसे इंग्लैण्ड, इटली, जर्मनी, रूस, पौलेण्ड इत्यादि अन्तर्राष्ट्रीय न्याय तथा सन्धि की शर्तों के विपरीत शस्त्रीकरण की विनाशकारी होड़ में लग गए।

इन परिस्थितियों का स्वाभाविक परिणाम यह महाविनाशकारी युद्ध था जिसने मानवता को विनाश के गर्त में ढकेल दिया। इसके प्रमुख कारण निम्नांकित है–

1. वर्साय संधि की कठोर व अपमानजनक शर्ते :– ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि द्वितीय विश्व युद्ध के कारणों के बीज पेरिस में हुई सन्धियों में थे। प्रथम विश्व युद्ध में जर्मनी की पराजय हुई। उसे वर्साय की अपमानजनक सन्धि पर हस्ताक्षर करने पड़े। संधि को लेकर जर्मन के

प्रतिनिधियों व जनता में भारी असंतोष था। इस संधि ने जर्मनी को राजनीतिक, आर्थिक व सैनिक रूप से पंगु बना दिया। उसे उपनिवेशों से वंचित किया एवं उसके व्यापार तथा वाणिज्य को बड़ी हानि पहुंचायी।

लैंगसम ने लिखा है – ''इससे यूरोप में जर्मन प्रदेश का आठवां भाग और 70 लाख व्यक्ति कम हो गये, उसके सारे उपनिवेश, 15% कृषि योग्य भूमि, 12% पशु, 10% कारखाने छीन लिए गए, उसके व्यापारिक जहाज 57 लाख टन से घटाकर केवल 5 लाख टन तक सीमित कर दिये गये। ब्रिटेन की नौ–सैनिक शक्ति से प्रतिस्पर्धा करने वाली उसकी नौ–सैनिक शक्ति को नष्ट कर दिया गया और स्थल सेना की संख्या एक लाख निश्चित कर दी गयी। उसे अपने कोयले के 2/3 भाग से, लोहे के 2/3 भाग से, और जस्ते के 7/10 भाग से तथा आधे से भी अधिक सीसे के क्षेत्र से हाथ धोना पड़ा। उपनिवेशों के इस प्रकार छीन लिये जाने से उसे रबड़ और तेल की कमी का सामना करना पड़ा। वर्साय की प्रादेशिक व्यवस्थाओं में उसके उद्योग–धन्धों और व्यापार को एकदम चौपट कर दिया। इसी प्रकार क्षतिपूर्ति के नाम पर उसे खाली चैक पर हस्ताक्षर करने को बाध्य किया गया।

जर्मनी जैसा स्वाभिमानी राष्ट्र ऐसी दमनात्मक व अपमान की शर्तों को दीर्घकाल तक बर्दाश्त नहीं कर सकता था। अवसर मिलते ही अपमान का प्रतिशोध लेने के लिए जर्मनी ने पुनः मित्र राष्ट्रों के विरूद्ध हथियार उठा लिये।

2. अधिनायकवाद का उदय :– इस समय कई देशों में अधिनायकवादी शक्तियों का उदय हुआ जिनके कार्यों और उग्र नीति ने द्वितीय विश्व युद्ध को अनिवार्य बना दिया। जर्मनी में वाइमर गणराज्य कमजोर साबित हुआ। वर्साय की संधि पर हस्ताक्षर से जनता में असंतोष पनपने लगा। जनता के असंतोष व राष्ट्रीय भावना का लाभ उठाकर हिटलर सत्ता तक पहुँच गया। उसने आक्रामक विदेश नीति का अनुसरण किया।

इटली में मुसोलिनी ने लोकतांत्रिक व्यवस्था का अंत कर अधिनायकवादी सत्ता स्थापित कर दी। जापान में भी तानाशाही एवं साम्राज्यवादी भावना उत्पन्न हो चुकी थी। जापान, इटली व जर्मनी तीनों ने मिलकर 6 नवम्बर 1937ई. को रोम–बर्लिन–टोक्यो धुरी का निर्माण किया। इस प्रकार अधिनायकवाद के उदय ने विश्व को युद्ध के बहुत पास ला दिया।

3. राष्ट्रसंघ की निर्बलता :– छोटे राज्यों के झगड़ों को निपटाने में तो राष्ट्रसंघ सफल रहा, परन्तु बड़े राष्ट्रों के मामलों में राष्ट्रसंघ कुछ न कर सका। इससे छोटे राष्ट्रों का विश्वास खत्म हो गया और उन्होंने अपनी सुरक्षा के लिए प्रमुख शक्तियों के साथ सैनिक संधियाँ करना शुरू कर दिया। परिणामस्वरूप संसार पुनः दो सशस्त्र गुटों में विभाजित हो गया जिससे अन्तर्राष्ट्रीय तनाव बढ़ता ही गया और जिसकी परिणति द्वितीय विश्वयुद्ध में हुई। शूमेन ने उचित ही कहा है – ''संघ की सफलता के लिए यह आवश्यक था कि सदस्य राज्यों में इसके सिद्धान्तों के प्रति निष्ठा, बुद्धिमत्ता और साहस होता किन्तु इनमें इसका सर्वथा अभाव था। अतएव जेनेवा की झील के तट पर एरियानान पार्क में निर्मित उसका भव्य प्रासाद शीघ्र की उसका सुन्दर समाधि स्थल बन गया।''

4. साम्राज्यवादी भावना :– एशिया में जापान अपने साम्राज्य का विस्तार करना चाहता था। 1930 तक जापान की शक्ति में बहुत वृद्धि हुई और 1931ई. में उसने मंचूरिया पर चढ़ाई की। जुलाई 1937ई. में उसने युद्ध की घोषणा किये बिना चीन के साथ युद्ध शुरू कर दिया।

यूरोप में हिटलर जर्मनी से प्रथम विश्व युद्ध के बाद छीने गये उपनिवेशों को न केवल वापस लेना चाहता था, अपितु अपने देश में ऐसे अनेक देश सम्मिलित करना चाहता था जिससे जर्मनी का साम्राज्य ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस जैसा हो जाये। इसी प्रकार मुसोलिनी भी इटली को एक महान साम्राज्य बनाने की योजनाएँ बनाने में लगा हुआ था।

5. निःशस्त्रीकरण की असफलता :– पेरिस सम्मेलन में सभी देशों के प्रतिनिधियों ने निश्चित किया था कि भविष्य में युद्ध की आशंका को दूर करने का सबसे अच्छा उपाय निःशस्त्रीकरण है। यह प्रस्ताव पराजित राष्ट्रों पर कठोर रूप से लागू किया गया, परन्तु विजयी देशों ने निःशस्त्रीकरण की ओर ध्यान नहीं दिया। 1932ई. में राष्ट्रसंघ के तत्वाधान में जेनेवा में निःशस्त्रीकरण सम्मेलन आरम्भ हुआ। संयुक्त राज्य अमरीका, सोवियत रूस तथा अन्य अनेक राष्ट्रों ने इसमें भाग लिया किन्तु पारस्परिक अविश्वास, घृणा एवं स्वार्थ के कारण निःशस्त्रीकरण

के किसी पहलू पर कोई सन्धि न हो सकी।

मार्च 1935ई. में हिटलर ने खुले तौर पर पुनशस्त्रीकरण की घोषणा की। इस घोषणा ने यूरोप में घबराहट उत्पन्न कर दी। जर्मनी के पुनशस्त्रीकरण से उत्पन्न संकट का सामना करने के लिए सोवियत रूस तथा फ्रांस ने पारस्परिक रक्षात्मक सन्धि पर हस्ताक्षर किये। इस प्रकार जर्मनी एवं फ्रांस पुनर्शस्त्रीकरण में जुट गये। पुनर्शस्त्रीकरण के कारण यूरोप तीव्र गति से भयंकर विस्फोट की ओर अग्रसर हुआ जिसकी अन्तिम परिणति द्वितीय विश्व युद्ध में हुई।

6. उग्र राष्ट्रवाद :– प्रथम विश्व युद्ध की भांति दूसरे विश्व युद्ध में भी उग्र राष्ट्रवाद संघर्ष का महत्वपूर्ण कारण था। औद्योगिक क्रांति ने प्रतिस्पर्धा बढ़ाकर आर्थिक राष्ट्रवाद की भावना विकसित की। आर्थिक मंदी ने भी राष्ट्रवाद की भावना को उत्तेजित किया और मित्र राष्ट्रों ने भी अपने राष्ट्रहित को ध्यान में रखकर नीति अपनाई।

अब यह 'मेरा देश', 'मेरी भाषा', 'मेरी संस्कृति' ही सर्वश्रेष्ठ है, बाकी सभी गौण है, समझने लग गये। हिटलर का कथन था कि ''जर्मन शुद्ध आर्य नस्ल के हैं, वे जहाँ कहीं भी रहते हैं, वे प्रदेश उनके है, वे संसार के सर्वश्रेष्ठ लोग हैं, अतः हर दृष्टि से उन्हें अधिकार है कि वे सब लोगों पर शासन करे। इस तरह के उग्र राष्ट्रवाद ने मानव जाति को एक बार फिर विनाश की ओर धकेल दिया।

7. तुष्टीकरण की नीति :– प्रथम विश्व युद्ध के बाद ब्रिटेन और फ्रांस की विदेश नीति में बदलाव होने लगे। ब्रिटेन शक्ति संतुलन की नीति में विश्वास करने लगा। वह नहीं चाहता था कि फ्रांस एक शक्तिशाली देश बन जाये क्योंकि इससे यूरोप का शक्ति संतुलन बिगड़ने का भय था। ब्रिटेन साम्यवाद के बढ़ते प्रभाव से चिन्तित था। इसलिये उसने जर्मनी के प्रति तुष्टीकरण की नीति अपनायी ताकि आवश्यकता पड़ने पर शक्तिशाली जर्मनी, साम्यवादी रूस का मुकाबला कर सके। अतः ब्रिटेन ने जर्मनी के साथ हमेशा तुष्टीकरण की नीति का अनुसरण किया।

1938 में आस्ट्रिया के अपहरण चेकोस्लोवाकिया के अंग भंग, राइनलैण्ड में सैन्यकरण आदि व्यवस्थाओं के उल्लंघन के विरूद्ध तुष्टिकरण की नीति अपनाते हुए कोई कदम नहीं उठाया।

इससे मित्र राष्ट्रों का मोर्चा कमजोर पड़ता गया व तानाशाहों का आत्मविश्वास बढ़ता गया। शूमां के शब्दों में ''तुष्टीकरण आरम्भ से ही एक आत्मघाती मूर्खता के अतिरिक्त और कुछ नहीं थी।''

8. अल्पसंख्यक जातियों का असन्तोष :– वर्साय की सन्धि और उसके साथ ही बाद में होने वाली अन्य सन्धियों के द्वारा विभिन्न अल्पसंख्यक जातियाँ अस्तित्व में आयी। पेरिस शान्ति संधियों के बाद कई अल्पसंख्यक जातियां विदेशी शासन के अन्तर्गत रह गयीं, जिसके कारण उनमें असन्तोष और भय की भावना उत्पन्न हो गयी।

हिटलर ने इस असन्तोष का लाभ उठाया। उसने पश्चिमी शक्तियों से सौदेबाजी की और ''अल्पसंख्यकों पर कुशासन'' के बहाने से आस्ट्रिया तथा सुडेटनलैण्ड प्रदेश पर कब्जा कर लिया और पोलेण्ड पर भी आक्रमण कर दिया। जिससे द्वितीय विश्व युद्ध की शुरूआत हो गयी।

9. अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक संकट :– सन् 1929 ई. में विश्व में एक महान् आर्थिक संकट आया, जिसका प्रत्येक देश की आर्थिक व्यवस्था पर प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से बुरा प्रभाव पड़ा। इस आर्थिक संकट के परिणामस्वरूप राष्ट्रों में निःशस्त्रीकरण की भावना समाप्त हो गयी और वे शस्त्रों की होड़ में लग गये। जर्मनी में घोर आर्थिक संकट छा गया, जिसके कारण लगभग 7 लाख व्यक्ति बेकार हो गये। इस आर्थिक संकट ने जर्मनी में नाजीवाद के उत्कर्ष में सहायता प्रदान की। इस आर्थिक संकट का लाभ उठाकर ही जापान ने सन् 1931 में मंचूरिया पर चढ़ाई कर दी और सन् 1935ई. में अबीसीनिया पर इटली का हमला भी इसी आर्थिक संकट का एक अप्रत्यक्ष परिणाम था।

10. विश्व का दो गुटों में विभाजन :– जिस प्रकार प्रथम विश्व युद्ध से पहले समूचा विश्व दो विरोधी सैनिक गुटों में विभाजित हो गया। उसी प्रकार द्वितीय विश्वयुद्ध से पूर्व भी सम्पूर्ण विश्व दो परस्पर शत्रु सैनिक गुटों में बँट गया। एक तरफ जर्मनी, इटली और जापान जैसे कभी सन्तुष्ट न होने वाले राष्ट्रों की 'रोम बर्लिन टोक्यो' धुरी थी तो दूसरी तरफ ब्रिटेन फ्रांस, सोवियत संघ और अमरीका जैसे मित्र राष्ट्रों ने मिलकर एक सुदृढ़ संगठन स्थापित कर लिया। जब हिटलर के नेतृत्व में जर्मन सेना ने पोलेण्ड पर आक्रमण किया तो ब्रिटेन और फ्रांस ने

पोलेण्ड को समर्थन दिया और द्वितीय महायुद्ध भड़क उठा।

11. युद्ध का तात्कालिक कारण :– उपर्युक्त कारणों से अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच पर बारूद का महल खड़ा हो चुका था। अब एक चिनगारी लगाने की देर थी। यह कार्य हिटलर ने पोलेण्ड पर आक्रमण करके सम्पन्न किया। 1 सितम्बर 1939 ई. को हिटलर ने पोलेण्ड पर अचानक आक्रमण कर दिया। 3 सितम्बर को ब्रिटेन व फ्रांस द्वारा चेतावनी देने पर भी युद्ध बंद नहीं किया तो ब्रिटेन व फ्रांस ने भी जर्मनी के विरूद्ध युद्ध की घोषणा कर दी।

द्वितीय विश्वयुद्ध के प्रभाव एवं परिणाम

द्वितीय विश्वयुद्ध लगभग 6 वर्ष तक चला। यह मानव इतिहास का सर्वाधिक क्रूर, भयानक और विनाशकारी युद्ध था। इसका विश्व के राजनैतिक एवं भौगोलिक परिवेश पर व्यापक प्रभाव पड़ा।

1. परमाणु युग का सूत्रपात :–संयुक्त राज्य अमेरिका के एक वायुयान बी–29 ने 6 अगस्त 1945 ई. को हिरोशिमा पर एक अणुबम गिराया। जिससे 90 प्रतिशत इमारतें नष्ट हो गई एवं लगभग 7, 50, 000 व्यक्ति मारे गये। 9 अगस्त 1945 ई. को नागासाकी पर अणु बम गिराए गए। इस महा संहार के साथ ही परमाणुयुग का सूत्रपात हुआ। इस युग से मानव सभ्यता पर विनाश की काली घटा छा गई। वैज्ञानिक उन्नति ने इसे और भयावह बना दिया लेकिन इसी भय ने विश्व के विभिन्न देशों को एक दूसरे के नजदीक खड़ा कर शांति की राह खोजने पर मजबूर कर दिया।

2. दो विचार धाराओं में विभाजित विश्व :– दूसरे विश्व युद्ध के बाद उग्र राष्ट्रवाद के स्थान पर नई विचार धाराओं ने स्थान ले लिया, जो समाज को नए रूप में संगठित करना चाहती थी। जिससे विश्व समाज दो प्रमुख विचार धाराओं में विभाजित हो गय। प्रथम साम्यवाद या कम्युनिज्म दूसरा लोकतंत्रवाद या डेमोक्रेसी। साम्यवादी विचार धारा उत्पादन के साधनों पर समाज का अधिकार व वर्गविहीन समाज की बात करती है तो दूसरी तरफ लोकतंत्र विचारधारा उत्पादन, विनिमय और वितरण पर राज्य द्वारा नियंत्रण व पूँजीपति, मजदूर, जमींदार और किसान में समुचित समन्वय की बात करती है। इस प्रकार समाज व राष्ट्र दो पृथक वर्गों में विभाजित हो गया। राष्ट्रभक्ति का स्थान विचारधारा भक्ति ने ले लिया।

3. जर्मनी का दो भागों में विभाजन :– द्वितीय विश्व युद्ध के लिये जर्मनी को सर्वाधिक जिम्मेदार माना गया था। अतः मित्र राष्ट्रों ने जर्मनी को शक्तिहीन करने की दृष्टि से उसे पूर्वी और पश्चिमी जर्मनी में विभाजित कर दिया। बर्लिन के मध्य दीवार खड़ी कर दी। फ्रांस, ब्रिटेन और अमेरिका द्वारा अधिकृत पश्चिमी जर्मनी के क्षेत्रों का एकीकरण करके 21 सितम्बर 1949ई. जर्मन संघीय गणतंत्र की स्थापना की। पूर्वी जर्मनी का क्षेत्र जो रूसी प्रभाव में था 7 अक्टूबर 1949ई. को जर्मनी प्रजातंत्रात्मक गणराज्य की स्थापना की गयी। इसमें राजधानी बर्लिन एवं क्षेत्रफल 42000 वर्ग मील था। पश्चिमी जर्मनी में पूँजीवादी व पूर्वी जर्मनी में साम्यवादी अर्थव्यवस्था थी। सोवियत संघ के विघटन के बाद 1990ई. में पूर्वी व पश्चिमी जर्मनी का पुनः एकीकरण हो गया।

4. राष्ट्रीय भावना की निर्बलता :– वैज्ञानिक प्रगति द्वारा मनुष्य ने देश और काल पर अद्भुत विजय प्राप्त की ली थी। भाषा, नस्ल, धर्म व संस्कृति भेद व उसका महत्त्व कम हो गया था। अब राष्ट्र भावना के स्थान पर राष्ट्रहित के लिए विश्व स्तर पर संगठित होकर आगे बढ़ने की भावना विकसित होने लगी। यही कारण है कि समान विचारधारा वाले राष्ट्र विभिन्न संगठन बनाकर विकास व उन्नति की राह खोजने लगे।

5. सर्वसत्तावादी शासन की स्थापना पर बल :– युद्ध ने प्रजातंत्रीय विजेता राज्यों को निर्बल व खोखला साबित कर दिया था। ये राष्ट्र भी युद्ध के बाद आर्थिक संकट से अपने को नहीं बचा सके थे। विभिन्न विचार धाराओं के कारण ऐसी राजनीतिक पार्टियॉ स्थापित हो गईं थी जो राष्ट्र से अधिक विचार धारा को महत्व देती थी। फलतः लोकतांत्रिक व्यवस्था के उपरान्त भी जनता की शक्तियों पर नियंत्रण व राज्य के हित में कार्यवाही की आवश्यकता महसूस की जाने लगी। इस आवश्यकता ने सच्चे लोक शासन का लोप कर सर्व सत्तावादी शासन की स्थापना आरम्भ कर दी।

6. यूरोपीय प्रभुत्व का अंत :– द्वितीय विश्व युद्ध से पूर्व यूरोप विश्व इतिहास का निर्माता था। किन्तु युद्ध के बाद विश्व समाज को अनुशासित करने वाला यूरोप अब ''समस्या प्रधान'' यूरोप बन गया। जर्मनी पंगु हो चुका था। इटली सर्वनाश के कगार पर खड़ा था, ब्रिटेन व फ्रांस की स्थिति तृतीय श्रेणी के राष्ट्रों

जैसी हो गई थी। आर्थिक दृष्टि से पंगु इन देशों में लोग बेघर व बेरोजगार हो गए थे। परिणामस्वरूप विश्व का नेतृत्व दो महाशक्तियों–संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत रूस के हाथ में चला गया। विश्व के छोटे बड़े राष्ट्र इन महाशक्यिों के क्षेत्राधिकार में संगठित हो गए। विश्व का राजनैतिक नेतृत्व इन दोनों महाशक्तियों के हाथों में चला गया। सोवियत रूस–साम्यवादी व्यवस्था का तथा अमेरिका पूंजीवादी व लोकतांत्रिक व्यवस्था का पोषण करने लगा।

7. शीतयुद्ध का आरम्भ :– द्वितीय विश्व युद्ध के बाद दो महाशक्ति के रूप में अमेरिका व सोवियत रूस का उदय हुआ। विश्व दो खेमों में विभक्त हो गया। दोनों गुट अपना अपना प्रभुत्व स्थापित करने में जुट गए, जिससे दोनों के बीच मतभेद उत्पन्न हो गए। दोनों महा शक्तियाँ परस्पर विरोधी विचार धारा से संबंधित होने के कारण तनाव व वैमनस्य का वातावरण धीरे–धीरे बनने लगा। एक दूसरे पर आरोप, प्रत्यारोप व विरोधी राजनैतिक प्रचार करने से शीतयुद्ध आरम्भ हो गया। यह एक प्रकार का अप्रत्यक्ष युद्ध ही था जिससे परस्पर शत्रुतापूर्ण व्यवहार बना रहा।

8. गुट निरपेक्षता :– विश्व युद्ध के उपरान्त जन्मे नए सम्प्रभु राष्ट्रों ने अपने को शीतयुद्ध की खींचतान से अलग रखने का निर्णय लिया। भारत ने मार्ग दर्शन करते हुए गुट निरपेक्षता की आवाज बुलन्द की, गुलामी की जंजीरों से मुक्त राज्यों को (अफ्रीकी–एशियाई) संगठित होकर अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति बनने का आह्वान किया। गुट निरपेक्षता का प्रमुख ध्येय महा शक्तियों से समान दूरी बनाए रखते हुए अपने विकास में उनसे सहयोग प्राप्त करना, परस्पर सहयोग करके अपने को विकासशील राष्ट्रों की श्रेणी में लाना, अभी तक परतंत्र राज्यों के स्वाधीनता में सहयोग करना व उपनिवेशवाद के विरूद्ध लड़ने के लिए एक मंच तैयार करना था।

9. एशिया एवं अफ्रीका का जागरण एवं नये स्वतंत्र राज्यों का उदय :– विश्व युद्ध के बाद यूरोपीय उपनिवेशों में राष्ट्रीयता की भावना प्रज्वलित हुई। इस जागरण ने यूरोपीय राष्ट्रों के प्रभाव को समाप्त कर दिया। अपनी परिस्थितियों से विवश होकर ब्रिटिश सरकार ने अपनी नीतियों में परिवर्तन किया जिससे भारत, वर्मा, मलाया, श्रीलंका, मिश्र आदि विविध देश ब्रिटिश आधिपत्य से मुक्त हो गए। फ्रांसीसी आधिपत्य से भी अनेक देशों को स्वतंत्रता प्राप्त हुई। कम्बोडिया, लाओस, वियतनाम आदि देश स्वतंत्र हो गए। हालैण्ड के उपनिवेशों–जावा, सुमात्रा, बोर्नियो आदि ने हिन्देशिया नामक संघ राज्य की स्थापना की और स्वतंत्र हो गए। इस प्रकार धीरे धीरे औपनिवेशिक साम्राज्य का सूर्यास्त हो गया।

10. संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना :– द्वितीय विश्व युद्ध के भीषण ताण्डव ने विचारशील राजनीतिज्ञों को मानव जाति की रक्षा के लिए शांति को सुरक्षित रखने वाले एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के निर्माण की तीव्र आवश्यकता महसूस हुई। युद्ध काल में ही इसकी स्थापना के प्रयास आरम्भ हो चुके थे। अप्रेल–जून 1945ई. में सेन–फ्रांसिस्को सम्मेलन में इसको अन्तिम रूप दिया गया। 24 अक्टूबर 1945ई. को संयुक्त राष्ट्र संघ के विधान को लागू किया गया। सेन फ्रांसिस्को सम्मेलन में 51 सदस्यों ने हस्ताक्षर किए जो संस्थापक सदस्य कहलाये। वर्तमान में 193 सदस्य है।

निष्कर्ष :– द्वितीय विश्व युद्ध अति भयंकर एवं विनाशकारी था। इसके प्रभाव से कोई भी राष्ट्र अछूता नहीं रहा। राष्ट्रवाद का अन्त हो गया। विश्व वैज्ञानिक व विकास की सोच के साथ आगे बढ़ा। शक्ति का केन्द्र यूरोप से हस्तान्तरित हो गया। आर्थिक विकास प्रमुख ध्येय बन गया। संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना शांति, सुरक्षा व विकास के लिए सबसे बड़ी देन है।

संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना

कोई भी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था तब तक सुचारू रूप से कार्य नहीं कर सकती जब तक उसके सदस्य विशेषकर महान शक्तियाँ सहयोग से कार्य न करें तथा व्यक्तिगत रूप से रूकावट उत्पन्न न करें। यह विचित्र बात है कि मानव समाज के आचरण में युद्ध एवं शांति, विध्वंस तथा निर्माण के बीज साथ–साथ निहित हैं। नेपोलियन के युद्धों के बाद होली एलायंस, प्रथम विश्व युद्ध के बाद राष्ट्रसंघ तथा द्वितीय विश्व युद्ध के बाद 'संयुक्त राष्ट्र संघ' की स्थापना इसके प्रमाण हैं।

प्रथम विश्व युद्ध के बाद अन्तर्राष्ट्रीय शांति की स्थापना के लिए राष्ट्रसंघ अस्तित्व में आया जो विभिन्न दुर्बलताओं और महाशक्तियों के असहयोग के कारण अपने उद्देश्य में असफल हुआ। 3 सितम्बर 1939ई. में द्वितीय विश्वयुद्ध छिड़ गया जो आपार धन–जन के विनाश के बाद सन्

1945ई. में समाप्त हुआ।

द्वितीय विश्व युद्ध का विस्फोट होते ही मित्र राष्ट्रों ने एक नवीन अंतर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना के लिए विश्व के प्रमुख राजनीतिज्ञों की सम्मेलन वार्तायें प्रारम्भ की। वे इस प्रकार हैं –

अटलांटिक चार्टर :– 14 अगस्त 1941ई. को ब्रिटेन के प्रधानमंत्री चर्चिल व अमरीकी राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने संयुक्त घोषणा की। यह घोषणा अटलाण्टिक महासागर में एक युद्ध पोत पर की गई थी अतः इसे अटलाण्टिक घोषणा कहा गया। इसमें कहा गया कि ''हम साम्राज्यवादी भावना नहीं रखते है। हम चाहते हैं कि प्रत्येक राष्ट्र का शासन जनमत के आधार पर ही चले, सब राष्ट्रों में पारस्परिक आर्थिक सहयोग हो, युद्ध के बाद पराजित राष्ट्र पुनः प्रतिष्ठित हों और उन्हें पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त हो तथा प्रत्येक राष्ट्र युद्ध सामग्री में कमी करे और अन्तर्राष्ट्रीय शांति के लिए प्रयत्न करे।'' इस अटलाण्टिक घोषणा को ही संयुक्त राष्ट्रसंघ का जन्मदाता माना जाता है। अटलाण्टिक घोषणा पर 26 राष्ट्रों ने जनवरी 1942 में हस्ताक्षर किए और सोवियत रूस के हस्ताक्षर करते ही इस संगठन के अस्तित्व में जान आ गई।

सैन फ्रांसिस्को सम्मेलन, 1945ई. :– संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर को अंतिम रूप देने के लिए अमेरिका के सैन–फ्रांसिस्कों में एक सम्मेलन आयोजित हुआ। इसमें चार्टर को सर्वसम्मति से स्वीकार किया गया। चार्टर के अनुच्छेद 110 में यह कहा गया था कि सोवियत रूस, फ्रांस, इंग्लैण्ड़, अमेरिका, चीन तथा शेष राज्यों की अधिकांश राज्यों की सरकारों द्वारा स्वीकृति प्रदान करने पर चार्टर लागू माना जायेगा। इसमें 51 राष्ट्रों के 850 प्रतिनिधि एकत्रित हुए थे। 26 जून 1945ई. को चार्टर पर 50 राष्ट्रों ने हस्ताक्षर किए। बाद में पोलैण्ड राष्ट्र के प्रतिनिधि ने हस्ताक्षर किए। अनेक हस्ताक्षरकर्ता राष्ट्रों द्वारा इस हेतु अपनी संसद से स्वीकृति लेने की प्रक्रिया 24 अक्टूबर 1945ई. तक पूरी कर ली थी। 24 अक्टूबर 1945ई. को संयुक्त राष्ट्र संघ का चार्टर लागू हुआ। अतः 24 अक्टूबर को प्रतिवर्ष संयुक्त राष्ट्र संघ दिवस मनाया जाता है। 10 जनवरी 1946ई. को लंदन के वेस्टमिन्सटर हाल में संघ की प्रथम बैठक हुई।

संयुक्त राष्ट्र संघ का चार्टर :– संयुक्त राष्ट्र संघ के विधान को ही चार्टर कहा जाता है। चार्टर में 10,000 शब्द, 19 अध्याय व 111 धारायें हैं। इसमें संघ के उद्देश्यों, सिद्धान्तों व नियमों का उल्लेख है।

संयुक्त राष्ट्र संघ के उद्देश्य :– संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर में उसके उद्देश्यों का वर्णन इस प्रकार किया गया है। ''अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा स्थापित करना, राष्ट्रों के बीच जन–समुदाय के लिए समान अधिकारों तथा आत्मनिर्णय के सिद्धान्त पर आधारित मित्रतापूर्ण सम्बन्धों का विकास करना, आर्थिक, सामाजिक अथवा मानव जाति के लिए प्रेम आदि अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को सुलझाने में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग प्राप्त करना तथा उन सामान्य उद्देश्यों की पूर्ति के लिये राष्ट्रों के कार्यों को समन्वित करने के उद्देश्य से एक केन्द्र का कार्य करना।

चार्टर के अनुसार संयुक्त राष्ट्र संघ के चार प्रमुख उद्देश्य हैं–

1. सामूहिक व्यवस्था द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा कायम रखना और आक्रामक प्रवृत्तियों को नियंत्रण में रखना।
2. अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का शांतिपूर्ण समाधान करना।
3. राष्ट्रों के आत्मनिर्णय और उपनिवेशवाद विघटन की प्रक्रिया को गति देना।
4. सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक एवं मानवीय क्षेत्रों में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को प्रोत्साहित करना।

संघ ने इन उद्देश्यों से जुड़े हुए दो और लक्ष्य भी निर्धारित किए हैं। वे हैं – निःशस्त्रीकरण और नई अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था की स्थापना।

संयुक्त राष्ट्र संघ के सिद्धांत :– संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर के अनुसार निम्नांकित सिद्धांत बनाए गये है–

1. संयुक्त राष्ट्र संघ का गठन सभी सदस्य देशों की समान सम्प्रभुता के आधार पर किया गया है।
2. सभी सदस्य देशों से उन पर लागू होने वाले दायित्वों का पालन पूरी ईमानदारी से किए जाने की आशा की जाती है।
3. अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का निपटारा शान्तिपूर्ण साधनों से करना।

4. सदस्य राष्ट्र चार्टर के प्रतिकूल कार्य करने वाले राष्ट्र की सहायता नहीं करेगा।
5. संयुक्त राष्ट्र संघ अपने सदस्य न बने राष्ट्रों से भी अन्तर्राष्ट्रीय शांति व सुरक्षा बनाए रखने वाले सिद्धान्तों की पालना करवाने की व्यवस्था करेगा।
6. संयुक्त राष्ट्र संघ किसी भी राष्ट्र के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेगा।
7. अपने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में अन्य राज्यों के विरूद्ध धमकी या बल प्रयोग से विरत रहेगा।

संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता :– संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर के अनु. 4 में सदस्यता ग्रहण करने के लिए मुख्य शर्ते इस प्रकार है–

1. संयुक्त राष्ट्र संघ में वह देश सदस्यता ग्रहण कर सकता है जो शांति प्रिय हो।
2. चार्टर के उत्तरदायित्व को स्वीकार करने और उसको पूरा करने के योग्य एवं इच्छुक हो।
3. सदस्य राष्ट्र किसी भी प्रकार का प्रभाव संयुक्त राष्ट्र संघ के कर्मचारी पर नहीं डालेगा।

उपरोक्त शर्तों को मानने वाला विश्व का कोई भी देश संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता ग्रहण कर सकता है। परन्तु उस राष्ट्र को सदस्यता तब दी जायेगी, जब उसे सुरक्षा परिषद की संस्तुति के बाद महासभा दो–तिहाई बहुमत से अनुमोदन कर दे। संयुक्त राष्ट्र संघ की वर्तमान सदस्य संख्या 193 है। अंतिम सदस्य द. सूडान है।

सदस्यों का निलंबन :– चार्टर की धारा 5 एवं 6 के अनुसार संघ के किसी भी सदस्य को चार्टर की निरंतर उल्लंघन करने पर सुरक्षा परिषद् की सिफारिश पर महासभा द्वारा सदस्यता से वंचित किया जा सकता है।

संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता के प्रत्याहार के सम्बन्ध में चार्टर मौन है।

संयुक्त राष्ट्र संघ की आधिकारिक मुहर :– संयुक्त राष्ट्र संघ की मुहर में विश्व का नक्शा जैतून की टहनियों से घिरा हुआ दर्शाया गया है। महासभा ने इसकी डिजाइन 1946 ई. में स्वीकृत की थी।

संयुक्त राष्ट्र संघ का ध्वज :– संयुक्त राष्ट्र संघ के ध्वज की पृष्ठभूमि श्वेत रंग की है। इसमें ऊपर की ओर खुली हुई जैतून की दो शाखाएँ और हल्की नीली पृष्ठभूमि के साथ बीच में विश्व का मानचित्र है। अक्टूबर 1947 में संयुक्त राष्ट्र संघ ने ध्वज को अंगीकृत किया।

भाषायें :– संयुक्त राष्ट्र संघ की अधिकृत भाषायें – अंग्रेजी, फ्रेंच, चीनी, अरबी, रूसी तथा स्पेनिश है। कार्य करने की भाषायें दो ही है – अंग्रेजी तथा फ्रेंच।

मुख्यालय :– संयुक्त राष्ट्रसंघ का मुख्यालय अमरीका के न्यूयॉर्क शहर के मैनहेटन द्वीप में बना है। इसका भवन 17 एकड़ जमीन पर 39 मंजिल का है। वर्तमान में लगभग 10,000 कर्मचारी इसमें कार्यरत है। इस भवन में संघ के महासचिव का मुख्यालय भी है।

महासचिव :– महासचिव संयुक्त राष्ट्र संघ का मुख्य प्रशासनिक अधिकारी होता है। जिसकी नियुक्ति सुरक्षा परिषद् की संस्तुति पर महासभा द्वारा की जाती है। महासचिव के प्रत्याशी के बारे में सुरक्षा परिषद के पांच स्थायी सदस्यों की सकारात्मक सहमति आवश्यक है। इसका कार्यकाल 5 वर्ष का होता है। महासचिव के निम्न कार्य है :–

1. सामान्य प्रशासन :– महासचिव संयुक्त राष्ट्र संघ का सर्वोच्च अधिकारी होता है और इस कारण वह संस्था की सभी बैठकों में भाग लेता है। वह संस्था के कार्यों की वार्षिक रिपोर्ट महासभा को देता है।
2. तकनीकी कार्य :– वह ऐसे कार्य भी करता है जो महासभा सुरक्षा परिषद आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् तथा न्यास धारिता परिषद द्वारा सौंपे जाते है।
3. सचिवालय का प्रशासन :– सचिवालय का पूर्ण उत्तरदायित्व महासचिव का होता है। वह प्रशासन से संबंधित कार्य करता है जैसे कर्मचारियों की नियुक्ति करना।
4. वित्तीय कार्य :– संयुक्त राष्ट्र संघ का बजट तैयार करवाता है। सदस्य राष्ट्रों से अनुदान एकत्र करता है एवं व्यय पर नियंत्रण रखता है।
5. राजनैतिक कार्य :– महासचिव सुरक्षा परिषद का ध्यान किसी ऐसे विषय पर आकर्षित करवाता है

जिससे उस की राय में अन्तर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा को खतरा उत्पन्न हो सकता है।

6. प्रतिनिध्यात्मक कार्य :– वह संयुक्त राष्ट्र संघ का प्रतिनिधित्व करता है।

संयुक्त राष्ट्र संघ के अंग

संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर में अनु. 7 के अनुसार इसके प्रमुख अंग हैः–

1. महासभा 2. सुरक्षा परिषद् 3. न्यास परिषद्

4. सचिवालय 5. आर्थिक एवं सामाजिक परिषद्

6. अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय

महासभा :– यह संयुक्त राष्ट्र संघ की मुख्य व्यवस्थापिका है जिसमें सभी सदस्य राष्ट्रों के प्रतिनिधि सम्मिलित रहते हैं। प्रत्येक सदस्य राष्ट्र को अपने पाँच प्रतिनिधि भेजने का अधिकार है किन्तु उसका मत एक ही होता है। महासभा का अधिवेशन वर्ष में एक बार होता है।

सुरक्षा परिषद् के आह्वान पर इसकी आपात बैठक कभी भी 24 घंटे की सूचना पर बुलाई जा सकती है। बैठक सितम्बर माह के तीसरे मंगलवार से मध्य दिसम्बर तक चलती है। महासभा द्वारा सुरक्षा परिषद के 10 अस्थाई सदस्यों आर्थिक तथा सामाजिक परिषद् के सभी सदस्यों प्रन्यास परिषद् के कुछ सदस्यों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के न्यायाधीशों का चुनाव किया जाता है।

महासभा को अन्तर्राष्ट्रीय शांति व सुरक्षा के उपाय मानवाधिकार जैसे सामान्य प्रश्नों पर विचार करने का अधिकार है। महासभा अपने अधिवेशन के आरम्भ में ही एक अध्यक्ष एवं सात उपाध्यक्ष निर्वाचित करती है जो अधिवेशन की समाप्ति पर्यन्त रहते है।

कार्य एवं शक्तियाँ :– चार्टर की धारा 10 से 17 तक में उसके कार्यों का विवरण है। इसके कार्य निम्नलिखित है –

1. अन्तर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा के लिए सहयोग करना।
2. संयुक्त राष्ट्र संघ का बजट पारित करना।
3. महासभा संयुक्त राष्ट्र के अन्य अंगों से रिपोर्ट प्राप्त करती है। उन पर विचार करती है।
4. यह सुरक्षा परिषद् के 10 अस्थाई सदस्यों, अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के 15 न्यायाधीशों, आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् के 54 सदस्यों का निर्वाचन करती है। सुरक्षा परिषद् के अनुमोदन पर महासचिव की नियुक्ति करती है।
5. यह सदस्य राज्यों के प्रवेश, निष्कासन और निलम्बन पर विचार करती है।
6. मानव कल्याण के लिए सहयोग करना।

इस प्रकार महासभा विश्व शांति और सुरक्षा कार्य करती है।

सुरक्षा परिषद :– यह एक प्रकार से संयुक्त राष्ट्र संघ की कार्यपालिका है। इसमें 15 सदस्य है। 5 स्थायी और 10 अस्थायी। स्थायी सदस्य देश चीन, फ्रांस रूसी संघ, ब्रिटेन व अमेरिका। प्रत्येक सदस्य राष्ट्र का एक प्रतिनिधि और एक वोट होता है। अस्थायी सदस्यों को दो वर्ष के लिए दो–तिहाई बहुमत से महासभा चुनती है। अस्थायी सदस्यों का निर्वाचन क्षेत्रीय आधार पर होता है।

सुरक्षा परिषद् संयुक्त राष्ट्र संघ का निरंतर कार्य करने वाला अंग है। यह स्थायी रूप से सत्र में रहता है। इसकी बैठक 14 दिन में एक बार होती है और यदि आवश्यकता हो अर्थात् अन्तर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा को खतरा उत्पन्न हो जाए तो इसकी बैठक 24 घंटे की सूचना पर बुलाई जा सकती है।

स्थायी सदस्यता के लिए भारत ने भी 23 दिसम्बर 2004ई. को अपना दावा प्रस्तुत किया तथा भारत इसके लिए सशक्त दावेदार है।

सुरक्षा परिषद् के अधिकार एवं कार्य :– सुरक्षा परिषद के अधिकार व कार्य निम्नलिखित है–

1. यह महासभा के साथ अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के न्यायाधीशों को चुनती है।
2. नये सदस्यों के प्रवेश पुराने सदस्यों के निष्कासन और की महासभा में संस्तुति करना।
3. अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा को कायम रखने का

प्रयास।

4. ऐसे विवाद के कारणों का पता लगाना जिससे विश्व शांति को खतरा की संभावना हो।
5. शस्त्रास्त्रों के नियमन की योजना बनाना।
6. किसी भी राष्ट्र के अनुचित कार्य एवं आक्रमण को रोकने के लिए स्वीकृत धन का उपयोग करना तथा आक्रमण के विरूद्ध सैनिक कार्यवाही करना।

निषेधाधिकार :– वीटो शब्द की उत्पत्ति लैटिन भाषा से हुई है। वीटो का शब्दार्थ है – मैं मना करता हूँ। यदि कोई स्थायी सदस्य नकारात्मक मत देता है तो उसे निषेधाधिकार (वीटो) कहते हैं। इससे सुरक्षा परिषद उस प्रश्न पर निर्णय लेने में असमर्थ हो जाती है। वीटों के लिए आवश्यक है कि स्थायी सदस्य परिषद की बैठक में उपस्थित रहे उसकी अनुपस्थिति को वीटो नहीं माना जायेगा।

आर्थिक और सामाजिक परिषद :– इस परिषद् का कार्य संसार के गरीब, बीमार, निरक्षर तथा असहाय लोगों की सहायता करना, विश्व शांति स्थापित करना है। प्रारम्भ में इसके 18 सदस्य थे। 1966 में चार्टर में एक संशोधन द्वारा इसके सदस्यों की संख्या 27 कर दी गयी। तत्पश्चात् अनु. 61 का पुनः संशोधन हुआ जो 24 सितम्बर 1973ई. को लागू हुआ। इसके अनुसार अब संख्या 54 है। महासभा इसका चयन 3 वर्ष के लिए करती है। इसका अधिवेशन वर्ष में 2 बार होता है। परिषद् अपनी कार्य पद्धति के नियम स्वयं बनाती है एवं प्रतिवर्ष अपने अध्यक्ष का चुनाव करती है।

कार्य एवं शक्तियाँ :– जिस प्रकार सुरक्षा परिषद् विश्व को सुरक्षा प्रदान करती हैं वैसे ही आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् विश्व को अभाव से मुक्ति प्रदान करती है।

1. आर्थिक एवं सामाजिक विकास के लिए अनुकूल परिस्थितियों को उत्पन्न करना।
2. यह मानव अधिकारों तथा मौलिक स्वतंत्रताओं के आदर तथा लागू करने के लिए संस्तुति दे सकती है।
3. यह अपनी क्षमता में आने वाले विषयों से संबंधित अभिसमयों के अभिलेख महासभा को प्रेषित कर सकती है।
4. सुरक्षा परिषद् की प्रार्थना पर यह सुरक्षा परिषद को सूचनाएँ प्रेषित कर सकती है तथा सहायता कर सकती है।
5. महासभा द्वारा सौंपे गये कार्यों को सम्पादित करना।

प्रन्यास परिषद :– संयुक्त राष्ट्र संघ के घोषणा पत्र में प्रावधान है कि इन प्रदेशों में जहा अभी पूर्ण स्वायत्त शासन नहीं है वहाँ के निवासियों के हितों की रक्षा के लिए अन्तर्राष्ट्रीय न्यास व्यवस्था कायम की जाए और अलग–अलग समझौतों के अनुसार इनको संयुक्त राष्ट्र संघ शासन के अधीन रखा जाए। ऐसे प्रदेशों को न्यास संगत प्रदेश कहते हैं।

न्यास परिषद के प्रदेश :– निम्नांकित श्रेणी के प्रदेश प्रन्यास प्रणाली के अन्तर्गत रखे गये है –

1. वे प्रदेश जो राष्ट्रसंघ के शासनान्तर्गत थे।
2. द्वितीय विश्व युद्ध में पराजित देशों से छीने गए प्रदेश।
3. राज्य के द्वारा अपनी इच्छा से सौपें गए प्रदेश।

न्यास परिषद के कार्य :– न्यास परिषद के कार्य निम्नलिखित है–

1. न्यासीय प्रदेशों की जनता की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा शिक्षा सम्बन्धी प्रगति के बारे में सूची तैयार करना।
2. प्रशासनिक सत्ताओं से प्राप्त रिपोर्टों की जाँच और उन पर विचार करना।
3. निरीक्षण के लिए न्यासीय प्रदेशों का दौरा करना।

नवम्बर 1994ई. में प्रन्यास परिषद् की यह सबसे बड़ी उपलब्धि है कि अधिकांश न्यास प्रदेश 15–20 वर्षों की अल्पावधि में ही स्वतंत्र हो गए। अमेरिका द्वारा प्रशासित प्रशांत द्वीप पलाउ के स्वतंत्र होने के साथ ही न्यास परिषद् के कार्य लगभग समाप्त हो गये हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालयः– यह संयुक्त राष्ट्रसंघ की न्यायपालिका है। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का एक पृथक संविधान है जिसे अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की संविधि कहा गया

है। इस संविधि में पाँच अध्याय तथा 70 अनुच्छेद है। इसका मुख्यालय हेग (नीदरलैण्ड) में है। इसका गठन 15 न्यायाधीशों के द्वारा होता है जो 9 वर्षों के लिए महासभा एवं सुरक्षा परिषद के स्वतंत्र मतदान द्वारा निर्वाचन होता है, राष्ट्रीयता के आधार पर नहीं। पंद्रह में से पाँच न्यायाधीश प्रत्येक तीन वर्ष बाद सेवानिवृत्त होते हैं। सभी न्यायाधीश स्वयं अपना अध्यक्ष एवं उपाध्यक्ष तीन वर्ष के लिए चुनते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में निर्णय उपस्थित न्यायाधीशों के बहुमत के आधार पर होता है तथा 9 सदस्यों की उपस्थित से कोरम पूरा होता है। न्यायाधीशों को अनेक विशेषाधिकार सौंपे जाते है। उनको राजनमिक उन्मुक्तियाँ प्रदान की जाती है। न्यायालय के सम्मुख वादियों के प्रतिनिधियों, परामर्शदाता और वकीलों को भी स्वतंत्रतापूर्वक कार्य करने की छूट दी जाती है। इस न्यायालय में राज्य ही वाद प्रस्तुत कर सकता है। किसी व्यक्ति को दावा दायर करने का अधिकार नहीं है।

क्षेत्राधिकार :– इसको तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है।

1. ऐच्छिक क्षेत्राधिकार – ऐसे विवाद जिन्हें दोनों पक्ष सहमत होकर न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत करते हैं।

2. अनिवार्य क्षेत्राधिकार – राज्य स्वयं घोषणा करके इन क्षेत्रों में न्यायालय के आवश्यक क्षेत्राधिकार को स्वीकार कर लेता है। ये हैं – संधि की व्याख्या, अन्तर्राष्ट्रीय कानून के क्षेत्र से संबंधित सभी मामले, किसी अन्तर्राष्ट्रीय विधि के उल्लंघन पर क्षतिपूर्ति का रूप और परिणाम।

3. परामर्शात्मक क्षेत्राधिकार– महासभा अथवा सुरक्षा परिषद किसी भी कानूनी प्रश्न पर अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का परामर्श मांग सकती है। न्यायालय का परामर्श केवल परामर्श होता है जिसे मानने के लिए किसी भी राज्य को बाध्य नहीं किया जा सकता है।

अपनी परीसीमाओं के बावजूद अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने अपना काम कुशलता से किया है तथा अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विकास में योगदान दिया है।

सचिवालय :– सचिवालय संयुक्त राष्ट्र संघ के छः प्रमुख अंगों में से एक है। संयुक्त राष्ट्र संघ का महासचिव इसका मुख्य प्रशासनिक अधिकारी होता है। महासभा के बनाए नियमों के अनुसार महासचिव सचिवालय के कर्मचारियों की नियुक्ति करता है। नियुक्ति के पश्चात् अपने कार्यालय में सचिवालय के सभी कर्मचारी विश्व नागरिक हो जाते है। सचिवालय के विषय में मैकसवेल कोहल ने लिखा है ''संयुक्त राष्ट्र के अन्य अंगों की अपेक्षा कहीं अधिक महत्व वाला अंग सचिवालय ही है, जो महासभा एवं सुरक्षा परिषद् के अधिवेशनों को वास्तविक, स्थायी एवं शाश्वत स्वरूप प्रदान करता है।'' त्रिग्वेली संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रथम महासचिव बने। वे नार्वे के रहने वाले थे। 1946 ई. से 1952 ई. तक महासचिव रहे। वर्तमान संयुक्त राष्ट्र संघ महासिचव पद पर बान की मून (द. कोरिया) है जो जनवरी 2007 से कार्यरत है।

संयुक्त राष्ट्र संघ के विशिष्ट निकाय

संयुक्त राष्ट्र संघ के कई विशिष्ट निकाय हैं जो सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक एवं मानवीय कल्याण के क्षेत्र में कार्यरत है। इनकी अपनी कार्यप्रणाली एवं अपने कार्यालय है। ये मुख्य रूप से निम्नलिखत हैं –

1. संयुक्त राष्ट्र शैक्षिक, वैज्ञानिक तथा सांस्कृतिक संगठन :– (यूनेस्को) इसकी स्थापना 4 नवम्बर, 1946 ई. को हुई थी। यूनेस्को का मुख्य उद्देश्य है शिक्षा, विज्ञान तथा संस्कृति के माध्यम से न्याय, विधि के शासन की स्थापना एवं मानवीय अधिकार और मौलिक स्वतंत्रताओं के प्रति सम्मान उत्पन्न करना एवं शांति और सुरक्षा, के क्षेत्र में योगदान देना। इसने विश्व में आधारभूत शिक्षा के विकास पर अधिक जोर दिया है। विश्व में विज्ञान के क्षेत्र में नये प्रयोग, ज्ञान को सर्वत्र उपयोगी और उपलब्ध कराना इसका कार्य है। सामाजिक क्षेत्र में शोध कार्य को प्रोत्साहन देना तथा राष्ट्रों में असत्य धारणाओं को दूर करना तथा सांस्कृतिक क्षेत्र में विभिन्न कलाओं का विकास और संरक्षण देना भी इसके मुख्य कार्य है। इसका मुख्यालय पेरिस (फ्रांस) में है।

2. अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठनः–. इसकी स्थापना प्रथम विश्व युद्ध के बाद 11 अप्रेल 1919 ई. को वर्साय संधि के आधार पर

हुई थी जिसका मुख्यालय जेनेवा में है। यह राष्ट्र संघ की एक शाखा के रूप में काम करता था। 14 दिसम्बर, 1946 ई. में यह संयुक्त राष्ट्र संघ का विशिष्ट निकाय बना। इसका मुख्य उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय कार्य द्वारा मजदूरों के स्तर में सुधार करना तथा आर्थिक एवं सामाजिक सुदृढ़ता को प्रोत्साहन देना है। यह विश्व के मजदूरों से सम्बन्धित सूचनाओं का संग्रह करता है और रिपोर्ट प्रकाशित करता है। 1969 में शान्ति का नोबेल पुरस्कार इसी संगठन को मिला था।

3. खाद्य एवं कृषि संगठन :– इसकी स्थापना 16 अक्टूबर 1945ई. में खाद्य एवं कृषि सम्बन्धी संयुक्त राष्ट्र संघ सम्मेलन क्युबेक सिटी (कनाडा) के फलस्वरूप हुई। इसको 14 दिसम्बर 1946ई. को संयुक्त राष्ट्र संघ का विशिष्ट अभिकरण बनाया। इसका कार्य खाद्य पदार्थों के उत्पादन तथा वितरण की क्षमता में वृद्धि करना एवं ग्रामीण जनसंख्या के रहन–सहन के स्तर को सुधारना है। यह निकाय सदस्य देशों को अनेक प्रकार की फसलों के बीज भी देता है। इसका मुख्यालय रोम में है।

4. विश्व स्वास्थ्य संगठन :– इसकी स्थापना 7 अप्रैल 1948ई. को हुई। इसका उद्देश्य विश्व के देशों की आम जनता को स्वास्थ्य की उच्चतम दशा को प्राप्त करवाना था। यह सदस्य देशों को स्वास्थ्य के स्तर को सुधारने के लिए सहायता देता है। यह अनेक रोगों के उपचार के लिए गतिविधियों का संचालन करता है। इसने चेचक, हैजा, तपेदिक, आदि के उन्मूलन के लिए भरसक प्रयास किए। इसका मुख्यालय जेनेवा में है।

5. अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष :– इस संगठन की स्थापना दिसम्बर 1945 में की गई। इसका मुख्यालय वाशिगटन में है। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का उद्देश्य एक ऐसी प्रणाली का विकास करना है जिससे सदस्य देशों को विदेशी विनिमय की सुविधा मिले। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को प्रोत्साहन मिले। सदस्य देशों की आर्थिक उन्नति करना, इसका प्रमुख कार्य है।

इसके चार प्रमुख अंग है :–

1. संचालक मण्डल, 2. कार्यवाहक निदेशक, 3. प्रबन्धकारी निदेशक 4. कार्यालय

6. अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण एवं विकास बैंक :– इसे विश्व बैंक भी कहा जाता हैं। विश्व बैंक का कार्य जून 1946 से प्रारम्भ हुआ। वही देश विश्व बैंक का सदस्य हो सकता जो अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का सदस्य होता है। इसका मुख्यालय वाशिगटन डी.सी. में है। यह उत्पाद कार्यों के लिए पूंजी की व्यवस्था करती है। निजी विदेशी पूंजी नियोजन को प्रोत्साहन देता है। यह सदस्य राज्यों की आर्थिक सुविधाओं के विकास के लिए धन उधार देता है। विश्व बैंक ने युद्ध में क्षतिग्रस्त तथा विकासशील राष्ट्रों के लिए सराहनीय कार्य किए।

7. संयुक्त राष्ट्र बाल संकट कोषः– द्वितीय विश्व युद्ध के बाद शिशुओं को राहत पहुचाने के उद्देश्य से इसकी स्थापना 1946 में की गई। यह अपने संक्षिप्त नाम यूनीसेफ के नाम से लोक प्रिय है। इसका मुख्यालय न्यूयार्क में है। इसका उद्देश्य स्वास्थ्य और पोषण आदि कार्यक्रमों के माध्यम से बाल कल्याण कार्यों को प्रोत्साहन देना है। यह व्यक्तियों तथा सरकारों से धन दान में लेकर एक कोष का निर्माण करता है। जिससे विश्व के बालकों की सहायता की जा सकती है। इसने अनेक देशों में बीमारियों से बालकों की रक्षा करने की योजनाओं में सहायता की है। इसके अलावा यह भूकम्प, बाढ़ आदि परिस्थितियों में बालक और उनकी माताओं के लिए अपेक्षित सहायता करता है। 1965ई. में इसे शान्ति का नोबेल पुरस्कार प्रदान किया।

8. विश्व व्यापार संगठनः– इसकी स्थापना 1 जनवरी 1995 ई. को की गई, जिसका मुख्यालय जेनेवा में है। यह विश्व व्यापार पर नजर रखती है। इसका मुख्य उद्देश्य विश्व व्यापार को लचीला बनाना है।

यह व्यापार एवं प्रशुल्क से सम्बन्धित किसी भी भावी मसले पर विचार विमर्श हेतु एक मंच के रूप में कार्य करता है। विश्व में संसाधनों का अनुकूलतम प्रयोग करता है।

9. मानव अधिकार घोषणा पत्र :– 10 दिसम्बर, 1948 को महासभा ने मानव अधिकारों का विश्व घोषणा पत्र स्वीकार किया। यह घोषणा एक विस्तृत और विषम दस्तावेज है। अपने 30 अनुच्छेदों में यह घोषणा मूल मानवाधिकारों तथा स्वतन्त्रताओं का विस्तृत विवरण है। इसमें मूलवंश वर्ण, लिंग, भाषा, धर्म, राजनीतिक विचार, राष्ट्रीय उद्भव, सम्पत्ति जन्म या

अन्य परिस्थितियों के आधार पर कोई विभेद नहीं किया गया है। मानवाधिकार मानव को भयमुक्त और भूखमुक्त जीवन सुनिश्चित करने में सहायता देता है।

संयुक्त राष्ट्र संघ की उपब्धियाँ

संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना का मुख्य उद्देश्य :– 'अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा' बनाये रखना है। संयुक्त राष्ट्र संघ को राजनीतिक विवादों को हल करने में उतनी सफलता नही मिली जितनी आर्थिक और सामाजिक कार्य क्षेत्र में। विश्व भर के बच्चों, विकलांगों और नेत्रहीनों के लिए जो कुछ किया वह सर्वविदित है। संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना से मानवता को तृतीय महायुद्ध का भीषण रूप देखने को नही मिला। इसने कई बार उत्पन्न होने वाले संकटों को युद्ध में परिणत होने से बचाया है।

संयुक्त राष्ट्र संघ की निम्न उपलब्धियां है–

1. इजरायल – फिलिस्तीन विवादों में संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा मध्यस्थता कर इजरायल राज्य का निर्माण करवाया गया।
2. कश्मीर के प्रश्न को लेकर भारत–पाक के बीच अनेक बार युद्ध की स्थिति बनने पर रोकना।
3. इण्डोनेशिया के विवाद में मध्यस्थता के परिणाम स्वरूप वहाँ से नीदरलैण्ड की सेनाओं की वापसी सम्भव हुई और इण्डोनेशिया एक स्वतंत्र गणराज्य बन सका।
4. सैनिक कार्यवाही द्वारा उत्तरी कोरिया के आक्रमण से दक्षिण कोरिया की रक्षा की गई।
5. मानवीय अधिकारों का सार्वभौमिक घोषणा पत्र का प्रस्ताव 10 दिसम्बर, 1948 को पारित कर विश्व के नागरिकों को बिना किसी भेदभाव के राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक अधिकारों को देने के लिए सदस्य राज्यों को निर्देश देना।
6. फ्रांस, ब्रिटेन और इजराइल ने जब 1956 में मिस्त्र पर आक्रमण किया तब यह मिस्त्र में युद्ध बन्द कराने तथा विदेशी सेनाएं हटाने में पूरी तरह सफल रहा।
7. संयुक्त राष्ट्र संघ के निरन्तर प्रयत्नों से एशिया और अफ्रीका से उपनिवेशवाद का अन्त हुआ।
8. 1962 में क्यूबा संकट को हल किया।
9. 1964 को साइप्रस में कानून और व्यवस्था स्थापित करने में संघ की शान्ति सेना को सफलता मिली।
10. निःशस्त्रीकरण द्वारा विश्व में हथियारों की दौड़ को रोकने का प्रयास किया।
11. बहुराष्ट्रीय सेना द्वारा बल प्रयोग कर 1991 इराक के अनाधिकृत कब्जे से कुवैत की मुक्ति करना।
12. यह विस्थापितों और शरणार्थियों के लिए वरदान रहा।
13. रासायनिक हथियारों पर प्रतिबन्ध के सिलसिले में अहम भूमिका निभाई।
14. पूर्वी तिमोर की स्वतंत्रता में अहम भूमिका निभाई।

नेल्सन मंडेला:–

नेल्सन मंडेला जैसे दृढ़ता और संकल्प के धनी व्यक्तित्व का जन्म नस्ल भेद से पीड़ित दक्षिणी अफ्रीका के अश्वेत लोगों के लिए एक मसीहा के रूप में प्रकट हुआ। उसका

नेल्सन मंडेला (1918ई.–2013ई.)

जन्म 18, जुलाई, 1918 में दक्षिण अफ्रीका के नेल्सन, नामक स्थान पर हुआ। स्वयं अश्वेत परिवार से था। अतः बाल्यकाल से रंगभेद की नीति का विभत्स रूप देखा। अपने समाज पर गोरे लोगो के अत्याचारों की निकटता से अनुभव किया और बचपन

से ही इस भेदभाव को समाप्त करने को कृत संकल्प हुए आया। दक्षिणी अफ्रीका में नस्लवाद पूरे रंग पर था। शिक्षण संस्थायें हो अथवा मनोरंजन स्थान रेल, पार्क आदि स्थलों पर सर्वत्र भेदभाव था। उनकी शिक्षा का कोई प्रबन्ध नहीं था। मण्डेला भाग्यशाली था, क्योंकि वह अपने परिवार का प्रथम व्यक्ति था जिसने स्कूल देखा। किन्तु नो वर्ष की आयु में उसने अपने पिता को खो दिया। अब पढ़ाई में बाधा आने की पूरी सम्भावना थी, किन्तु मण्डेला की तीव्र इच्छा शक्ति से इस बाधा को पार कर लिया। पढ़ने के साथ खेलकूद में भी वह रूचि लेने लगा। बॉक्सिंग उसका प्रिय खेल था। स्कूल शिक्षा पूर्ण करने पर 1939 में उसे कॉलेज में प्रवेश मिल गया। द्वितीय वर्ष में वह विद्यार्थी प्रतिनिधि परिषद का सदस्य बन गया। किन्तु जातिगत भेदभाव का विरोध करने पर उसे संस्था से निष्कासित कर दिया। मण्डेला को इस घटना ने हीनता के स्थान पर दृढ़ता प्रदान की।

आन्दोलन रत मण्डेलाः– अपने विचारों को गति देने के लिए किसी भी संस्था का सदस्य होना आवश्यक लगा। अतः अफ्रीका राष्ट्रीय कांग्रेस की सदस्यता ग्रहण कर ली। इसको जन आन्दोलन का मंच बनाने में प्रयासरत हो गया। इसके लिए नवयुवक संगठन होना जरूरी माना गया। अतः यूथलीग संस्था का निर्माण किया गया। इसके माध्यम से असहयोग, बहिष्कार जैसे कदम उठाने का निश्चय किया। मण्डेला की गतिविधियाँ प्रशासन से छिपी न रह सकी। सरकार ने मंडेला व उसके 150 साथियों को बन्दी बना लिया। जेल में रहते हुए हर क्षण रंगभेद की नीति को समाप्त करने के तरीकों पर चिंतन करने लगे। उसको यह विश्वास हो गया कि शांतिपूर्ण ढ़ंग से व्यवस्था में परिवर्तन नहीं हो सकता। अब उसका झुकाव सैनिक संघर्ष की तरफ होने लगा। 1961 में मंडेला को पांच वर्ष की सजा दी गई। सजा के दो वर्ष पश्चात ही मंडेला पर पुनः मुकदमा चलाया गया और इस बार उसको आजन्म कैद की सजा सुना दी गई।

नीति परिवर्तन को सरकार बाध्यः– मंडेला का विरोध रंग लाया। दक्षिणी अफ्रीका की रंगभेद की नीति का चारो ओर से आलोचना होने लगी। राष्ट्रमण्डल की सदस्यता छोड़ने की घोषणा से दक्षिण अफ्रीका निष्कासन से बच सका। संयुक्त राष्ट्र संघ ने भी आर्थिक बहिष्कार का प्रस्ताव पारित किया। अन्तर्राष्ट्रीय विरोध और दक्षिणी अफ्रीका के राष्ट्रपति डि क्लार्क की समझौतावादी नीति ने नये वातावरण का मार्ग प्रशस्त किया। 27 वर्ष जेल में बंदी जीवन व्यतीत करने वाले मंडेला को हटा दिया। इन कारणों से सरकार एवं अश्वेत प्रतिनिधियों के मध्य वार्ता का वातावरण बना। राष्ट्रपति डी क्लार्क तथा मंडेला की बातचीत का सकारात्मक परिणम निकला। लोकतांत्रिक संविधान का निर्माण हुआ जिसके अन्तर्गत दक्षिणी अफ्रीका में निर्वाचन हुआ। इसमें दक्षिण अफ्रीका कांग्रेस की विजय हुई। मंडेला को राष्ट्रपति चुना गया। इस प्रकार 1994 से वे दक्षिण अफ्रीका के प्रथम अश्वेत राष्ट्रपति बने। राष्ट्रपति का कार्य चुनौति भरा था जिसका सामना साहस से किया। पूर्व मतभेद विस्मरण कर सभी को साथ लेने की नीति का पालन किया परिणामस्वरूप 5 वर्ष के पश्चात् होने वाले चुनाव में मंडेला का दक्षिण अफ्रीका कांग्रेस को बहुमत मिला। किन्तु दुबारा राष्ट्रपति बनने के आग्रह को अस्वीकार कर राजनीति से सन्यास ले लिया। उसकी महान उपलब्धियों के कारण विश्वभर में उसे अनेक पुरस्कारों व सम्मानों से नवाजा गया। जिसमें नोबल शांति पुरस्कार मुख्य है। भारत ने पहले 'नेहरू शांति पुरस्कार और तत्पश्चात् अपना सर्वोच्च सम्मान भारत रत्न देकर सम्मानित किया। संयुक्तराष्ट्र संघ ने 18 जुलाई 2009 को मंडेला दिवस घोषित करने का प्रस्ताव पारित किया। मंडेला अच्छे लेखक भी थे। उनकी महत्वपूर्ण पुस्तक उनकी आत्मकथा है। ये बहुमुखी प्रतिभा के घनी मंडेला की जीवन लीला 2013 में समाप्त हो गई, किन्तु अन्याय तथा अत्याचारों के विरूद्ध संघर्षरत जनता के आज भी प्रेरणादायक है।

संयुक्त राष्ट्र की असफलताएँ

संयुक्त राष्ट्र संघ से जो हमें उम्मीद थी, वह सफलता नही मिली। यह विभिन्न देशों में विध्वसंक हथियारों के निर्माण को नही रोक पाया। स्वतन्त्रता और भ्रातृभाव की भावना सभी जगह नही हुई। आज भी कही जातीय भेदभाव तथा उपनिवेश के अवशेष बचे हुए हैं जो अन्तर्राष्ट्रीय कानून बनाये गए उनका उल्लघंन व अवहेलना को रोक नही सका। वस्तुतः इसकी असफलता का मूल कारण विश्व का राजनैतिक वातावरण है। बोस्निया, सोमालिया और रवांडा में शान्ति अभियानों में विशेष सफलता नही मिली। रवांडा में खून–खराबे के दौरान ही अपने शांति सैनिक वापिस बुला लिए। विश्व की महाशक्तियों ने अनेक अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को सुलझाने के लिए सीधे द्विपक्षीय परामर्श का सहारा लिया। इसकी निम्नलिखित असफलताऐं

है:–

1. निःशस्त्रीकरण, आणविक शक्ति तथा हथियारों एवं परम्परागत सेनाओं में कमी करने पर कोई समझौता नही हो पाया।
2. कश्मीर विवाद अभी तक बना हुआ है।
3. कोरिया अभी तक विभक्त है दोनों के बीच तनाव बना हुआ है।
4. युद्धों को रोकने में विफल बना हुआ है।
5. सी.टी.बी.टी. को अभी तक प्रभावी नहीं बनाया जा सका।
6. आतंकवाद को रोकने में सफल नही रहा।

संयुक्त राष्ट्र संघ तथा विश्व शान्ति में भारत का योगदान :– प्राचीन सभ्यता तथा संस्कृति वाले देश भारत की अत्यन्त गौरवशाली सांस्कृतिक और ऐतिहासिक परम्परा रही है। प्राचीन काल से ही अन्य देशों के साथ सम्बन्ध शान्ति और मैत्री के सिद्धान्तों पर आधारित है। हमोर प्राचीन ग्रंथों, वेदों और उपनिषदों में भी विश्व कल्याण व शान्ति की कामना की गई , जिसकी सुन्दर अभिव्यक्ति अथर्ववेद के इस श्लोक में होती है।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः
सर्वे भद्राणी पश्यन्तुः मा काश्चिद् दुःख भाग भवेत।

भारत ने प्रारम्भ से ही इस विश्व संस्था को अपना पूर्ण समर्थन प्रदान किया तथा संयुक्त राष्ट्र की घोषणा पर हस्ताक्षर कर इसका संस्थापक सदस्य बना। आजादी के पश्चात् भारत सात बार संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद का अस्थायी सदस्य निर्वाचित हुआ है तथा इसकी स्थायी सदस्यता का सशक्त दावा कर रहा है। भारत ने श्रम संगठन खाद्य व कृषि संगठन, विश्व स्वास्थ्य संगठन एवं यूनेस्को में सक्रिय भूमिका निभाई है। अनेक भारतीय संयुक्त राष्ट्र संघ के महत्वपूर्ण पदों पर कार्य कर चुके हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ के महासभा के आठवें अधिवेशन की अध्यक्ष श्रीमती विजय लक्ष्मी पंडित को चुना तथा डा. राधाकृष्णन और मौलाना अब्दुल कलाम आजाद ने यूनेस्को के प्रधान के पद को शोभित किया। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश के पद पर डा. नगेन्द्र सिंह एवं अणुशक्ति के शान्ति पूर्ण उपयोग हेतु गठित कमीशन के पद पर डॉ. एच.जे. भाभा नियुक्ति हुए।

राजकुमारी अमृत कौर विश्व स्वास्थ्य संगठन की अध्यक्षा रही। श्री गौतम काजी पहले भारतीय है जिन्हें विश्व बैंक का प्रबन्ध निदेशक नियुक्त किया गया है। एम.एस. सुबुलक्ष्मी जिन्होंने संयुक्त राष्ट्र दिवस पर 1966 में महासभा में अपना शास्त्रीय संगीत कार्यक्रम प्रस्तुत किया।

अभ्यासार्थ प्रश्न

अतिलघुत्तरात्मक प्रश्न

प्र.1 राष्ट्र संघ की स्थापना में किस अमेरिकी राष्ट्रपति का सर्वाधिक योगदान रहा?

प्र.2 आर्थिक मंदी से उबरने के लिए न्यू डील की नीति किसने अपनाई?

प्र.3 इटली में फॉसीवाद का नेता कौन था?

प्र.4 लोसाने की संधि कब एवं किन देशों के मध्य हुई थी?

प्र.5 स्वास्तिक किस दल का प्रतीक चिन्ह था?

प्र.6 हिटलर द्वारा लिखी पुस्तक का नाम क्या है?

प्र.7 द्वितीय विश्व युद्ध कब आरम्भ हुआ था?

प्र.8 परमाणु बम का प्रयोग सर्वप्रथम किस राष्ट्र द्वारा किया गया?

प्र.9 सुरक्षा परिषद् में कुल कितने सदस्य होते हैं?

प्र.10 ''निषेधाधिकार'' से क्या तात्पर्य है?

लघुत्तरात्मक प्रश्न

प्र.1 ''मेण्डेट व्यवस्था'' क्या थी?

प्र.2 आर्थिक मंदी के प्रभाव लिखिए।

प्र.3 इटली में फासीवाद के उदय के प्रमुख कारण क्या थे?

प्र.4 रोम–बर्लिन–टोक्यो धुरी से आप क्या समझते हैं?

प्र.5 नाजीवाद के प्रमुख विचार लिखिए।

प्र.6 तुष्टीकरण की नीति से आप क्या समझते हैं?

प्र.7 गुट निरपेक्षता पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये।

प्र.8 संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता ग्रहण करने के लिए आवश्यक शर्ते लिखिये।

प्र.9 संयुक्त राष्ट्र संघ के महासचिव के कार्य लिखिए।

प्र.10 मानव अधिकार घोषणा पत्र क्या है?

निबन्धात्मक प्रश्न

प्र.1 राष्ट्रसंघ के प्रमुख उद्देश्य, अंगों का वर्णन करते हुए उसकी असफलता के कारण लिखिये।

प्र.2 आर्थिक मंदी के प्रमुख कारण एवं परिणाम लिखिये।

प्र.3 नाजीवाद के उदय के कारण एवं उसके परिणाम लिखिये।

प्र.4 द्वितीय विश्व युद्ध के कारण एवं परिणाम लिखिये।

प्र.5 संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रमुख अंगों एवं उसके विशिष्ट निकायों के कार्यों का वर्णन कीजिए।

इकाई 7

द्वितीय विश्व–युद्ध के बाद का विश्व

1. शीत–युद्ध एवं सोवियत संघ का विखण्डन
2. गुट–निरपेक्ष आन्दोलन : भारत का योगदान और इसकी विफलता के कारण
3. आधुनिक विश्व व इसके समक्ष चुनौतियाँ : पर्यावरण एवं आतंकवाद
4. वर्तमान भारत की वैश्विक दृष्टि : लुक ईस्ट, ब्रिक्स और दक्षेस

प्रथम विश्व–युद्ध (1914–1919 ई.) के पश्चात् राष्ट्रसंघ की स्थापना के प्रकाश में यह आशा की गई थी कि इतिहास के माथे पर लगे इस कलंक से सभ्य मानव यह सबक लेगा कि अब इस तरह का विनाश फिर कभी नहीं होगा। खेद का विषय है कि स्वयं को सभ्य कहने वाले मानव ने इस विनाश से कोई सबक नहीं लिया और कुछ वर्षों के बाद ही विनाश की एक और लीला द्वितीय विश्व–युद्ध (1939–1945 ई.) के रूप में रची गई।

द्वितीय विश्व–युद्ध के पश्चात् संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना करके आधुनिक युग के सभ्य मानव द्वारा पुनः यह संकल्प लिया गया कि तृतीय विश्व–युद्ध के रूप में इस तरह की विनाश–लीला भविष्य में कभी नहीं रची जाएगी। अपने संकल्प पर वह इतना ही ख़रा उतरा है कि उसने अब तक घोषित रूप में तृतीय विश्व–युद्ध नहीं होने दिया, अन्यथा द्वितीय विश्व–युद्ध की समाप्ति से लेकर आज तक विश्व में युद्ध की इतनी घटनाएँ घट चुकी हैं कि इस बात का कोई अर्थ नहीं रह गया है कि अब तक तृतीय विश्व–युद्ध हुआ है अथवा नहीं हुआ है।

निश्चय ही द्वितीय विश्व–युद्ध के पश्चात् विश्व में विश्व–युद्ध की जैसी कोई घटना नहीं घटी है, जिसमें उल्लेखनीय रूप से अनेक देश एक साथ सम्मिलित हुए हों – लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि इस समय विश्व में शांति बनी रही है। वस्तुतः प्रत्यक्ष युद्ध का न होना शांति का होना नहीं है। प्रत्यक्ष युद्ध के न होने की स्थिति में यदि देशों के मध्य सद्भावना, सहयोग व सौहार्द का अभाव है और वे अपने आगारों में शस्त्रास्त्र एकत्र करने, अपने पक्ष में गुटबंदी करने व प्रतिस्पर्द्धी के विषय में दुष्प्रचार करने जैसे कुकृत्यों में निमग्न रहते हैं, तो बिलकुल नहीं कहा जा सकता कि उनके बीच शांति बनी हुई है।

दो या दो से अधिक देशों के मध्य युद्ध न होते हुए भी शांति का न होना हर समय युद्ध होने की आशंका बने रहना किसी भी सूरत में मानवता के हित में नहीं हो सकता। द्वितीय विश्व–युद्ध के पश्चात् पूँजीवादी देश संयुक्त राज्य अमेरिका व साम्यवादी देश सोवियत संघ के मध्य गम्भीर प्रतिस्पर्द्धा का दौर चला। इन देशों के मध्य प्रत्यक्ष रूप से कोई सैन्य युद्ध तो नहीं हुआ, परंतु परोक्ष रूप से वे उन सभी गतिविधियों में संलग्न रहे, जिनमें सामान्यतया युद्धरत राष्ट्र रहते हैं। सोवियत संघ के विखण्डन (1989 ई.) तक 'सशस्त्र शांति' अथवा 'शीत–युद्ध' की यह स्थिति बनी रही। सोवियत संघ के विखण्डन के साथ ही संयुक्त राज्य अमेरिका के सामने अंतर्राष्ट्रीय जगत में कोई बड़ी चुनौती नहीं रही।

1.शीत–युद्ध एवं सोवियत संघ का विखण्डन

द्वितीय विश्व–युद्ध के बाद की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति पर विचार करें, तो स्पष्ट रूप से दिखाई देता है कि अमेरिका व सोवियत संघ, इन दो देशों, ने दुनिया को एक अखाड़े में तबदील करने में कोई कमी नहीं छोड़ी। यद्यपि द्वितीय विश्व–युद्ध के पूर्व भी इन देशों के बीच सहयोग व सौहार्द की कोई विशेष भावना विद्यमान नहीं थी, लेकिन युद्ध के दौरान अपने हितों की पूर्ति के लिए एक–दूसरे की मित्रता स्वीकार करना उनकी विवशता थी। जैसे ही युद्ध समाप्त हुआ, दोनों देशों ने मित्रता का लबादा उतार फेंका और वे एक–दूसरे को नीचा दिखाने में जुट गए। इस अशांति का परिणाम कालांतर में दुनिया के समक्ष सोवियत संघ के विखण्डन के रूप में सामने आया।

अ. शीत–युद्ध

आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में देशों के मध्य कटुतापूर्ण सम्बंधों के परिप्रेक्ष्य में 'शीत–युद्ध' जैसी संज्ञा का प्रयोग सबसे पहले ब्रिटिश लेखक जार्ज ऑरेवैल ने किया। द्वितीय विश्व–युद्ध के दौरान 1945 ई. में जापान के दो नगरों – हिरोशिमा और नागासाकी – पर जब अमेरिका ने अणुबम गिराए, तब ऑरेवैल ने अपने एक निबंध में 'कोल्ड वार' अर्थात् 'शीत–युद्ध' की संकल्पना प्रकट की।

जहाँ तक द्वितीय विश्व–युद्ध के पश्चात् अमेरिका व रूस के मध्य चली प्रतिस्पर्द्धा के सम्बन्ध में 'शीत–युद्ध' संज्ञा के प्रयोग का विषय है, सबसे पहले अमेरिका के पूँजीपति–राजनीतिज्ञ बर्नार्ड मैंस बरुछ ने 1947 ई. में अपने एक भाषण में इसे काम लिया, लेकिन अकादमिक जगत में विधिवत रूप से इस संज्ञा का प्रयोग अमेरिका के ही लेखक–पत्रकार वाल्टर लिपमैन ने अपनी पुस्तक 'कोल्ड वार' में किया।

इतिहासवेत्ताओं द्वारा इस संघर्ष का एक और पक्ष सामने रखा गया, जिसके अनुसार शीत–युद्ध की स्थिति उस समय विश्व–मंच पर उभर रही दो प्रतिरोधी विचारधाराओं के टकराव के कारण उत्पन्न हुई थी। एक विचारधारा पूँजीवादी विचारधारा थी, जिसका नेतृत्व अमेरिका कर रहा था और दूसरी विचारधारा साम्यवादी विचारधारा थी, जिसका नेतृत्व रूस कर रहा था। पूँजीवादी विचारधारा कथित रूप से उदारधर्मा लोकतंत्र की प्रतीक बनी हुई थी, वहीं साम्यवादी विचारधारा अपने घोषित रूप में सर्वाधिकारवादी जनतंत्र की समर्थक थी। शीत–युद्ध की प्रकृति को स्पष्ट करते हुए एम. एस. राजन कहते हैं कि शीत–युद्ध देशों के मध्य शक्ति के संघर्ष, विचारों की भिन्नता, जीवन–पद्धति में भेद और राष्ट्रीय हितों के टकराव का मिला–जुला परिणाम था – जिसकी तीव्रता देश, काल व परिस्थिति के अनुसार न्यूनाधिक होती रही।

अमेरिका व रूस के मध्य सशस्त्र शांति की यह जो स्थिति उत्पन्न हुई थी, वास्तविक रूप में तो यह दोनों ही देशों द्वारा दुनिया की एक मात्र महाशक्ति बनने की लालसा के कारण उत्पन्न हुई थी।

i-शीत–युद्ध से तात्पर्य

जब दो देश परस्पर अविश्वास, संदेह, दुष्प्रचार व षड्यंत्र की राजनीति के शिकार होकर क्षेत्रीय–अन्तरराष्ट्रीय मंचों पर बार–बार यह चेतावनी देते हों कि यदि उनके हितों की रक्षा नहीं हुई, तो युद्ध हो जाएगा। तब यह समझ लेना चाहिए कि वे 'शीत–युद्ध' की स्थिति में हैं।

अमेरिका व सोवियत रूस के मध्य चले शीत–युद्ध की पृष्ठभूमि को समझाने के लिए भले ही राजनीति के अध्येताओं द्वारा उनके बीच चले वैचारिक टकराव का अवलम्बन लिया गया हो – संघर्ष का वास्तविक कारण तो दुनिया की महाशक्ति बनने की उनकी तीव्र उत्कण्ठा ही था। यदि शीत–युद्ध में विचार–व्यवहार का संघर्ष बहुत अधिक अर्थ रखता, तो अमेरिका व रूस विश्व–युद्ध के दौरान कभी एक ही नाव पर सवार नहीं हुए होते। दुनिया की महाशक्ति बन जाने की तीव्र लालसा ने ही अमेरिका व रूस को दो अलग–अलग विचारधाराओं का नेतृत्व करने का अवसर दिया, जिनका इस्तेमाल वे अपने–अपने गुट को मज़बूत करने में करते थे।

शीत–युद्ध को परिभाषित करते हुए लुई हाले ने लिखा है, "शीत–युद्ध परमाणु–युग में इस प्रकार की तनावयुक्त स्थिति है, जो शस्त्रास्त्र–युद्ध से पूर्णतया भिन्न – लेकिन उससे अधिक भयानक है।" हाले का मत है कि शीत–युद्ध ने दुनिया की समस्याओं को इस तरह से उलझा दिया कि अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर विभिन्न देश अमेरिका व सोवियत संघ द्वारा मोहरों की तरह इस्तेमाल किए जाने लगे थे।

ii-शीत–युद्ध के विभिन्न चरण : प्रमुख घटनाएँ

द्वितीय विश्व–युद्ध के दौरान अमेरिका व रूस मिलकर तो काम कर रहे थे, किंतु दोनों देशों में आपसी विश्वास का पूरी तरह अभाव था। युद्ध में जब जर्मनी ने रूस को अत्यधिक क्षति पहुँचाई, तो रूस के नेता स्टालिन ने अमेरिका के नेता रुजवेल्ट व ब्रिटेन के नेता चर्चिल से आग्रह किया कि वे जर्मनी के विरुद्ध एक नया मोर्चा खोल दें, ताकि रूस को कुछ राहत मिले। जब रुजवेल्ट व चर्चिल कई माह तक इस आग्रह को टालते रहे, तब स्टालिन समझ गया कि ये लोग 1917 ई. की बोल्शेविक क्रांति के पश्चात् उभरे शक्तिशाली रूस को नष्ट होते देखना चाहते हैं।

जैसे ही युद्ध अपने अंत की ओर बढ़ने लगा, रूस ने युद्ध के दौरान हुए विभिन्न समझौतों का उल्लंघन प्रारम्भ कर दिया। उसने पोलैण्ड, हंगरी, बल्गारिया, रोमानिया, चेकोस्लोवाकिया आदि क्षेत्रों में किसी भी क़ीमत पर अपना साम्यवादी ध्वज फहराने का जैसे हठ ही पकड़ लिया था। रूस ने ईरान से अपनी सेना नहीं हटाई और तुर्की पर भी दबाव बना लिया।

उधर अमेरिका और ब्रिटेन ने 1945 ई. में एक विज्ञप्ति प्रसारित की कि दुनिया में तानाशाही के एक स्वरूप के अंत के पश्चात् उसके दूसरे स्वरूप के संस्थापन को गम्भीरता से रोका जाना चाहिए। 1946 ई. में अमेरिका के फुल्टन में दिए एक भाषण में तो ब्रिटिश प्रधानमंत्री विंस्टन चर्चिल ने यहाँ तक कह दिया कि दुनिया में स्वतंत्रता की लौ जलाए रखने और ईसाई सभ्यता की रक्षा करने के लिए ब्रिटिश–अमेरिकी सहयोग की तीव्र आवश्यकता है।

कुछ माह पश्चात् रूस ने 1948 ई. के लंदन प्रोटोकाल का उल्लंघन करते हुए बर्लिन की नाकाबंदी कर दी। अपने निषेधाधिकार (वीटो) का प्रयोग करते हुए उसने संयुक्त राष्ट्र संघ (यूएनओ) को भी अपने स्वार्थ की पूर्ति का साधन बनाया।

बदले में अमेरिका ने सोवियत संघ को दी जाने वाली आर्थिक सहायता रोक दी। इसके अतिरिक्त दोनों देशों ने एक–दूसरे के विरुद्ध दुष्प्रचार का जो अभियान चलाया, वह भी शीत–युद्ध को भड़काने का एक बड़ा कारण बना। शीत–युद्ध की प्रमुख घटनाओं को विभिन्न चरणों में विभाजित करके सरलता से समझा जा सकता है।

प्रथम चरण : 1917–1945 ई.

परोक्ष रूप से तो शीत–युद्ध का प्रारम्भ 1917 ई. में ही तब हो गया था, जब रूस में बोल्शेविक क्रांति हुई। यद्यपि इस समय तक शीत–युद्ध जैसी कोई संकल्पना विश्व के समक्ष नहीं आई थी, परन्तु ब्रिटेन व अमेरिका जैसे देश यह अच्छी तरह जान गए थे कि अब रूस अन्तर्राष्ट्रीय पटल पर एक ऐसे नेता के रूप में उभर चुका है, जो पूँजीवादी शासन के विरुद्ध संघर्ष कर रही शक्तियों को प्रश्रय देगा और विभिन्न देशों में अपनी समर्थक सरकारों की स्थापना करेगा। साथ ही जब अमेरिका के साथ रूस ने 1920 ई. में व्यापारिक समझौते करने चाहे, तो अमेरिकी शासन ने उस पर कठोर शर्तें आरोपित की।

ब्रिटेन में लेबर पार्टी की सरकार होने के कारण उसने तो 1924 ई. में सोवियत संघ को मान्यता दे दी थी, लेकिन अमेरिका ने यह कार्य अनेक वर्षों के पश्चात् 1933 ई. में किया। सोवियत सेनाओं द्वारा पूर्वी यूरोपीय देशों पर अपना नियंत्रण स्थापित करने, जर्मनी द्वारा इटली में आत्म–समर्पण के समझौते की शर्तों पर रूस द्वारा अलग राय रखने, जापान पर बम गिराने के अमेरिकी कृत्य का रूस द्वारा विरोध करने जैसे अनेक विषय थे – जिनके प्रकाश में शीत–युद्ध की भूमिका रची गई।

द्वितीय चरण : 1946–1953 ई.

चर्चिल के फुल्टन–भाषण ने समस्त यूरोप में सोवियत संघ के विरुद्ध गम्भीर प्रतिक्रिया का वातावरण निर्मित कर दिया। इस भाषण के ठीक एक वर्ष पश्चात् अमेरिकी राष्ट्रपति हैनरी ट्रूमैन ने सोवियत संघ की ओर संकेत करते हुए स्पष्ट घोषणा की कि प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष रूप से विश्व में किसी के द्वारा और कहीं भी शांति भंग करने का कोई भी कृत्य हुआ, तो उससे अमेरिका की सुरक्षा ख़तरे में मानी जाएगी। ट्रूमैन ने सिद्धांत दिया कि दुनिया के विभिन्न देशों को साम्यवादी शिविर में जाने से रोकने के लिए उन्हें आर्थिक सहायता दी जानी चाहिए। अमेरिका के विदेश सचिव मार्शल ने भी इस सिद्धान्त का पूरा समर्थन किया। उल्लेखनीय है कि 1948 से 1952 ई. में मध्य अमेरिका ने पश्चिमी यूरोप के विभिन्न देशों के लिए 12 अरब डालर की आर्थिक सहायता स्वीकृत की। इस समय अमेरिका की सबसे बड़ी शक्ति यही थी कि वह सैनिक के साथ–साथ आर्थिक दृष्टि से भी एक सुसम्पन्न राष्ट्र था। जिन देशों को वह सहायता प्रदान करता, उनके प्रति उसकी प्रथम व्यवस्था यही होती थी कि साम्यवाद को उस देश में अवरोधित किया जाएगा।

उधर सोवियत संघ भी शांत नही बैठा था। 1948 ई. में उसने बर्लिन की नाकाबन्दी कर दी और जर्मनी के पश्चिमी भाग का समस्त जल–थल यातायात अवरुद्ध कर दिया। यद्यपि बाद में उसे यह नाकाबन्दी हटानी पड़ी, लेकिन इससे ब्रिटेन, फ्रांस व अमेरिका को अपने अधीनस्थ जर्मन–क्षेत्रों को मिलाकर पश्चिमी जर्मनी नामक नया राष्ट्र उदित करना पड़ा। प्रत्युत्तर में रूस ने भी अपने प्रभाव के जर्मन–क्षेत्र को पूर्वी जर्मनी नाम दे दिया। यह शीत–युद्ध के भड़कने का दौर था।

1949 ई. में अमेरिका के नेतृत्व में उत्तरी अटलांटिक संधि संगठन 'नाटो' के रूप में एक सैन्य बल बनाया गया। 'नाटो' के माध्यम से सोवियत संघ को सावधान किया गया कि अगर वह इस संगठन के किसी एक सदस्य पर भी आक्रमण करेगा, तो अपने लिए संकट को ही आमन्त्रित करेगा।

1949 ई. में ही चीन में भी साम्यवादी शासन स्थापित हुआ, जिसकी संयुक्त राष्ट्र संघ में स्थायी सदस्यता के प्रश्न को लेकर अमेरिका व रूस में कटुता और अधिक बढ़ गई। यह कटुता तब पूर्णतया वैमनस्य में परिवर्तित हो गई, जब 1950 ई. में साम्यवादी शिविर के देश उत्तरी कोरिया ने पूँजीवादी शिविर के देश दक्षिणी कोरिया पर आक्रमण कर दिया। संयुक्त राष्ट्र संघ में रूस की अनुपस्थिति का लाभ उठाते हुए अमेरिका ने उत्तरी कोरिया को आक्रान्ता देश घोषित करवा दिया और संयुक्त राष्ट्र संघ के ध्वज तले ही अपनी सेना के नेतृत्व में, चीन और सोवियत संघ की सहायता से लड़ रहे उत्तरी कोरिया के विरुद्ध, दक्षिणी कोरिया का साथ दिया। यह युद्ध शीत–युद्ध की पराकाष्ठा था, जिसमें अमेरिका व सोवियत संघ अप्रत्यक्ष रूप से युद्ध के मैदान में सक्रिय हुए। इसी कड़ी में अमेरिका ने जापान के साथ एक शांति–संधि पर हस्ताक्षर किए, जो सोवियत संघ के लिए अत्यधिक कष्टप्रद थी।

तृतीय चरण : 1953–1958 ई.

1953 ई. में रूसी नेता स्टालिन की मृत्यु हो गई। उसके स्थान पर ख्रुश्चेव के हाथ में नेतृत्व आया, जो अपेक्षाकृत समझौतावादी स्वभाव का व्यक्ति था। दूसरी ओर अमेरिका में भी ट्रूमैन का स्थान आइजनहावर ने ले लिया, जिससे विश्व के शांति–प्रेमियों को मध्यममार्गीय दृष्टिकोण अपनाने की आशा थी। इसी बीच 1953 ई. में ही सोवियत संघ ने आणविक परीक्षण किया, जो अमेरिका को और अधिक शंकित करने के लिए पर्याप्त था। चर्चिल के सुझाव पर आइजनहावर ने 1954 ई. में दक्षिणी–पूर्वी एशिया में रूसी प्रसार रोकने के लिए नाटो की तरह ही 'सीटो' – दक्षिणी–पूर्वी एशिया संधि संगठन – नामक संस्था गठित करवाई। प्रत्युत्तर में सोवियत संघ तथा उसके मध्य व पूर्वी यूरोप के आठ साथी राष्ट्रों ने मिलकर 1955 ई. में 'वारसा पैक्ट' घोषित किया। पोलैण्ड के वारसा नामक स्थान पर किया गया यह समझौता औपचारिक रूप से 'मित्रता, सहयोग और पारस्परिक सहायता हेतु संधि' कहलाता है। वारसा पैक्ट स्पष्टतः 'नाटो' का प्रत्युत्तर था। कशमकश के इसी दौर में 1956

ई. में सोवियत संघ ने हंगरी में हस्तक्षेप किया, जिससे अन्तर्राष्ट्रीय तनाव में अभिवृद्धि हुई। इस तनाव की परिणति आइजनहावर–सिद्धान्त के रूप में सामने आई। 1957 ई. में आइजनहावर ने अमेरिकी सीनेट में यह प्रस्ताव पारित करवा लिया कि मध्य–पूर्व में यदि कहीं भी साम्यवादी आक्रमण होता है, तो राष्ट्रपति को यह विवेकाधिकार है कि वह वहाँ सेना भेज सकता है। इससे शीत–युद्ध इतना उग्र हो गया कि विश्व के शांतिप्रिय लोग इस आशंका से घिर गए कि अब विनाश के तीसरे प्रयोग अर्थात् एक और विश्व–युद्ध की घड़ी निकट आ गई है।

1955 ई. से 1958 ई. तक शीत–युद्ध पश्चिमी एशिया में अपने प्रचण्ड रूप में सामने आ चुका था। जब स्वेज़ नदी का राष्ट्रीयकरण हुआ और मिस्र पर 1956 ई. में ब्रिटिश–फ्राँसीसी और इजराइली आक्रमण हुआ, तो सोवियत संघ ने इसकी तीव्र आलोचना की। पश्चिमी एशिया के सामरिक महत्त्व और वहाँ की अपार तैल–सम्पदा को देखते हुए दोनों ही खेमे गुटबंदी में सक्रिय हो गए।

चतुर्थ चरण : 1959–1962 ई.

1959 ई. में जब सोवियत नेता ख्रुश्चेव ने अमेरिका की यात्रा की और अपने समकक्ष आइजनहावर को अपने देश आने का निमंत्रण दिया, तो विश्व में शांति की आशा का संचार हुआ – लेकिन सौहार्द की यह भावना, जिसे 'कैम्प डेविड भावना' कहा गया, अधिक दिनों तक बनी नहीं रही। मई, 1960 में चार अग्रणी राष्ट्रों के शासनाध्यक्ष पेरिस में मिलते, उससे पूर्व ही अमेरिका का एक गुप्तचर विमान यू–टू सोवियत संघ की सीमा में जासूसी करते हुए पकड़ा गया। राष्ट्रपति आइजनहावर ने चोरी और ऊपर से सीनाज़ोरी करते हुए न केवल इस गुप्तचरी को सही बताया, अपितु यह भी कहा कि अमेरिका भविष्य में भी ऐसा करता रहेगा। इस घटना से मई, 1960 ई. के शिखर–सम्मेलन की विफलता निश्चित हो गई। यहाँ तक कि ख्रुश्चेव ने आइजनहावर से हाथ मिलाने से भी इंकार कर दिया।

1966 ई. में ही जॉन एफ़. कैनेडी को अमेरिका का राष्ट्रपतित्व प्राप्त हुआ। कैनेडी ने साम्यवाद के प्रति सहयोग की भावना प्रकट की, परन्तु कुछ ही दिनों में उसे ख्रुश्चेव को इस हेतु चेतावनी देनी पड़ी कि सोवियत रूस पूर्वी जर्मनी के साथ किसी प्रकार की एकमार्गी संधि करने की भूल न करे। ख्रुश्चेव ने पूर्वी जर्मनी के साथ तो पृथक संधि नहीं की, लेकिन क्यूबा के साम्यवादी नेता फ्रीडेल कास्त्रो को भरपूर सहायता देनी प्रारंभ कर दी। अमेरिका अपनी सीमा पर स्थित किसी देश में स्थापित हुए सोवियत संघ के सैन्य ठिकानों को सहन नहीं कर सकता था। कैनेडी ने स्पष्ट घोषणा की कि क्यूबा के विषय में युद्ध ही एक श्रेष्ठ विकल्प है, तो ख्रुश्चेव ने समझदारी प्रकट करते हुए क्यूबा से अपने सैनिक ठिकाने हटा लिए।

पंचम चरण : 1963–1979 ई.

क्यूबा से जब ख्रुश्चेव ने अपने सैन्य शिविर हटा लिए, तब कैनेडी ने इस निर्णय को 'एक महान राजनीतिज्ञ का निर्णय' बताया। उस समय एक बार पुनः यह आशा जगी थी कि युद्ध की आशंकाओं के उमड़ते–घुमड़ते बादल अब हमेशा के लिए छँट जाएँगे, क्योंकि ख्रुश्चेव व कैनेडी दोनों ही नेता अन्तर्राष्ट्रीय तनाव को कम करने की दिशा में कार्य करते हुए दिखाई दे रहे थे। 1963 ई. में ही दोनों देशों ने हॉटलाइन समझौता किया, जिसके तहत किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय संकट के समय दोनों देश रेडियो व दूरभाष के माध्यम से सीधे सम्पर्क में रहेंगे। 1968 ई. में सोवियत संघ व अमेरिका 'परमाणु अप्रसार संधि' पर हस्ताक्षर करने वाले देशों में अग्रणी थे। इसी क्रम में सोवियत संघ का 1970 ई. में पश्चिमी जर्मनी के साथ एक समझौता हुआ, जिसके अन्तर्गत वर्तमान स्थिति को स्वीकार करते हुए भविष्य में किसी प्रकार के शक्ति–प्रयोग को नकारा गया। जर्मनी के विषय में ही 1971 ई. में अमेरिका, सोवियत संघ, ब्रिटेन व फ्रांस के मध्य एक समझौता हुआ – जिसके अनुसार पश्चिमी व पूर्वी बर्लिन के लोग एक दूसरे के सीमा–क्षेत्र में प्रवेश कर सकेंगे। 1972 ई. में पश्चिमी व पूर्वी जर्मनी ने कूटनैतिक कड़वाहट को कम करते हुए घोषणा कर दी कि भविष्य में कोई संघर्ष नहीं होगा और दोनों देश एक–दूसरे को मान्यता देंगे। इससे शीत–युद्ध कमज़ोर हो गया। इसी कड़ी में 1973, 1974 व 1977 ई. में तीन यूरोपीय सुरक्षा सम्मेलन हुए, जिनमें पारस्परिक सहयोग व शांति का मार्ग तलाश करने की दिशा में महत्त्वपूर्ण प्रगति हुई।

षष्ठम् व अंतिम चरण : 1980–1990 ई.

अब तक यह तो स्पष्ट हो चुका था कि महाशक्तियों में प्रत्यक्ष यौद्धिक संघर्ष की आशंका नहीं के बराबर रह गई है। फिर भी यह करने का उचित समय अभी नहीं आया था कि शीत–युद्ध समाप्त हो गया है। हाँ, इतना अवश्य है कि तूफान का दौर गुज़र चुका था और शीत–युद्ध युद्ध के अतिरिक्त अन्य माध्यमों द्वारा संघर्ष की नीति के रूप में जीवित भर था। वस्तुतः अब 'तनाव–शैशिल्य' या 'दितान्त' का दौर आ गया था। 'दितान्त' फ्राँसीसी भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ 'तनाव का ढ़ीला पड़ना' होता है। यदि दो राज्यों के तनावपूर्ण संबंधों में कमी आ जाए और वे शांतिपूर्ण सह–अस्तित्व की भावना से कार्य करने के लिए तैयार हो जाएँ, तो यह दितान्त की आदर्श स्थिति होती है। 'दितान्त' का यह अर्थ कदापि नहीं निकाला जाना चाहिए कि दो देशों के मध्य तनाव पूर्णतया समाप्त हो गया है। असल में यह अन्तर्राष्ट्रीय वास्तविकताओं के परिप्रेक्ष्य में शांति–स्थापना के लिए दो राज्यों द्वारा किया गया पारस्परिक संकल्प है, जो कभी भी टूट सकता है।

इस समय अमेरिका व सोवियत संघ दोनों ही राष्ट्रों को यह अनुमान हो गया था कि यदि शीत–युद्ध वास्तविक युद्ध में परिवर्तित हो गया – तो यह विश्व पूरी तरह नष्ट हो

जाएगा, क्योंकि परमाणु आयुधों के प्रयोग की सीमा–निर्धारित नहीं की जा सकती। इसके अतिरिक्त दोनों ही देश आर्थिक रूप से इस स्थिति में नहीं थे कि आपस में संघर्ष भी करते रहें और साथ में जन–कल्याण भी करते रहें। इसके अतिरिक्त दोनों ही महाशक्तियों को गुट–निरपेक्ष आंदोलन में भी संभावनाएँ दिखाई दे रही थीं। उनके अपने गुट–सापेक्ष मित्र भी उनका सहयोग करने के लिए पूर्व की तरह तैयार दिखाई नहीं दे रहे थे। फिर भी दोनों महाशक्तियों ने अनेक अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में अपना अलग–अलग पक्ष बनाए रखा। शीत–युद्ध के इस काल को 'द्वितीय शीत–युद्ध' अथवा 'नवीन शीत–युद्ध' कहा जाता है।

1971 ई. के भारत–पाकिस्तान संघर्ष में अमेरिका ने पाकिस्तान का व सोवियत संघ ने भारत का साथ दिया। 1975 ई. में अंगोला में दोनों पक्ष विरोधी ताक़तों की ओर से सक्रिय रहे। 1977 ई. में इथियोपिया–सोमालिया टकराव के दौरान भी यही हुआ। रूस ने इथियोपिया को हथियार उपलब्ध करवाए, तो अमेरिका ने सोमालिया की सहायता की। 1979 ई. में अफ़ग़ानिस्तान में सोवियत संघ के हस्तक्षेप को लेकर अमेरिका के राष्ट्रपति जिमी कार्टर ने उसे विश्व–शांति के लिए संकट बताया। 1983 ई. में सोवियत संघ ने दक्षिणी कोरिया का विमान मार गिराया, तो अमेरिका ने तीव्र प्रतिक्रिया की। 1983 ई. में ही संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा के अधिवेशन में भाग लेने हेतु सोवियत संघ के विदेश मंत्री आंद्रेई ग्रोमिको को अमेरिका ने आवश्यक सुरक्षा देने से मना कर दिया, तो सोवियत संघ ने संयुक्त राष्ट्र संघ के मुख्यालय को अमेरिका से हटाए जाने का मुद्दा ही उठा दिया।

इस प्रकार 'दितान्त' के चलते भी पूर्ण शांति की स्थिति नहीं आई थी। 1986 ई. में अमेरिका के स्टार–वार कार्यक्रम के प्रत्युत्तर में सोवियत संघ ने भी सक्रियता प्रदर्शित की। 1987 ई. में सोवियत संघ ने अपने ऊपर लगाए गए प्रतिबन्ध को तोड़ते हुए न केवल परमाणु–परीक्षण किया, अपितु अमेरिका को धमकी भी दी कि यदि वह हमारे परीक्षण के विरुद्ध परीक्षण करेगा, तो सोवियत संघ पुनः परीक्षण करेगा।

द्वितीय विश्व–युद्ध की समाप्ति से लेकर सोवियत संघ के अवखण्डन तक संयुक्त राज्य अमेरिका व सोवियत संघ दोनों राज्य अपने–अपने पक्ष में गुट बनाकर एक–दूसरे के लिए खाई खोदते रहे, लेकिन एक बात उन्हें ठीक तरह से समझ में आ गई थी कि दुनिया के अधिकतर देश शांति ही चाहते हैं और यदि वे दोनों में से किसी एक गुट में सम्मिलित हैं, तो अपनी किसी न किसी विवशता के कारण ही हैं। जर्मनी के नागरिकों ने 1989 ई. में विभाजन को अप्रासंगिक घोषित कर दिया और बर्लिन की दीवार को ढहाकर दोनों जर्मनियों को एक कर दिया। उधर वारसा पैक्ट भी समाप्त कर दिया गया।

एक ओर पूर्वी यूरोप में साम्यवाद के किले खण्डित होते जा रहे थे, तो दूसरी ओर सोवियत संघ में आर्थिक संकट इतना अधिक गहरा गया था कि वह अमेरिका से संघर्ष करने की क्षमता ही खो बैठा। सोवियत संघ के राष्ट्रपति मिखाइल गोर्बाच्योव के काल में शीत–युद्ध समाप्त हो गया।

बर्लिन की दीवार – पहले।

बर्लिन की दीवार – बाद में।

I-शीत–युद्ध के परिणाम

शीत–युद्ध का बीजारोपण तो 1917 ई. हुई रूसी क्रांति के साथ ही हो गया था, लेकिन यह अपने पूरे प्रभाव में बीसवीं शताब्दी के चौथे दशक में ही आया, जब द्वितीय विश्व–युद्ध समाप्त हो चुका था और दुनिया को अपने साम्राज्यवादी प्रभाव में लेने हेतु अमेरिका व रूस परस्पर अविश्वास, संदेह, दुष्प्रचार और षड्यंत्रों की घटिया राजनीति करने में उलझे हुए थे। द्वितीय विश्व–युद्ध के बाद की आधी शताब्दी का विश्व–इतिहास हमें शीत–युद्ध की धुरी पर ही घूमता हुआ दिखाई देता है।

शीत–युद्ध से पूर्व शक्ति–सन्तुलन की धारणा प्रत्यक्ष रूप से सैन्य–बल पर आधारित थी, परन्तु शीत–युद्ध के फलस्वरूप वास्तविक शक्ति–सन्तुलन आतंक के सन्तुलन का

रूप ले चुका था। दोनों में से कौनसी महाशक्ति अपने उग्र क्रिया–कलापों द्वारा विश्व के देशों को कितना अधिक आतंकित रखती है, यह एक चिन्ता का विषय हो गया था। शीत–युद्ध कब तप्त–युद्ध का रूप धारण कर लेगा, कोई नहीं जानता था। गंभीरता से विचार किया जाए, तो शीत–युद्ध का सबसे बेहतर परिणाम यही है कि यह शीत–युद्ध के रूप में ही समाप्त हो गया। यद्यपि इसके दौरान हुए प्रत्यक्ष युद्धों में विश्व में जो जान–माल की क्षति हुई, अगर उसका आकलन किया जाए – तो समझ में आता है कि शीत–युद्ध ने किसी भी विश्व–युद्ध के मुक़ाबले कम विनाश नहीं किया है। जहाँ तक विश्व–राजनीति का प्रश्न है, उस पर शीत–युद्ध का जो सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ा, वह था सोवियत रूस का विखण्डन। इस विखण्डन के पश्चात् विश्व एकध्रुवीय हो गया।

साथ ही शीत–युद्ध ने संयुक्त राष्ट्र संघ जैसी संभावनाशील अन्तर्राष्ट्रीय संस्था को जो आघात पहुँचाया, उसका मूल्यांकन करना बहुत कठिन है। जिस संस्था को विश्व–कल्याण के रचनात्मक मार्ग की ओर अग्रसर होना था, वह संस्था दो महाशक्तियों की अपूरित महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति का अड्डा बन गई। समस्त संसार ने देखा कि सुरक्षा–परिषद् में निषेधाधिकार (वीटो) के प्रयोग को किस तरह एक प्रहसन का रूप दे दिया गया। शीत–युद्ध के दौर में मुख्यतः यूरोप और अमेरिका में जन्मी पीढ़ियों का विकास जिस भय, सन्देह और अनिश्चितता के वातावरण में हुआ – उससे मानवता सकारात्मक व रचनात्मक दिशा में आगे बढ़ने से वंचित हो गई। आशा की जानी चाहिए कि मानव–जाति का भविष्य न केवल तप्त अथवा शीत–युद्ध, बल्कि किसी भी प्रकार के युद्ध से रहित होगा।

ii-भारत की स्थिति

शीत–युद्ध के दौर में ही भारत ने अपनी स्वतन्त्रता अर्जित की। 1947 ई. में ही भारत के नेतृत्व के समक्ष यह दुविधा उत्पन्न हो गई थी कि उसे किस गुट में सम्मिलित होना चाहिए।

तत्कालीन भारतीय राजनैतिक नेतृत्त्व यह अच्छी तरह जानता था कि हाल ही में स्वतंत्र हुए भारत के लोग पूँजीवाद व साम्यवाद – इन दोनों ही अतिवादी विचारधाराओं में से किसी भी विचारधारा को पसंद नहीं करेंगे। अतः भारत ने इन दोनों विचारधाराओं के समानांतर चल रही एक तीसरी विचारधारा 'गुट–निरपेक्षता' को चुना, जिसे मिस्र व यूगोस्लाविया जैसे अन्य देश भी पसंद करते थे।

यह तीसरी विचारधारा 'गुट–निरपेक्षता' अपने आप में एक बड़ा आंदोलन बनकर उभरी, लेकिन अनेक अन्तर्राष्ट्रीय विवशताओं के चलते इस आंदोलन को चलाने वाले देशों के लिए बहुत कठिन था कि वे पूरी तरह गुटों से निरपेक्ष रहकर काम कर सकें। अतः उनके लिए देश, काल व परिस्थिति के अनुसार न्यूनाधिक रूप में किसी न किसी गुट की ओर झुकना अनिवार्य हो गया था। इसी परिप्रेक्ष्य में शीत–युद्ध के दौरान भारत का कुछ झुकाव साम्यवादी रूस की ओर रहा।

सोवियत संघ का विखण्डन

आधुनिक विश्व के इतिहास में सोवियत संघ का नाम एक महाशक्ति के रूप में लिया जाता है। 1917 ई. की बोल्शेविक क्रांति से पूर्व रूस में 'ज़ार' का निरंकुश शासन था और व्यवस्था में वे समस्त दोष विद्यमान थे, जो एक राजतन्त्र में होते हैं। 1917 ई. की बोल्शेविक क्रांति की ज्वाला में ज़ार का सिंहासन भस्मीभूत हो गया। अनेक उतार–चढ़ावों के पश्चात् रूस की सत्ता बोल्शेविक दल के नेता ब्लादीमीर इलिच यूलियनाव 'लेनिन' (1870–1924 ई.) के नियन्त्रण में आ गई।

विश्व–रंगमंच पर यह प्रथम महायुद्ध का दौर था, जिसमें रूस भी सम्मिलित था। लेनिन ने मित्र–राष्ट्रों से युद्ध रोक देने का आग्रह किया, जिस पर उन्होंने कोई ध्यान नहीं दिया। अतः लेनिन ने निर्णय लिया कि सोवियत संघ विभिन्न केन्द्रीय शक्तियों के साथ पृथक रूप से संधियाँ करेगा। उसका विचार था कि सोवियत संघ में गृह–शान्ति की स्थापना और उसके विकास की दिशा में अग्रसर होने का एक ही मार्ग था और वह था हर हाल में विश्व–युद्ध से अलग हो जाने का मार्ग। सारी दुनिया में साम्यवाद का ध्वज फहराने का संकल्प पूरा करने व देश की विकास–योजनाओं को गति देने के लिए पहली शर्त यही थी कि राज्य में शांति स्थापित हो। इस दिशा में उसका प्रथम प्रयास 1918 ई. की ब्रेस्ट लिटोवस्क की संधि के रूप में सामने आया – जो जर्मनी, ऑस्ट्रिया, हंगरी, बल्गारिया और तुर्की के साथ सम्पन्न हुई थी।

इस संधि में हुए लेन–देन के फलस्वरूप सोवियत संघ को जन–धन की बड़ी हानि का सामना करना पड़ा, लेकिन उसकी पहली प्राथमिकता अपने राज्य में शांति व स्थिरता कायम करना थी। वह जानता था कि विदेशी मामलों का निस्तारण किए बिना घरेलू मामले नहीं निपट सकते।

I- पृष्ठभूमि

सोवियत संघ में घरेलू मामलों को निपटाना इतना आसान नहीं था, जितना लेनिन ने समझ रखा था। बोल्शेविकों के उग्र प्रतिक्रियावाद के कारण सोवियत संघ में गृह–युद्ध होना स्वाभाविक था। इसका लाभ उठाकर मित्र–राष्ट्रों ने, जो सोवियत संघ को ठीक तरह से स्थापित होना नहीं देखना चाहते थे, सोवियत सरकार के विरोधियों को प्रश्रय दिया। अंततः इस चुनौतीपूर्ण वातावरण में निरंकुश राजतन्त्र के स्थान पर सोवियत संघ में साम्यवादी जनतंत्र की स्थापना हो गई। अब उसका एक महाशक्ति के रूप में उभरना ही शेष था, जिसके लिए उसका पूँजीवादी राष्ट्रों से संघर्ष होना निश्चित था।

अगले सात दशक तक सोवियत संघ अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की दो प्रमुख शक्तियों में से एक बना रहा। इस दौरान उसने अमेरिका के साथ शीत–युद्ध का खेल जमकर खेला। अमेरिका की तरह ही सोवियत संघ ने भी अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच पर जितनी मनमानी की जा सकती थी, उतनी की। यह तो ठीक हुआ कि शीत–युद्ध वास्तविक युद्ध में तबदील नहीं हुआ, अन्यथा विश्व को एक और महायुद्ध भोगना पड़ता। महायुद्ध तो नहीं हुआ, लेकिन सोवियत संघ का पतन अवश्य हो गया। जितनी आशा से रूसियों ने सोवियत संघ का गठन होते देखा था, उतनी ही निराशा से उन्होंने उसका विघटन होते भी देखा।

सोवियत साम्यवाद की विफलता के परिप्रेक्ष्य में कहीं यह निष्कर्ष न निकल लिया जाए कि उसे विफल करने वाला पूँजीवाद पूर्णतया सफल होगा। जिस तरह इतिहास ने सोवियत संघ में साम्यवाद को पतित होते देखा है, उसी प्रकार एकध्रुवीय विश्व का गान सुनकर प्रसन्न होने वाले संयुक्त राज्य अमेरिका को भी यह अवश्य समझ लेना चाहिए कि वह दिन भी आएगा, जब दूसरों को भूखा रखकर खुद का पेट भरने की सीख देने वाले पूँजीवाद की धज्जियाँ उड़ेंगी। असमानता, अन्याय और शोषण पर टिकी कोई भी व्यवस्था – चाहे वह साम्यवाद हो, समाजवाद हो अथवा पूँजीवाद हो, अनिश्चित काल तक नहीं चल सकती।

1989 ई. का वर्ष सोवियत संघ के इतिहास का न भुलाए जाने वाला वर्ष माना जाता है, जब 'कांग्रेस ऑफ पीपुल्स डेपुटीज' की बैठक हमेशा की तरह बन्द नहीं, अपितु खुले वातावरण में हो रही थी। सारा संसार आश्चर्यचकित था कि लोहे के आवरण में छुपा सोवियत संघ का शासन–तन्त्र इस तरह बेनकाब कैसे हो गया? यूरोप के इतिहास को पलटकर देखा जाए, तो ठीक दो शताब्दी पूर्व 1789 ई. में फ्रांस मे 'एस्टेट्स जनरल' का खुला अधिवेशन हुआ था, जो वहाँ झकझोरने वाला ऐतिहासिक परिवर्तन लेकर आया। सोवियत संघ के 'कांग्रेस ऑफ़ डेपुटीज' की बैठक भी दुनिया को झकझोरने वाला ऐतिहासिक परिवर्तन लेकर आई, जिसके फलस्वरूप वहाँ साम्यवादी शासन–तंत्र की दशकों से खड़ी भव्य इमारत ढह गई।

ii- विखण्डन

सोवियत संघ की दशकों से खड़ी भव्य इमारत क्यों ढह गई, इसके पीछे अनेक कारण विद्यमान थे। आर्थिक दृष्टि से सोवियत संघ ने जो मॉडल अपनाया था, वह अनेक अर्थों में पूँजीवाद से अलग था, किन्तु था वह भी धन के निवेश पर आधारित मॉडल ही। साठ के दशक तक तो इस मॉडल ने ठीक तरह से काम किया, परन्तु बाद में इसके अन्तर्विरोध प्रत्यक्ष होने लगे। आर्थिक विकास के किसी मॉडल में केवल भारी उद्योगों की स्थापना पर बल दिया जाएगा, तो निश्चय ही कुछ वर्षों बाद उपभोक्ता–सामग्री की न्यूनता उत्पन्न हो जाएगी। सोवियत संघ में भी यही हुआ। उपभोक्ता सामग्री की कमी पड़ जाने से हर सोवियत नागरिक को आवश्यकता की वस्तुएँ उचित मूल्य पर मिलनी बन्द हो गईं और समाज में बाज़ारवाद के दोष छाने लगे।

सत्तर के दशक में अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर तेल की माँग अत्यधिक बढ़ गई थी। सोवियत संघ के पास पेट्रोलियम पदार्थो का बहुत बड़ा भण्डारण था, अतः उसने पेट्रोलियम पदार्थो का निर्यात करना प्रारंभ कर दिया। विदेशी मुद्रा अर्जित करने पर अधिक ध्यान देने के कारण तक़नीकी विकास जैसे महत्त्वपूर्ण विषयों से उसका ध्यान हट गया। जहाँ सोवियत संघ को तक़नीकी के क्षेत्र में और आगे बढ़ना चाहिए था, वहाँ वह पूँजीवादी देशों को ऊर्जा का निर्यात करने वाला देश बनकर रह गया।

दूसरी ओर अमेरिका व अन्य पूँजीपति देश तक़नीकी के क्षेत्र में बहुत आगे निकल गए। साथ ही शीत–युद्ध के चलते अमेरिका व सोवियत संघ दोनों को ही अपने समर्थक देशों के पक्ष में अनुदान व निवेश हेतु अत्यधिक राशि जारी करनी पड़ती थी। अमेरिका तो इस दबाव को झेल गया, लेकिन सोवियत संघ का आर्थिक सन्तुलन गड़बड़ा गया और भीतर ही भीतर वह एक दुर्बल राष्ट्र बनता चला गया।

एक ओर तो आर्थिक मोर्चे पर संघर्ष की स्थिति उत्पन्न होना और दूसरी ओर लेनिन के नेतृत्व में स्थापित 'एक दल की तानाशाही' का स्टालिन के नेतृत्व में 'एक व्यक्ति की तानाशाही' में बदल जाना' सोवियत संघ के लिए और भी घातक सिद्ध हुआ। लेनिन के नेतृत्व में 'एक दल की तानाशाही' के अन्तर्गत जहाँ विरोधी दलों का सफ़ाया किया गया, वहीं स्टालिन के नेतृत्व में 'एक व्यक्ति की तानाशाही' के अन्तर्गत विरोधी व्यक्तियों का सफ़ाया किया गया। पहले लेनिन और उसके बाद स्टालिन की नीतियों से सोवियत संघ की जनता में अत्यधिक आक्रोश उत्पन्न हो गया। इन तानाशाहों के दबाव में सोवियत जनता खुलकर बोल भी नहीं सकती थी। इसके कारण संघ के लिए सर्वस्व न्योछावर करने का उदात्त भाव उसके हृदय में कभी उत्पन्न ही नहीं हुआ। इस दबाव का सर्वाधिक प्रभाव रूसी समाज के बहुनस्लीय चरित्र पर पड़ा। संघ के वे नागरिक – जो

स्लाव नहीं थे, अत्यधिक क्षुब्ध थे। बाद में जब सोवियत संघ की बन्द राजनैतिक व्यवस्था के ताले टूटने का अवसर आया, तो अपनी माँगों को लेकर सबसे पहले मरने–मारने पर जो लोग उतारू हुए – उनमें से अधिकतर वे थे, जो स्लाव नहीं थे।

अनेक घटनाओं के पश्चात् 1988 ई. में सोवियत संघ का नेतृत्व मिखाइल गोर्वाच्योब के हाथों में आया। उसी के काल में कम्युनिस्ट पार्टी को अपने सम्मेलन में सोवियत संघ में निजी क्षेत्र के लिए दरवाज़े खोल देने पर सहमत होना पड़ा। निश्चय ही यह घटना सोवियत संघ के इतिहास में बार–बार लिखी जाती रहेगी, क्योंकि यह सोवियत संघ और सोवियत विचार के ताबूत में ठोकी गई आख़िरी कील सिद्ध हुई। इसके बाद तो केवल शव–यात्रा निकलनी ही शेष थी।

मिखाइल गोर्वाच्योव की नीतियाँ, जिनसे सोवियत संघ का इतिहास बदल गया, पेरेस्त्रोइका (पुनर्रचना) व ग्लासनोस्त (खुलापन) कहलाती हैं। घरेलू व बाहरी विवशताओं के कारण गोर्वाच्योव को आर्थिक पुनर्रचना और वैचारिक खुलेपन की आड़ में पूँजीवाद के आगे घुटने टेकने पड़े। गोर्वाच्योव ने जो किया, उसे रोका जाना कठिन ही नहीं, असंभव था। सोवियत संघ में यह काम गोर्वाच्योव के हाथों नहीं, तो किसी और के हाथों होता।

गोर्वाच्योव ने गलती यह की कि उसने राजनैतिक नियन्त्रण को बहुत ढ़ीला छोड़ दिया। यदि वह ऐसा नहीं करता, तो सोवियत संघ के इतिहास में उसका नाम कुछ सम्मान के साथ तो लिया ही जाता। उदारीकरण के आगे घुटने तो साम्यवादी चीन ने भी टेके थे, परंतु वहाँ के नेताओं ने राजनैतिक नियंत्रण ढीला नहीं छोड़ा, इसलिए वह सोवियत संघ की तरह बिखरा नहीं। राजनैतिक नियंत्रण ढीला छोड़ने के कारण ही गोर्वाच्योव के समक्ष यह संकट आया कि उसे अनुदारवादियों के साथ–साथ उदारवादियों का प्रकोप भी झेलना पड़ा।

गोर्वाच्योव की नीतियों के राजनैतिक परिणाम इस रूप में सामने आए कि सबसे पहले 1988 ई. में आर्मीनिया व अजरबैजान के मध्य युद्ध छिड़ा। उसके बाद 1990 ई. में लिथुवानिया, एस्टोनिया और लाटाविया ने विश्व में अपना स्वतन्त्र व पृथक राजनैतिक अस्तित्व होने की घोषणा कर दी। अप्रैल 1991 ई. में जार्जिया ने अपने आप को स्वतन्त्र घोषित कर दिया। घबराए हुए गोर्वाच्योव ने सोचा कि कहीं ऐसा न हो कि संघ इस तरह से न बिखर जाए कि कुछ भी शेष न रहे, इसलिए उसने स्वतंत्रता की घोषणा करने के लिए तैयार बैठे संघ के विभिन्न गणतंत्रो के नेताओं को अपनी ओर से उनके राज्यों की स्वायत्तता के विषय पर वार्ता करने की सहमति दे दी। इस कार्य के लिए 20 अगस्त 1991 की तिथि निर्धारित की गई, परन्तु इसके दो दिन पूर्व ही गोर्वाच्योव को सत्ताच्युत करने का प्रयास हुआ।

सोवियत संघ से विघटित हुए राष्ट्र

क्रमांक	नाम
1	आर्मीनिया
2	अजरबैजान
3	बेलारूस
4	एस्टोनिया
5	जार्जिया
6	कज़ाख़िस्तान
7	किर्गिज़स्तान
8	लातविया
9	लिथुवानिया
10	मोल्डोवा
11	रूस
12	ताजिकिस्तान
13	तुकमेनिस्तान
14	यूक्रेन
15	उज़बेकिस्तान

सोवियत संघ से विघटित हुए राष्ट्र–तालिका में दिए गए क्रम 1 से 15 के अनुसार देखिए।

कॉमनवैल्थ ऑफ इंडिपेंडेंट स्टेट्स (CIS) का गठन – 08 दिसम्बर 1991 को बेलारूस में बेलारूस, रशियन फ़ैडरेशन व यूक्रेन के प्रतिनिधि मिले।

दिसम्बर 1991 में यूक्रेन भी स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी। गोर्वाच्योव को गंभीर चुनौती उत्पन्न करने वाले उस वातावरण में राष्ट्रपति का पद त्यागना पड़ा। इसी दौरान संयुक्त राज्य अमेरिका ने स्वतन्त्र सोवियत राष्ट्रों को मान्यता भी दे दी।

विघटित हुए पूर्व सोवियत संघ के ग्यारह गणराज्यों ने अपना एक राष्ट्रमण्डल – कॉमनवैल्थ ऑफ इंडिपेंडेंट स्टेट्स (CIS) – भी बनाया। कॉमनवैल्थ का गठन करने के उद्देश्य से 08 दिसम्बर 1991 को पहले बेलारूस में तीन राष्ट्रों – बेलारूस, रशियन फ़ैडरेशन व यूक्रेन – के प्रतिनिधि आपस में मिले। आठ अन्य राज्यों ने भी इसी माह इसे स्वीकार कर लिया। जार्जिया इस संगठन में दो वर्ष बाद सम्मिलित हुआ।

I- साम्यवादी गुट का बिखराव

द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् पूर्वी यूरोप के अनेक देशों पर साम्यवादी तानाशाही आरोपित कर दी गई, इसलिए उन्हें सोवियत संघ के विघटन तक साम्यवाद का झण्डा उठाना पड़ा। सोवियत संघ के विघटन के बाद पूर्वी यूरोप के देश एक–एक करके साम्यवादी बंधन से मुक्त होते चले गए। तानाशाही सत्ताओं का अन्त सदैव बुरा ही होता है, इतिहास इसका गवाह है। जिस तरह तानाशाही पर आधारित नाज़ीवाद, फ़ासीवाद आदि व्यवस्थाओं का पतन हुआ, उसी तरह तानाशाही पर आधारित साम्यवादी व्यवस्था का भी पतन हुआ। एक अल्बानिया को छोड़कर अन्य पूर्वी यूरोपीय राज्यों जैसे हंगरी, पोलैण्ड, इटली आदि के साम्यवादी दलों ने स्वयं ही अपने मृत्युपत्र पर हस्ताक्षर कर दिए थे। पूर्वी यूरोप के देशों में ही क्यों, सोवियत रूस में भी राष्ट्रपति गोर्वाच्योव ने स्वयं पहले साम्यवादी दल पर प्रतिबन्ध लगाया और बाद में उसे समाप्त कर दिया।

साम्यवादी गुट के बिखराव का सबसे रोचक पहलू यह है कि यह बिना किसी बड़ी सांगठनिक योजना और खून–ख़राबे के सम्पन्न हो गया। केवल रोमानिया ही इसका अपवाद रहा, जहाँ हिंसक घटनाएँ हुईं। चेकोस्लोवाकिया में तो साम्यवाद को वैधानिक रूप से समाप्त किया गया। वहाँ हुए चुनावों में साम्यवादी बहुत पीछे रह गए। 1993 ई. में वहाँ स्वतंत्र 'चेक' व 'स्लोवाक' राज्यों का उदय हुआ और चेकोस्लोवाकिया नाम की नाव इतिहास के महासागर में कहीं खो गई।

इसी लहर में नवम्बर 1990 में पूर्वी जर्मनी व पश्चिमी जर्मनी को विभाजित करने वाली 'बर्लिन की दीवार' भी जनता द्वारा ढहा दी गई। जर्मनी के वासियों के लिए निकट इतिहास में इससे सुन्दर अवसर नहीं आया था। 1990 ई. में दोनों जर्मनी फिर से एक हो गए। इधर जर्मनी में उत्सव मनाया जा रहा था, तो उधर जुलाई 1991 में सोवियत संघ व पूर्वी यूरोप के 7 साम्यवादी देशों का सैन्य संगठन 'वारसा पैक्ट' भंग कर दिया गया। यूगोस्लाविया में भी अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर चल रहे स्वतंत्रता–यज्ञ का प्रभाव छा गया। सर्बिया और मोण्टीनीग्रो के संघ के रूप में मूल यूगोस्लाविया बना रहा – जबकि स्लोवेनिया, क्रोशिया, बोसनिया–हर्जेगाविना और मेसोडोनिया के रूप में चार अन्य स्वतन्त्र राष्ट्र अस्तित्व में आए। जून 2006 में मोण्टीनीग्रो भी सर्बिया से अलग हो गया। फ़रवरी 2008 में सर्बिया के एक प्रान्त कोसोवो ने अपनी स्वतंत्र सत्ता की घोषणा कर दी, जिसे मान्यता प्रदान करने वाला पहला देश अमेरिका था।

रूस के विघटन का साम्यवाद पर मर्मांतक प्रहार के अतिरिक्त जो सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण परिणाम सामने आया, वह है विश्व का एकध्रुवीय स्वरूप में ढल जाना। इस एकध्रुवीय विश्व का केंद्र है संयुक्त राज्य अमेरिका।

1. गुट–निरपेक्ष आन्दोलन : भारत का योगदान और इसकी विफलता के कारण

जब विश्व–मंच पर दो महाशक्तियाँ अपने–अपने प्रभाव का परीक्षण करने में लगी हों, तब किसी देश के लिए सबसे कठिन कार्य होता है निरपेक्ष रहना। द्वितीय विश्व–युद्ध के पश्चात् जब सोवियत रूस व संयुक्त राज्य अमेरिका दुनिया के समक्ष अपनी–अपनी शक्ति का परीक्षण करने में लगे हुए थे, तब नए–नए स्वतन्त्र हुए देश भारत के लिए सबसे चुनौतीपूर्ण कार्य यदि कोई था, तो वह दोनों महाशक्तियों के प्रति निरपेक्ष रहना ही था।

भारत ही क्यों, द्वितीय विश्व–युद्ध के पश्चात् साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद की जंजीरों से जो भी देश मुक्त हुए थे, उन सबके सामने यही दुविधा थी कि अब जाएँ तो किधर

जाएँ?दोनों ही महाशक्तियाँ उन्हें अपनी ओर खींचने में लगी हुई थीं। कुछ राष्ट्रों पर भय दिखाकर दबाव बनाया जा रहा था, तो कुछ को प्रलोभन देकर प्रभावित किया जा रहा था। अधिकतर राष्ट्रों की रुचि किसी गुट विशेष में नहीं थी। वे इन महाशक्तियों से कूटनैतिक व व्यापारिक सम्बन्ध तो रखना चाहते थे, लेकिन उनके गुट का हिस्सा नहीं बनना चाहते थे। उनका न तो सोवियत संघ के साम्यवाद और न ही वे संयुक्त राज्य अमेरिका के 'पूँजीवाद' में विश्वास था। उनके समक्ष जो श्रेष्ठ विकल्प था, वह यही था कि दोनों ही गुटों से यथोचित दूरी बनाकर रहा जाए। लेकिन प्रश्न तो यह था कि गुटों से यह दूरी बने कैसे?चिंता यह थी कि उनका नेतृत्त्व कौन करे?इस चिंता को दूर किया भारत के प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू, मिस्र के राष्ट्रपति गामैन अब्देल नासिर और यूगोस्लाविया के राष्ट्रपति जोसेफ ब्रोज़ टीटो ने। इन राष्ट्राध्यक्षों ने गुटों से निरपेक्ष रहने वाले राष्ट्रों के एक स्वतंत्र व प्रभावी संगठन की कल्पना की। यह कल्पना साकार भी हुई।

संगठन के निर्माण का सबसे बड़ा लाभ यह हुआ कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में गुटों से दूर रहने वाले राष्ट्रों की आवाज़ भी सुनी जाने लगी। यह अवश्य इतिहासकारों के मूल्यांकन का विषय है कि इस आवाज़ में असर अधिक पैदा क्यों नहीं हो सका ?

I- तात्पर्य

किसी भी राष्ट्र के लिए सर्वाधिक प्रतिष्ठाजनक स्थिति यही होती है कि समसामयिक विश्व में उसे सम्मान की दृष्टि से देखा जाए। यदि किसी राष्ट्र को केवल इसीलिए सम्मान प्राप्त होता हो कि वह दुनिया के किसी एक शक्तिशाली गुट का पिछलग्गू है, तो यह सम्मान वास्तविक सम्मान नहीं होता है – क्योंकि इसकी पृष्ठभूमि में उस राष्ट्र का अपना कोई योगदान नहीं होता। उसे जो भी स्थान मिलता है – वह उस गुट की शक्ति के कारण मिलता है, जिसके पीछे वह चलता है। इसलिए अपनी स्वतन्त्र व सम्मानजनक अन्तर्राष्ट्रीय पहचान बनाने के लिए किसी भी राष्ट्र का गुट से परे रहना ही श्रेयस्कर होता है। गुट से परे रहने का यह भाव अन्तर्राष्ट्रीय पटल पर यदि विभिन्न राष्ट्रों को संगठित कर देता है, तो सामूहिक रूप से इसे 'गुट–निरपेक्षता' कहा जा सकता है।

किसी एक राष्ट्र के गुट–निरपेक्ष होने और राष्ट्रों के एक समूह के गुट–निरपेक्ष होने में मूलभूत अन्तर है। यदि गुट–निरपेक्ष राष्ट्र किसी समूह अथवा संगठन के रूप में एक हैं, तो वे किसी महाशक्ति से कम नहीं हैं, लेकिन उनके काम करने की शर्त ही यह होनी चाहिए कि वे गुट के रूप में काम करते हुए दिखाई न दें। अगर वे ऐसा नहीं करते हैं, तो आंदोलन की मूल भावना को हानि पहुँचाते हैं। जब गुट–निरपेक्ष राष्ट्र अपने आप में एक 'गुट' ही बन जाते हैं, तो उनके गुट–निरपेक्ष होने का अर्थ ही समाप्त हो जाता है। संतोष का विषय है कि विगत चार दशकों से गुट–निरपेक्ष आन्दोलन का इस प्रकार का स्वरूप उद्घाटित नहीं हुआ है कि वे किसी 'गुट' के रूप में दिखाई दें। कहा जा सकता है कि गुट–निरपेक्ष देशों का गुट के रूप में न उभरना उनके लिए फ़ायदेमंद नहीं रहा, परंतु विचार किया जाना चाहिए कि यदि वे एक गुट के रूप में उभरते भी, तो संयुक्त राज्य अमेरिका तथा सोवियत संघ की तरह विश्व में शीत–युद्ध की राजनीति ही करते। कुछ भी हो, एक संगठन के रूप में गुट–निरपेक्ष आंदोलन ने विश्व में स्थिरता व शांति की स्थापना के लिए कुछ उल्लेखनीय कार्य अवश्य किए हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्य देशों में से दो तिहाई देश ऐसे हैं, जो गुट–निरपेक्षता को अंगीकार किए हुए हैं।

एक निष्कर्ष यह भी है कि गुट–निरपेक्ष राष्ट्रों के एक बलशाली गुट के रूप में न उभरने से उनके निरपेक्ष चरित्र की रक्षा तो हुई, लेकिन अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर उनका स्वर बहुत प्रभावी रूप में नहीं उभर सका। गुट–निरपेक्ष राष्ट्र अपना स्वर किस प्रकार इतना तीव्र करें कि उनके स्वार्थ सिद्ध हों, इसके लिए जो मार्ग उन्होंने अपनाया – वह यह था कि उन्होंने या तो किसी क्षेत्रीय मंच का गठन कर लिया या वे किसी क्षेत्रीय मंच के सदस्य बन गए।

क्षेत्रीय मंचों का पक्ष सुने बिना दोनों ही महाशक्तियों, संयुक्त राज्य अमेरिका व सोवियत रूस, का व्यापार–व्यवहार नहीं चल सकता था। इसलिए उन्होंने, जहाँ बहुत आवश्यक हुआ, प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष रूप से विभिन्न क्षेत्रीय मंचों या संगठनों को महत्त्व दिया। इस प्रकार स्पष्ट है कि गुट–निरपेक्ष राष्ट्र विभिन्न क्षेत्रीय मंचों से सम्पृक्त होकर अपने मूल रूप में गुट–निरपेक्ष न रहते हुए भी गुट–निरपेक्षता के सिद्धांत का पालन कर रहे थे।

जहाँ तक 'गुट–निरपेक्षता' शब्द के अर्थ का प्रश्न है, इस शब्द–बन्ध से ही उसका अर्थ प्रकट हो जाता है कि द्वितीय

विश्व–युद्ध के बाद की परिस्थितियों में किसी देश का विश्व की दो महाशक्तियों, संयुक्त राज्य अमेरिका व सोवियत रूस, द्वारा अपने पक्ष में बनाए गए गुटों में से किसी भी गुट का सदस्य न होना गुट–निरपेक्षता कहलाता है।

'गुट–निरपेक्षता' की प्रकृति को स्पष्ट करते हुए जॉर्ज श्वार्जनबर्गर अपनी पुस्तक 'द स्कोप ऑफ न्यूट्रैलिज़्म' में ऐसे छह प्रत्ययों का उल्लेख करते हैं, जिनका गुट–निरपेक्षता पर्याय नहीं है। ये छह प्रत्यय हैं – अलगाववाद, अप्रतिबद्धता, तटस्थता, तटस्थीकरण, एकपक्षवाद और असंलग्नता।

वस्तुतः गुट–निरपेक्षता की यही प्रकृति है कि कोई देश न केवल महाशक्तियों द्वारा पोषित गुटों से, अपितु उनके माध्यम से अपनी शक्ति का प्रदर्शन करने वाली मैत्री–संधियों से भी दूर रहे और अपनी घरेलू व विदेशी नीतियों का निर्धारण पूर्णतया स्वतन्त्र रूप से करे। गुट–निरपेक्षता का मूल चरित्र किसी राष्ट्र का किसी गुट विशेष के सापेक्ष न रहना ही नहीं है, बल्कि गुट–निरपेक्षता का मूल चरित्र है गुटों से निरपेक्ष रहते हुए अन्य राष्ट्रों के साथ शांतिपूर्ण सह–अस्तित्व के आधार पर न्यायपूर्ण परराष्ट्रीय सम्बन्ध रखना।

गुट–निरपेक्ष आंदोलन के सूत्रधार – नासिर, टीटो और नेहरू

गुट–निरपेक्ष आंदोलन के सूत्रधार तीनों नेताओं – नेहरू, नासिर और टीटो –ने विश्व के समक्ष गुट–निरपेक्षता के पाँच आयाम दिए थे। उनका कहना था कि गुट–निरपेक्ष आंदोलन के सदस्य राष्ट्र अपनी स्वतन्त्र नीति पर चलें, उपनिवेशवाद का विरोध करें, किसी सैनिक गुट का सदस्य न बनें, किसी बड़ी शक्ति के साथ द्विपक्षीय समझौता न करें और किसी महाशक्ति को अपनी भूमि पर सैनिक अड्डा बनाने की स्वीकृति न दें। जून 1961 में काहिरा में राष्ट्रों की भूमिका–बैठक में स्वीकार किए गए इन पाँच मानदण्डों की ठीक–ठीक सीमा इस आंदोलन की आधी से अधिक शताब्दी बीत जाने के बाद भी तय नहीं हो पाई है। यही कारण है कि आज तक हम गुट–निरपेक्षता की एक स्वीकार्य अन्तर्राष्ट्रीय परिभाषा भी निर्धारित नहीं कर पाए हैं। गुट–निरपेक्षता की ठीक–ठीक परिभाषा निर्धारित न हो पाने से इस आंदोलन के सदस्य राष्ट्रों ने यह सुविधा अर्जित कर ली कि वे यह स्वयं ही तय करेंगे कि उनके व्यवहार से कहाँ आंदोलन की भावना का उल्लंघन हुआ है और कहाँ नहीं हुआ है।

i-काल

सामान्यतः बीज रूप में आधुनिक राष्ट्रों की गुट–निरपेक्षता का आरोपण शीत–युद्ध के प्रारम्भ से ही माना जाता है। तब दुनिया के अनेक राष्ट्र यह दुविधा अनुभव करने लगे थे कि दोनों में से किस देश का पक्ष लिया जाए?उसी दौर में यह विचार भी सामने आया कि क्यों नहीं दोनों में से किसी भी देश का पक्ष न लिया जाए। यह विचार तब और भी पक्का हो गया, जब द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् ये दोनों बड़े देश अन्तर्राष्ट्रीय अखाड़े में पूरी तरह महाशक्तियों के रूप में उभर आए। जिन देशों को किसी भी गुट में सम्मिलित नहीं होना था, वे ऐसे अन्य साथियों की तलाश करने लगे जो इन दोनों महाशक्तियों के प्रसाद अथवा प्रकोप दोनों से बचने का मार्ग ढूँढ़ रहे थे।

अन्ततः 1961 ई. में गुट–निरपेक्ष आंदोलन (नाम) अस्तित्व में आया, जो अब तक काम कर रहा है। अतः गुट–निरपेक्ष आंदोलन का काल हमें 1961 ई. से प्रारंभ होकर आज की तिथि तक मानना चाहिए। विश्वास किया जाना चाहिए कि यह आंदोलन आगे भी जारी रहेगा।

गुट–निरपेक्ष आंदोलन का सोलहवाँ सम्मेलन अगस्त 2012 ई. में तेहरान में सम्पन्न हुआ, जिसमें 120 सदस्य देशों के प्रतिनिधि उपस्थित थे। तेहरान में यह भी तय हुआ था कि गुट–निरपेक्ष आंदोलन के सत्रहवाँ सम्मेलन वेनेजुएला में सम्पन्न होगा।

ii- गुट–निरपेक्ष आंदोलन क्यों?

स्पष्ट है कि द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् अपने स्वतन्त्र अस्तित्व की रक्षा करने के लिए कोई भी देश बिना किसी विवशता के किसी महाशक्ति का शरणागत होना नहीं चाहता था, इसीलिए विश्व के पटल पर गुट–निरपेक्ष आंदोलन का उदय हुआ। गुट–निरपेक्ष आंदोलन के उदय की पृष्ठभूमि में, जैसा कि स्पष्ट किया जा चुका है, सर्वाधिक प्रमुख कारक तो शीत–युद्ध ही था। अमेरिका व सोवियत संघ के मध्य यदि वैसी ही सामान्य प्रतिस्पर्द्धा चली होती, जो दो महत्त्वाकांक्षी देशों में आम तौर पर चलते हुए देखी जाती है – तो संभवतः यह आंदोलन इतने बड़े रूप में सामने नहीं आता। इस आंदोलन से सम्बद्ध देशों को उस समय अधिक सक्रिय होना पड़ा, जब दोनों महाशक्तियों के मध्य चली प्रतिस्पर्द्धा अत्यंत संकटपूर्ण स्थिति तक जा पहुँची थी। इनके क्रियाकलापों को देखकर दुनिया इस आशंका से घिर गई कि कहीं तीसरा विश्वयुद्ध न हो जाए। यद्यपि इन महाशक्तियों ने एक दूसरे के विरुद्ध वास्तविक शस्त्रास्त्र काम में नहीं लिए, लेकिन इनके द्वारा प्रयुक्त किए गए कूटनैतिक मुँहगोलों और काग़ज़ के बमों ने नव–स्वतन्त्र राष्ट्रों को इतना भयग्रस्त कर दिया कि उन्हें सोचना पड़ा कि यदि वे किसी एक महाशक्ति के प्रभाव में आ गए, तो दूसरी महाशक्ति उनका विनाश कर देगी।

राष्ट्रों का भी व्यक्तियों की तरह अपना मनोविज्ञान होता है, जो उन्हें निरन्तर असहज होने से बचने की ओर लेकर जाता है। इसलिए उस परिस्थिति में निरपेक्ष रहना ही नव–स्वतन्त्र राष्ट्रों के समक्ष सर्वश्रेष्ठ विकल्प था। निरपेक्ष रहते हुए वे अनेक कूटनैतिक दबावों से मुक्त होकर 'रुको और देखो' की नीति पर सरलता से चल सकते थे। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का यह नियम है कि किसी भी राष्ट्र की संप्रभुता प्रमाणित ही तभी होती है, जब वह इतना स्वतन्त्र हो कि अपने निर्णय स्वयं ले सके। यदि कोई राष्ट्र किसी गुट विशेष में सम्मिलित होता है, तो निश्चित रूप से उसकी संप्रभुता को न्यूनाधिक आघात पहुँचता ही है। संप्रभुता के साथ–साथ हर राष्ट्र की अपनी श्रेष्ठ सांस्कृतिक–राजनैतिक परम्पराएँ होती हैं। वह उन परम्पराओं को अक्षुण्ण बनाए रखने का प्रयास करता है, ताकि उसकी विशिष्ट पहचान बनी रहे। इस कारण भी नव–स्वतन्त्र राष्ट्रों को गुटों से निरपेक्ष रहना अधिक उपयुक्त लगा।

किसी राष्ट्र के लिए किसी महाशक्ति के गुट में सम्मिलित होने का एक यह अर्थ भी था कि समय–समय पर अपने सैन्य व अन्य संसाधनों का उसके पक्ष में, ऐसे राष्ट्रों के विरुद्ध भी प्रयोग करना, जिनसे उसकी कोई शत्रुता नहीं है। इसके विपरीत गुट का सदस्य होने के नाते किसी विशेष परिस्थिति में किसी महाशक्ति से किसी राष्ट्र को कोई सैनिक या अन्य प्रकार की सहायता मिलती भी है, तो वह महाशक्ति उसकी इतनी क़ीमत वसूल करती है कि वह राष्ट्र अपनी सम्पन्नता खो बैठता है। स्पष्ट है कि अपने अमूल्य संसाधनों को बचाए रखने हेतु कोई भी स्वाभिमानी राष्ट्र गुट से निरपेक्ष रहने का विकल्प ही चुनेगा।

इसके अतिरिक्त गुट–निरपेक्ष राष्ट्रों की एक और विडम्बना यह रही है कि वे कभी आर्थिक दृष्टि से अत्यधिक सम्पन्न नहीं रहे – इसलिए उनके लिए इस संभावना को सदैव जीवित रखना आवश्यक था कि वे जहाँ से भी आर्थिक सहयोग माँगें, मिल जाए। कोई भी गुट–निरपेक्ष राष्ट्र इस आधार पर उसे सहायता देने में सक्षम किसी राष्ट्र का तिरस्कार झेलना नहीं चाहता था कि वह उसके विरोधी गुट का सदस्य है।

एक जैसी स्थिति का सामना करने के कारण गुट से निरपेक्ष रहने वाले राष्ट्रों के लिए द्वितीय विश्व–युद्ध के पश्चात् की विश्व–राजनीति में अत्यन्त सुविधाजनक स्थिति बन गई थी कि वे एक अलग संगठन बनाकर अपना उन्नयन करें। अतः कहा जाना चाहिए कि गुट–निरपेक्ष आंदोलन वस्तुतः गुट से निरपेक्ष रहने वाले राष्ट्रों की सुविधा का ही एक 'नाम' है।

iii- सामूहिक नेतृत्व के स्वर

यद्यपि गुट–निरपेक्ष आंदोलन के अन्तर्गत संयुक्त राष्ट्र संघ एवं अन्य अन्तरराष्ट्रीय संगठनों की तरह किन्हीं बड़े व स्थायी निकायों की स्थापना नहीं की गई। इस कारण यह संगठन वह ऊँचाई नहीं प्राप्त कर सका, जिसकी इसमें संभावना थी। यद्यपि गुट–निरपेक्ष देशों में पारस्परिक समन्वय स्थापित करने, विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय मंचों पर संगठन की ओर से आधिकारिक राय प्रकट करने और संयुक्त रूप से कोई

कार्रवाई करने के लिए कोई विशिष्ट निकाय नहीं था। फिर भी यह संगठन विश्व–मंच पर एक सीमा तक राष्ट्रों के सामूहिक नेतृत्व के स्वरों को गुंजायमान करने में सफल हुआ। इन स्वरों को अंतरर्राष्ट्रीय जगत में महत्त्व कितना मिला, यह एक अगल प्रश्न है। यद्यपि गुट–निरपेक्ष आंदोलन की प्राथमिक कार्य–सूची में विशिष्ट निकायों की स्थापना का कार्य सम्मिलित नहीं था, फिर भी इस आंदोलन के तहत दो प्रमुख संस्थाएँ – समन्वयन ब्यूरो और सम्मेलन अथवा 'कॉंफ्रेंस' – गठित हुईं।

गुट–निरपेक्ष आंदोलन के सोलहवें शिखर–सम्मेलन का प्रतीक–चिह्न (लोगो)

वे कौन–कौन से विषय हों, जिनके प्रकाश में गुट–निरपेक्ष आंदोलन के सदस्य देश आपस में विचार–विनियम करें और विश्व के मंचों पर किस रीति से अपना सामूहिक स्वर उच्चरित करें– यह निर्धारित करने का कार्य 'समन्वयन–ब्यूरो' करता है। समन्वयन–ब्यूरो के इस समय 66 सदस्य हैं, जिनका कि निर्वाचन होता है। दूसरी संस्था 'सम्मेलन' अथवा 'कॉंफ्रेंस' है, जिसके अन्तर्गत दो निकाय आते हैं। प्रथम निकाय है 'मंत्री–स्तरीय सम्मेलन', जिसमें सदस्य देशों के विदेश–मंत्री भाग लेते हैं। सम्मेलन का द्वितीय निकाय है 'शिखर–सम्मेलन'।

गुट–निरपेक्ष आंदोलन के शिखर–सम्मेलन

संख्या	वर्ष	स्थान
1	1961	यूगोस्लाविया
2	1964	मिस्र
3	1970	जाम्बिया
4	1973	अल्जीरिया
5	1976	श्रीलंका
6	1979	क्यूबा
7	1983	भारत
8	1986	जिम्बाब्वे
9	1989	यूगोस्लाविया
10	1992	इण्डोनेषिया
11	1995	कोलम्बिया
12	1998	दक्षिणी अफ्रीका
13	2003	मलेशिया
14	2006	क्यूबा
15	2009	मिस्र
16	2012	ईरान
17	2015	वेनेजुएला

शिखर–सम्मेलन' सदस्य राष्ट्रों का सबसे बड़ा आयोजन होता है, जिसमें उनके शासनाध्यक्ष प्रमुख रूप से भाग लेते हैं। शिखर–सम्मेलन तीन वर्ष में एक बार होता है। शिखर–सम्मेलन में भाग लेने हेतु चार प्रकार के प्रतिनिधि अनुमत होते हैं – पूर्ण सदस्य, पर्यवेक्षक सदस्य, ग़ैरराज्य सदस्य और अतिथिगण। गुट–निरपेक्ष आंदोलन के शिखर–सम्मेलन को विश्व–राजनीति की एक प्रमुख घटना के रूप में देखा जाता है। दुनिया के सभी बड़े देश यह जानने के लिए सदैव उत्सुक रहते हैं कि विश्व–जनसंख्या के एक बड़े हिस्से के प्रतिनिधि अन्तर्राष्ट्रीय पटल पर स्वयं को किस रूप में प्रस्तुत करते हैं। 2012 तक गुट–निरपेक्ष आंदोलन के सोलह अधिवेशन सम्पन्न हो चुके हैं।

I- गुट–निरपेक्ष आंदोलन और भारत

भारत गुट–निरपेक्ष आंदोलन का संस्थापक सदस्य है। किसी भी आक्रामक गुट में सम्मिलित न होकर स्वयं से

सहमति रखने वाले ऐसे देशों को साथ लेकर चलना, जो ज़रूरत पड़ने पर प्रतिक्रिया भी करें और सामान्य स्थिति में जन–कल्याण के पथ पर अग्रसर होते रहें। यही तो मध्यम मार्ग है, जो भारतीय जीवन–दर्शन का आधार हैं।

पहले वेद के ऋषि व उसके बाद बुद्ध ने जिस मध्यम मार्ग को मुक्ति का मार्ग बताया, उसी को भारत ने गुट–निरपेक्षता के सिद्धान्त में समाहित किया। भारत ने गुट–निरपेक्षता को एक रचनात्मक स्वरूप देने का पूरा प्रयास किया। भारत ने प्रारंभ में ही स्पष्ट कर दिया था कि गुट–निरपेक्षता का यह अर्थ बिलकुल नहीं है कि हम शेष विश्व से असम्पृक्त हो गए हैं और यह भी न समझा जाए कि गुट–निरपेक्ष राष्ट्र हर अन्तर्राष्ट्रीय मामले में चुप ही रहेंगे। भारत ने कहा कि यदि कहीं स्वतन्त्रता का हनन होगा, न्याय की हत्या होगी अथवा आक्रमण होगा – तो वहाँ हम न आज तटस्थ रह सकते हैं और न ही भविष्य में रहेंगे, क्योंकि गुट–निरपेक्षता का अर्थ तटस्थता नहीं है। भारत ने कहा कि आवश्यकता पड़ने पर गुट–निरपेक्षता का उल्लंघन न करते हुए यह आंदोलन संयुक्त राष्ट्र संघ जैसे अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों की भरपूर मदद भी करेगा।

गुट–निरपेक्ष आंदोलन के सदस्य देश कितने गुट–निरपेक्ष हैं, इस विषय को लेकर अनेक बार आशंकाएँ उत्पन्न हुई हैं। अगस्त 1971 में भारत और सोवियत संघ के मध्य हुई मैत्री व सहयोग संधि को लेकर विवाद उठा कि भारत ने गुट–निरपेक्षता के सिद्धान्त का उल्लघंन किया है। भारत ने अपना पक्ष इस प्रकार रखा कि पाकिस्तान पूरी तैयारी के साथ हमें युद्ध की धमकी दे रहा है और चीन भी उसकी तरफ़ से लड़ने को तैयार है। साथ ही अमेरिका कहता है कि भारत–पाक संघर्ष में वह निष्क्रिय रहेगा। फिर भी हमने रूस के साथ केवल मैत्री व सहयोग की संधि की है, कोई युद्ध–संधि नहीं की है। अतः गुट–निरपेक्षता का किसी प्रकार उल्लंघन भारत ने नहीं किया है। वस्तुस्थिति तो यह है कि भारत ने 1962 ई. में चीन का आक्रमण झेला, फिर भी वह गुट–निरपेक्षता के सिद्धान्त से विचलित होकर अमेरिका के गुट में नहीं गया, जबकि रूस ने उस समय चीन को अपना भाई बताते हुए उसे नियंत्रित करने से इंकार कर दिया था। इस प्रकार भारत ने अपनी ओर से गुट–निरपेक्ष आंदोलन की पूरी रक्षा की। भारत ने किसी भी स्थिति में गुट–निरपेक्ष आंदोलन को त्यागने का विचार नहीं किया।

हाँ, हमें यह अवश्य विचार करना चाहिए कि पाकिस्तान और चीन के साथ संघर्ष के दौरान महाशक्तियों द्वारा हमें उपेक्षित करना कहीं इस कारण तो नहीं था कि हमारा तत्कालीन राजनैतिक नेतृत्व अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर अपनी छवि बचाने की चिन्ता ही करता रहा। दुनिया के इतिहास में यह कोई नई बात नहीं है कि नेताओं का स्वप्नदर्शी व्यक्तित्त्व अनेक बार राष्ट्र के भविष्य के लिए संकट भी खड़ा कर देता है।

ii- गुट–निरपेक्ष आंदोलन की सफलताएँ

गुट–निरपेक्ष आंदोलन के प्रथम शिखर–सम्मेलन में, जो 1961 ई. में बेलग्रेड में संपन्न हुआ था, 25 देशों ने और इसके सोलहवें शिखर–सम्मेलन में, जो 2012 ई. में तेहरान में सम्पन्न हुआ था, 120 देशों ने भाग लिया। अतः इसमें कोई सन्देह नहीं कि गुट–निरपेक्षता आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का सर्वाधिक लोकप्रिय दर्शन बन चुकी थी। भले ही इसके आलोचक कितनी ही दृढ़ता से इसके अप्रासंगिक हो जाने का प्रकटीकरण करें, इससे कोई इंकार नहीं कर सकता कि दुनिया के अधिकतर देश द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् उभरे शीत–युद्ध में अपनी इच्छा की किसी एक महाशक्ति को चुन लेते, तो अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति केवल युद्धों का लेखा–जोखा ही होती।

गुट–निरपेक्षता की यह विशेष उपलब्धि है कि उसके कारण शीत–युद्ध शैथिल्य के दौर में प्रवेश कर गया। गुट–निरपेक्ष आंदोलन के प्रभाव से शीत–युद्ध का शैथिल्य के दौर में प्रवेश कर जाना इसकी प्रासंगिकता को सिद्ध करता

है। इस आंदोलन की प्रासंगिकता इस तथ्य से भी सिद्ध होती है कि दोनों ही महाशक्तियों ने यह कहना प्रारंभ कर दिया था कि गुट–निरपेक्षता भी एक अन्तर्राष्ट्रीय कार्य–पद्धति है। जर्मनी, कोरिया, चीन, इण्डो–चीन, काँगो आदि क्षेत्रों में उत्पन्न हुई अशांति को गुट–निरपेक्ष आंदोलन ने दूर किया, इससे सिद्ध होता है कि गुट–निरपेक्षता को अंतरर्राष्ट्रीय स्वीकृति मिल चुकी थी। भारत ने गुट–निरपेक्ष आंदोलन का प्रमुख सदस्य होते हुए 1954 ई. में परमाणु–आयुधों पर प्रतिबन्ध लगाने का विषय अन्तर्राष्ट्रीय पटल पर रखा, जिसे 1963 ई. में आंशिक परीक्षण निषेध संधि के रूप में मान्यता भी दी गई। निश्चित रूप से विकासशील देशों की आवाज़ विकसित देशों द्वारा दबा दी जाती, यदि गुट–निरपेक्ष आंदोलन के ध्वज तले आर्थिक सहयोग का मोर्चा विकासशील देशों ने न खोल दिया होता। अब तक संयुक्त राष्ट्र संघ में महाशक्तियों की मनमानी को महासभा में गुट–निरपेक्ष देशों ने ही रोकने की कोशिश की है, जिससे विश्व–समुदाय के सामने उनकी सकारात्मक भूमिका प्रकट हुई।

स्पष्ट है कि गुट–निरपेक्ष आंदोलन ने विश्व–राजनीति को एक रचनात्मक दृष्टिकोण देने का प्रयास किया।

iii- गुट–निरपेक्ष आंदोलन की विफलताएँ

गुट–निरपेक्ष आंदोलन पर सबसे बड़ा आक्षेप यही है कि इसके सदस्य घोषित रूप से तो गुट–निरपेक्ष थे, किन्तु वे असल में वे कभी गुट–निरपेक्ष रहे नहीं। एक सीमा तक यह सत्य भी है। भारत के तत्कालीन प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू का साम्यवाद की ओर झुकाव जगजाहिर है। भारत यदि थोड़ा सोवियत रूस की ओर झुका रहा है, तो पाकिस्तान पूरा ही अमेरिका के पक्ष में ख़ड़ा रहा है।

सच्ची और शुद्ध गुट–निरपेक्षता तो वही होती, जिसमें इस आंदोलन के सदस्य राष्ट्र दोनों ही महाशक्तियों की अवहेलना करते तथा आर्थिक क्षेत्र में पास्परिक सहयोग के नए कीर्तिमान स्थापित करते। दोनों ही महाशक्तियों से लाभ व सहायता प्राप्त करने के लोभ ने अनेक गुट–निरपेक्ष देशों को अनैतिक समझौते करने के लिए विवश किया। इन देशों को अनेक बार महाशक्तियों के समक्ष याचक–मुद्रा में भी खड़ा होना पड़ा, क्योंकि गुट–निरपेक्ष आंदोलन ने अपने भीतरी तन्त्र में व्यापक स्तर पर अपने सदस्यों की आर्थिक सुरक्षा का कोई महत्त्वाकांक्षी कार्यक्रम कभी तैयार नहीं किया।

गुट–निरपेक्ष आंदोलन की एक और बड़ी न्यूनता यह थी कि आंदोलन की ओर से उस स्थिति का विचार करते हुए कोई सोची–समझी नीति घोषित नहीं की गई, जिस स्थिति में यदि कोई बड़ी शक्ति किसी छोटे देश पर आक्रमण करे, तो उसकी रक्षा कैसे की जाएगी? 1962 ई. में, जब चीन ने भारत पर आक्रमण किया, तब हमारे गुट–निरपेक्ष मित्रों ने ऐसा कोई प्रयास नहीं किया – जिससे सामूहिक सुरक्षा की भावना झलकती हो। उन्हें यह समझना चाहिए था कि भारत यदि गुट–निरपेक्ष न रहकर किसी एक महाशक्ति की शरण में रहा होता, तो उसे या तो युद्ध की त्रासदी झेलनी ही नहीं पड़ती और यदि झेलनी भी पड़ती, तो निश्चित रूप से एक बड़ी ताक़त उसके साथ लड़ रही होती।

भारत, मिस्र और यूगोस्लाविया जैसे गुट–निरपेक्ष आंदोलन के संस्थापक राष्ट्र शीत–युद्ध के दौर में महाशक्तियों की आक्रामक नीति में कोई मूलभूत सुधार नहीं करवा सके। यद्यपि विभिन्न देशों के गुटों से दूर रहने के कारण शीत–युद्ध में शैथिल्य तो आया, किंतु महाशक्तियों के आक्रामक रवैये में कोई बड़ा परिवर्तन आ गया हो, ऐसा नहीं हुआ। परन्तु सांगठनिक स्तर पर गुट–निरपेक्ष आंदोलन की सक्रियता के कारण ऐसा हुआ था, इससे सहमत नहीं हुआ जा सकता। दुनिया के देखते–देखते चीन ने तिब्बत पर कब्ज़ा कर लिया, लेकिन कोई कुछ नहीं कर सका। अरब–इज़राइल संघर्ष में भी दुनिया के गुट–निरपेक्ष देश सक्रिय रूप से कोई भूमिका नहीं निभा सके। गुट–निरपेक्ष आंदोलन के चलते हुए भी अल्जीरिया, अंगोला, मोजाम्बीक आदि राष्ट्रों में स्वतन्त्रता के लिए बड़े स्तर पर रक्तपात हुआ। भारत के पड़ोस में नेपाल जैसे छोटे–से देश में

शासन को अस्थिर करने वाली प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ अपना स्वार्थ सिद्ध करने लगीं। इस प्रकार विगत आधी शताब्दी से विश्व में गुट–निरपेक्षता को भंग करने की इतनी घटनाएँ हुई हैं कि इतिहास के अध्येताओं को यह ढूँढने में बहुत श्रम करना पड़ेगा कि गुट–निरपेक्ष आंदोलन के सदस्य देशों में से कौनसा देश पूर्णतया गुट–निरपेक्ष रहा है।

गुट–निरपेक्ष आंदोलन की सफलताओं और विफलताओं का साँगोपांग विवेचन करने से यह स्पष्ट होता है कि इस आन्दोलन को यदि ठीक दिशा प्रदान की जाए, तो शीत–युद्ध का दौर पूर्णतया समाप्त हो चुका है और हमें जिस ओर देखना है, उस ओर केवल एक महाशक्ति अमेरिका ही विद्यमान है। इस एकध्रुवीय विश्व में यदि गुट–निरपेक्षता को उसका यथोचित सम्मान मिलता है, तो इसकी प्रासंगिकता सिद्ध होने में अधिक समय नहीं लगेगा।

1.आधुनिक विश्व व इसके समक्ष चुनौतियाँ : पर्यावरण एवं आतंकवाद

जानकारों के समक्ष विगत शताब्दी में तीन बार ऐसे अवसर आए, जब उन्होंने अपना यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया कि अब जो दुनिया होगी, वह एक 'नई दुनिया' होगी। प्रथम अवसर तब आया – जब प्रथम विश्वयुद्ध समाप्त हुआ, द्वितीय अवसर तब आया – जब द्वितीय विश्वयुद्ध समाप्त हुआ और तृतीय अवसर तब आया – जब शीत–युद्ध समाप्त होने के साथ ही सोवियत संघ का पतन हो गया। मार्क्सवादी–लेनिनवादी शासन–पद्धति के पराभव से समाज–शास्त्रियों ने यह निष्कर्ष भी निकाल लिया था कि विश्व ने अंतिम रूप से अब पश्चिम के तथाकथित उदारवादी लोकतन्त्र को स्वीकार कर लिया है।

यहाँ प्रश्न यह उदित होता है कि पश्चिम के जिस उदारवादी लोकतन्त्र को प्रचारित किया जा रहा है, क्या यथार्थ रूप में वह उतना उदार है?बिलकुल नहीं! यही प्रश्न इस रूप में भी उठ सकता है कि क्या पश्चिम के समस्त राष्ट्र राजनैतिक रूप से इतने परिपक्व हो गए हैं कि उन्हें इस तथाकथित 'उदार लोकतन्त्र' के साये में समस्याओं से जूझ रही मानवता के कल्याण का मार्ग सूझ गया है?अमेरिका के राजनेता–अर्थशास्त्री फ्रांसिस फुकुयामा ने तो अत्यधिक आत्मविश्वास में यह घोषणा ही कर दी थी कि अब 'इतिहास का अंत' हो गया है, जबकि चिन्तकों के एक बड़े वर्ग का कहना है कि दुनिया में जो श्रेष्ठ है, उसका तो अभी सामने आना शेष है।

'इतिहास के अन्त' की घोषणा फुकुयामा द्वारा स्वयं को बहुत बड़ा अमेरिकापरस्त सिद्ध करने के लिए ही की थी। सिद्धांत के तौर पर विश्व ने 'इतिहास के अंत की घोषणा' को कोई मान्यता नहीं दी। दार्शनिकों ने फुकुयामा के कहने पर इतिहास के अंत की तो कोई घोषणा नहीं की, अपितु उसकी घोषणा का ही अंत घोषित कर दिया। फुकुयामा को इतनी–सी बात समझ में नहीं आई कि इतिहास का न तो कभी अंत होता है और न ही उसमें से वह श्रेष्ठ तत्त्व नष्ट हो सकता है, जिससे मानवता का त्राण होता हो।

साम्यवाद की आलोचना करने के अतिरेक में फुकुयामा ने इस तथ्य की अनदेखी की कि यदि अंत हुआ है, तो सोवियत संघ का हुआ है – साम्यवाद के विचार का नहीं! पवित्र साध्य प्राप्त करने के लिए अपवित्र साधनों के इस्तेमाल की अनुमति देने वाला साम्यवादी दर्शन अकादमिक रूप से आज भी लोगों को आकर्षित करता है। जिस उदारवादी लोकतन्त्र की बात पश्चिमी देश कर रहे है, वह उसी पूँजीवाद की सन्तान है, जिसकी जड़ों में श्रमिकों का रक्त व स्वेद समाया हुआ है। जिस उदारवादी लोकतन्त्र का पक्ष पश्चिमी समाज लेता है, उस उदारवादी लोकतन्त्र को तो निरंतर परमाणु–आयुधों के भण्डारण से पोषित किया जा रहा है। ऐसे आत्मघाती उदारवाद की आड़ में मानवता की रक्षा कभी नहीं हो सकती।

अब, जबकि कहा यह जा रहा है कि भूमण्डलीकरण के कारण विश्व का एकध्रुवीय चरित्र अधिक दिनों तक स्वीकार नहीं किया जाएगा। समाज–शास्त्री मानते हैं कि अब राष्ट्रों के

स्थान पर सभ्यताओं के एकीकरण की भूमिका लिखी जाएगी। स्वार्थ–पूर्ति के आधार पर बने गठबन्धन बिखरने में अधिक समय नहीं लेते, इसलिए आशा की जानी चाहिए कि एकध्रुवीय विश्व की स्थिति अधिक समय तक बनी नहीं रहेगी।

जब तक विश्व के लोगों में स्वप्रेरणा से एक होने का भाव नहीं जागेगा, तब तक विश्व की समस्याएँ सुलझने के बजाय उलझती ही चली जाएँगी। इस समय विश्व दो बड़े संकटों, पर्यावरण के प्रति हमारी निष्ठुरता और आतंकवाद के संस्थागत प्रसार, का सामना कर रहा है। यदि इन संकटों का कोई समाधान निकल आए, तो यह मानव–सभ्यता के लिए अत्यन्त कल्याणकारी स्थिति होगी।

पर्यावरण

यह एक शुभ संकेत है कि पर्यावरण को निरन्तर क्षति पहुँचाते हुए भी विश्व के देशों ने इसे अन्तर्राष्ट्रीय विमर्श के केन्द्रीय विषयों में सम्मिलित किया है। यह अलग बात है कि आज की परिस्थिति में पर्यावरण–विनाश के लिए राष्ट्रों द्वारा एक–दूसरे को दोषी ठहराने की राजनीति उभार पर है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में पर्यावरण के मुद्दे पर विकासशील राष्ट्रों की ओर से सदैव यह प्रश्न उठाया जाता है कि जब विकसित देश अपने निहित स्वार्थों के लिए इस धरती के पर्यावरण को विकासशील व अविकसित राष्ट्रों की तुलना में कई गुना अधिक हानि पहुँचा रहे हैं, तो वे इसकी ज़िम्मेदारी क्यों नहीं लेते हैं?

विश्वास किया जाना चाहिए कि आज नहीं तो कल, विश्व के समस्त राष्ट्र एक राय होकर पर्यावरण–संरक्षण के विषय को उसी तरह सर्वोच्च प्राथमिकता देंगे, जिस तरह परमाणु–आयुधों के नष्टीकरण और आतंकवाद के ख़ात्मे जैसे अन्य महत्त्वपूर्ण विषयों को दी जाती है।

i-स्वरूप

पर्यावरण जैसे संवेदनशील विषय पर चर्चा करते समय हमें केवल उसके स्थूल या बाह्य स्वरूप पर ही विचार नहीं करना चाहिए। पर्यावरण का मूल स्वरूप तो सूक्ष्म अथवा आभ्यन्तरिक स्वरूप है, जिसके अन्तर्गत हमारे भारतीय ऋषि आह्वान करते हैं कि मानव–मानव के मध्य सुन्दरतम संबंध विकसित होने अत्यावश्यक हैं। मानव और मानव के मध्य जब सुन्दरतम संबंध विकसित होंगे, तभी वह विश्व के समस्त जीव–जन्तुओं के प्रति संवेदनशीलता के साथ अपना उत्तरदायित्व निर्धारित करेगा।

ii-चिन्तन और प्रयास

आधुनिक प्ररिप्रेक्ष्य में, जब प्रमुखतः आर्थिक विषय ही विभिन्न देशों के मध्य चर्चा के केन्द्र में रहते हैं, पर्यावरण से संबंधित चिन्ताओं की उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए, क्योंकि विश्व का समस्त आर्थिक उन्नयन पर्यावरणीय संरक्षण को सर्वोच्च प्राथमिकता देने से ही हो सकता है। संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना के प्रारंभिक दो दशकों में तो उसके एजेण्डा में पर्यावरणीय विषय प्राथमिकता से अंकित ही नहीं किए गए, लेकिन 1960 ई. के दशक में सागरीय प्रदूषण के तहत तेल के बिखराव जैसे मुद्दे पर कुछ सहमति अवश्य बनी। धीरे–धीरे दीर्घकालिक विकास की चिन्ता करते हुए संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्य राष्ट्र पर्यावरण–संरक्षण को संस्थागत रूप देने का प्रयास करने लगे। यदि धरती के पर्यावरण का संरक्षण नहीं हुआ, तो निश्चय ही मानव–सभ्यता का आर्थिक विकास अवरुद्ध हो जाएगा, यह बिन्दु विशेष रूप से 1972 ई. में तब प्रकाश में आया, जब स्टाकहोम में पर्यावरण पर संयुक्त राष्ट्र संघ का सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन के पश्चात् देशों द्वारा व्यापक स्तर पर संयुक्त राष्ट्र पर्यावरण कार्यक्रम (यूनाइटेड नेशंस एनवायरमेंट प्रोग्राम) स्वीकार किया गया। 1970 ई. के दशक मे ही संयुक्त राष्ट्र संघ ने पश्चिमी अफ़्रीका में रेगिस्तान के विस्तार को रोकने का एक महत्त्वाकांक्षी कार्यक्रम प्रस्तुत किया।

1980 ई. के दशक में संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा ने पर्यावरण एंव विकास से संबंधित विश्व–आयोग द्वारा

ध्यानाकर्षित किए गए उन बिन्दुओं पर विचार किया, जिनमें बताया गया कि दीर्घकालिक या टिकाऊ विकास हमारा प्रमुख लक्ष्य होना चाहिए, अन्यथा आने वाली नस्लों का आर्थिक विकास नहीं हो पाएगा। 1980 ई. का दशक संयुक्त राष्ट्र संघ के ध्वज तले विश्व के देशों द्वारा पर्यावरणीय चिन्ताओं के साझा किए जाने की दृष्टि से एक उल्लेखनीय दशक रहा। संघ के सदस्य राष्ट्रों के बीच ओज़ोन चादर के क्षरण और विषैले पदार्थो के उत्सर्जन से जुड़े अनेक समझौते इसी दशक में हुए।

iii-1992 ई. का पृथ्वी–सम्मेलन

पर्यावरणीय चिन्ताओं के साझा किए जाने को लेकर 1990 ई. का दशक और अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ। पर्यावरण पर हुए स्टाकहोम सम्मेलन के बीस वर्ष पूरे होने अवसर पर जून 1992 में ब्राजील की राजधानी ब्राजिलिया में 'पर्यावरण व विकास पर संयुक्त राष्ट्र सम्मेलन' हुआ, जिसे 'पृथ्वी सम्मेलन' भी कहा जाता है, जिसमें 150 से अधिक राष्ट्रों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। सम्मेलन में पर्यावरण–संरक्षण से जुड़े अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों पर गंभीरता से विचार–विनिमय हुआ।

इस सम्मेलन की गम्भीरता का अनुमान इस आधार पर लगाया जा सकता है कि संयुक्त राष्ट्र संघ के महासचिव बुतरस घाली स्वयं इस सम्मेलन में उपस्थित हुए। इस अवसर पर सम्मेलन की ओर से एक संयुक्त घोषणा पत्र जारी हुआ, जिसमें ज़ोर देकर कहा गया कि यह पृथ्वी 'मानव–जाति का घर' है और इसकी रक्षा के लिए राष्ट्रों के कर्त्तव्याधिकारों का स्पष्ट रूप से निर्धारण किया जाना चाहिए।

रियो दी जेनेरियो के पृथ्वी सम्मेलन में जलवायु–परिवर्तन के मुद्दे पर हुई संधि पर हस्ताक्षर करने वाले राष्ट्रों ने स्वीकार किया कि वे 2000 ई. तक ख़तरनाक गैसों के उत्सर्जन को पुनः उस स्तर पर लाने का प्रयास करेंगे, जो 1990 ई. में था। तय हुआ कि इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए विश्व–बैंक की ग्लोबल एनवायरमेंट फेसिलिटी के अन्तर्गत वित्तीय सहायता ली जा सकेगी। सम्मेलन में यह भी अपेक्षा की गई कि विश्व बैंक की ग्लोबल एनवायरमेंट फेसिलिटी के अन्तर्गत वित्तीय सहायता प्राप्त करके विकासशील देश इस धरा पर विद्यमान जैव–विविधता की रक्षा भी करें। सम्मेलन में आठ सौ पृष्ठ का एक ऐतिहासिक दस्तावेज़ 'एजेंडा 21' तैयार किया गया। 'एजेंडा 21' में पर्यावरण को हानि पहुँचाने वाले उन अनेकानेक बिन्दुओं को गहराई से रेखांकित किया गया, जिन पर विश्व के देशों का ध्यान जाना चाहिए। सम्मेलन की व्यवस्था को ध्यान में रखते हुए संयुक्त राष्ट्र संघ ने अपनी आर्थिक व सामाजिक परिषद के अन्तर्गत एक सतत विकास आयोग का गठन भी किया।

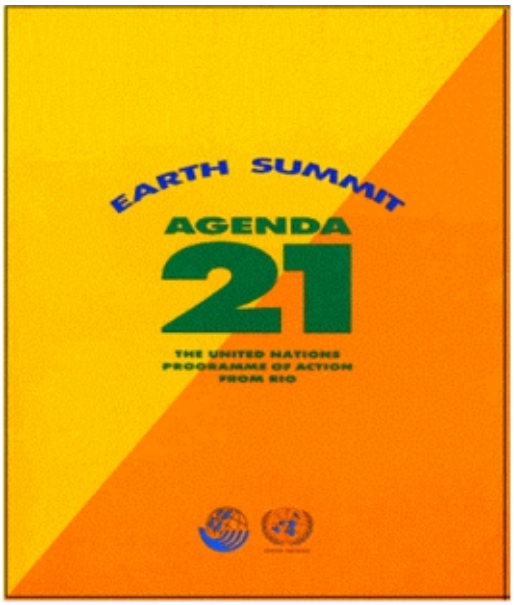

एजेण्डा 21– पृथ्वी–सम्मेलन 1992 में प्रकाशित पुस्तिका का मुख–पृष्ठ।

'पृथ्वी–सम्मेलन 1992' को दुनिया के इतिहास में इस रूप में अवश्य अंकित किया जाएगा कि पर्यावरण–संरक्षण के प्रश्नों पर हुए विमर्श में दक्षिण के विकासशील देशों के प्रतिनिधियों ने समुचित प्रमाण प्रस्तुत करते हुए यह सिद्ध कर दिया कि पर्यावरण को हानि पहुँचाने के लिए उत्तर के विकसित देश दक्षिण के विकासशील देशों की अपेक्षा अधिक दोषी हैं, तो सम्मेलन स्पष्टतः दो शिविरों में विभाजित दिखाई दिया। प्रमाणों के प्रकाश में विकसित देशों को यह मानना पड़ा कि वे

विकासशील देशों को पर्याप्त आर्थिक अनुदान देंगे, जिससे 'एजेण्डा 21' को लागू करने में आसानी हो।

इससे यह और भी स्पष्ट हो गया कि विकसित देशों ने यह स्वीकार कर लिया कि कि पर्यावरण की हानि के लिए वे विकासशील देशों से कहीं अधिक उत्तरदायी हैं। यद्यपि उन्होंने विकासशील देशों को जितना अनुदान देने की स्वीकृति दी थी, उससे बहुत कम दिया। भले ही विकसित देशों ने विकासशील देशों को स्वीकृत पूरा अनुदान न दिया हो, यह तो स्पष्ट हो ही गया कि वे पर्यावरण–संरक्षण में अपनी एक बड़ी भूमिका स्वीकार तो करते ही हैं। कहा जा सकता है कि पृथ्वी–सम्मेलन में विकासशील देशों को इस तथ्य की स्थापना करने में पूरी सफलता मिली कि पर्यावरण को हानि पहुँचाने के लिए विकसित देश उनकी अपेक्षा अधिक उत्तरदायी हैं।

आज भी अमेरिका, जिसमें विश्व की केवल पाँच प्रतिशत आबादी निवास करती है, विश्व की लगभग पच्चीस प्रतिशत ऊर्जा को काम ले रहा है। दूसरी ओर भारत, जिसमें विश्व की सोलह प्रतिशत आबादी निवास करती है, विश्व की केवल तीन प्रतिशत ऊर्जा की ही खपत कर रहा है। इसी प्रकार अमेरिका जहाँ वायुमण्डल में बाइस प्रतिशत कार्बन डाइ आक्साइड का उत्सर्जन कर रहा है, वहीं भारत का हिस्सा इसमें सिर्फ़ तीन प्रतिशत है (ये आँकड़े तत्कालीन हैं, वर्तमान आँकड़े नेट पर देखें)। सम्मेलन में विकसित देशों के प्रतिनिधियों ने एक ओर बढ़ते पर्यावरणीय प्रदूषण के प्रति गहरी चिन्ता प्रदर्शित की, वहीं दूसरी ओर पर्यावरणीय प्रदूषण को रोकने से संबंधित संधियों पर हस्ताक्षर करने के समय वे मुँह फेरकर बैठ गए। विकसित देशों का यह दोहरापन किस तरह के उदारवादी लोकतन्त्र का प्रतिनिधित्व कर रहा है, समझ में नहीं आता। विकासशील देशों के समूह 77 के देशों ने रियो दी जेनेरियो सम्मेलन में विकसित देशों की जमकर आलोचना की। उनका कहना था कि विकसित देश न केवल विषय की गंभीरता की उपेक्षा कर रहे हैं, अपितु पर्यावरणीय प्रदूषण को रोकने के लिए अपना उत्तरदायित्व स्वीकार करने से दूर भी भाग रहे हैं।

i- 1992 ई. के पृथ्वी–सम्मेलन के बाद

रियो दी जेनेरियो में हुए 'पृथ्वी सम्मेलन 1992' की तर्ज़ पर ही जून 1997 में न्यूयार्क में एक और 'पृथ्वी सम्मेलन' आयोजित होना था, जिसमें रियो दी जेनेरियो सम्मेलन के पश्चात् हुई प्रगति का मूल्यांकन किया जाना था। दुर्योग से यह सम्मेलन अतीत के मुद्दों को दोहराने से अधिक कुछ न कर सका। यद्यपि इस बीच दुनिया में पर्यावरण–संरक्षण के विषय को केंद्र में रखकर अलग–अलग मंचों पर विश्व के देश विचार–विमर्श करते रहे, लेकिन इस दिशा में जो आशानुकूल प्रगति होनी चाहिए थी – वह नहीं हुई। इतना अवश्य हुआ कि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर पर्यावरण–संरक्षण का मुद्दा जीवित रहा।

इसी क्रम में दिसम्बर 1997 में जापान के क्योटो शहर में 'विश्व पर्यावरण व ग्रीन हाउस सम्मेलन' आयोजित हुआ, जिसमें मुख्यतः इस बिन्दु पर विमर्श हुआ कि वातावरण को गर्म करने वाली गैसों के उत्सर्जन को नियन्त्रित किस प्रकार किया जाए?इस समस्या के समाधान के लिए वहाँ उपस्थित अनेक राष्ट्रों ने अपने लिए वातावरण को गर्म करने वाली गैसों के उत्सर्जन की एक सीमा निर्धारित की। यह तय हुआ कि 2008 से 2012 ई. के मध्य यूरोपीय यूनियन के राष्ट्र वातावरण को गर्म करने वाली गैसों के उत्सर्जन को आठ, अमेरिका सात और जापान छह प्रतिशत तक न्यून कर लेंगे। आश्चर्य की बात है कि इस उत्सर्जन के नियन्त्रण की प्रक्रिया क्या होगी, इस पर इन समझदार देशों ने कोई निर्णय नहीं किया। यद्यपि अब तक विश्व के 141 देशों ने इस संधि के प्रति अपनी सहमति प्रकट की है, लेकिन अफ़सोस की बात है कि अमेरिका जैसे धनी राष्ट्र ने 2001 ई. में कार्बन डाइ ऑक्साइड गैस के उत्सर्जन को कम करने की विधियों को अत्यधिक व्ययपूर्ण बताते अपने क़दम पीछे हटा लिए। उल्लेखनीय है कि सोवियत संघ इस संधि में 2004 ई. में शामिल हुआ, जबकि भारत अभी आस्ट्रेलिया व चीन जैसे देशों के साथ इस संधि से

बाहर ही है।

इसी क्रम में 2002 ई. में दक्षिण अफ्रीका के नगर जोहांसबर्ग में एक और पृथ्वी सम्मेलन सम्पन्न हुआ, जिसमें पुरानी चिंताएँ दोहराई गईं। कनाडा के माण्ट्रियल शहर में 2005 ई. में 'संयुक्त राष्ट्र जलवायु समझौता सम्मेलन' सम्पन्न हुआ। बाद में जलवायु–परिवर्तन के मसले पर 2009 ई. में डेनमार्क की राजधानी कोपनहेगन में भी एक सम्मेलन आयोजित हुआ।

अगला महत्वपूर्ण प्रयास नवम्बर–दिसम्बर, 2015 में हुआ। पेरिस में हुए जलवायु परिवर्तन सम्मेलन में 134 देशों ने भाग लिया था। जलवायु परिवर्तन के खतरनाक प्रभावों को कम करने के लिए लम्बे विचार विमर्श के पश्चात् वैश्विक तापमान रोकने के लिए एक सर्वमान्य समझौता हुआ। इस समझौते की शर्तों को 2020 ई. तक लागू करना निश्चित हुआ।

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि विश्व के देश पर्यावरण–संरक्षण के विषय में एक न्यूनतम साझा कार्यक्रम पर सहमत होने और उसे लागू करने हेतु निरन्तर प्रयासरत हैं। आशा की जानी चाहिए कि इन प्रयासों को पूर्णता प्राप्त होगी।

आतंकवाद

इसमें कोई सन्देह नहीं कि विश्व आज परमाणु–आयुधों के निशाने पर है। आज की दुनिया में कोई बड़ा देश भी किसी छोटे देश से युद्ध नहीं करना चाहता। वह जानता है कि अगर नासमझी में उस देश के प्रशासकों ने परमाणु–आयुधों का इस्तेमाल कर लिया, तो विनाश निश्चित है। विश्व के देश, जो वर्तमान में संयुक्त राष्ट्र संघ तथा उस जैसी ही अन्य कई महत्त्वपूर्ण संस्थाओं के सदस्य हैं, कमोबेश इस दबाव में रहते हैं कि परमाणु–आयुधों के पहले प्रयोग किए जाने का आक्षेप उन पर न आ जाए। उनसे अपेक्षा की जाती है कि वे परमाणु–आयुधों का प्रयोग करना तो दूर, इस तरह के बयान भी न दें कि वे प्रतिपक्षी को धराशायी करने के लिए परमाणु–आयुधों का इस्तेमाल कर सकते हैं। देशों पर इस तरह का दबाव किसी न किसी रूप में शक्ति का संतुलन बनाए रखता है।

विश्व के देशों पर जो लोग शासन कर रहे है, वे आम तौर पर किसी न किसी जनतांत्रिक व्यवस्था से गुज़रकर ही आए हैं। कोई भी अनुत्तरदायित्त्वपूर्ण कार्य करने से पूर्व उन्हें अनेक बार सोचना व समझना होता है। आम तौर पर विश्व की जनता यह विश्वास करती है कि उत्तरदायी पदों पर बैठे व्यक्ति परमाणु–आयुधों का इस्तेमाल नहीं करेंगे।

चिन्ता तो इस बात की है कि यदि ये परमाणु–आयुध ऐसे लोगों के हाथों में आ गए, जो किसी तन्त्र से गुज़रकर नहीं आए हैं और आतंक के बल पर विश्व की शान्ति को नष्ट करना चाहते हैं, तो क्या होगा? ऐसे लोग अपने ख़तरनाक इरादों को पूरा करने के लिए संगठन बनाकर काम करते हैं और सामान्यतया आतंकवादी कहलाते हैं। इस दृष्टि से विश्व में इस समय जो सबसे बड़ी समस्या है, वह है आतंकवादियों की समस्या। आतंकवादी गतिविधियों में लिप्त हिंसक व अराजक लोगों को यदि समय रहते वश में नहीं किया गया, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं कि यह खूबसूरत ग्रह पृथ्वी, मानव–जाति से रहित हो जाए।

i- आतंकवाद का अर्थ

'आतंकवाद' एक समानुपाती अर्थ रखने वाला शब्द है, जिसकी आतंकवाद के समर्थक व विरोधी अपने–अपने तरीक़े से विवेचना करते हैं। राजनैतिक शब्दावली में 'आतंकवाद' हिंसा पर आधारित वह परिघटना है, जिसके अन्तर्गत कुछ लोग किसी भी राष्ट्र की वैध सत्ता के विरुद्ध उसे अस्थिर करने अथवा उस पर कब्ज़ा करने की कोशिश करते हैं।

किसी वैध राजसत्ता के समर्थकों के लिए कोई भी आतंकवादी 'देशद्रोही' और 'खलनायक' होता है, जबकि उसके विरोधियों के लिए वह 'देशप्रेमी' और 'जननायक' हो जाता है। उदाहरणार्थ रूसी क्रांति का नेता लेनिन जहाँ ज़ार के लिए 'खलनायक' था, वहीं क्रांति के समर्थकों के लिए 'जननायक'

था। विडम्बना ही कही जानी चाहिए कि सोवियत संघ के पतन के समय लेनिन की छवि 'जननायक' जैसी नहीं रही, बल्कि परिवर्तन चाहने वाले लोगों के लिए तो वह फिर से 'खलनायक' ही हो गया। इस प्रकार आतंकवाद एक समानुपाती अर्थ रखने वाला शब्द है।

चीनी क्रांति का नायक माओ, जो कभी च्यांग काई शेक की दृष्टि में आतंकवादी था – वही बाद में चीन का 'जनदेवता' हो गया। ब्रिटिश सत्ता ने – जो भारत में वैध रूप में स्थापित नहीं थी –भगतसिंह, राजगुरु, सुखदेव, रामप्रसाद बिस्मिल, चन्द्रशेखर आज़ाद, सुभाषचन्द्र बोस जैसे हमारे अनेक राष्ट्रनायकों को आतंकवादी ही माना, क्योंकि वे उसे उखाड़ फेंकने के लिए प्रतिबद्ध थे। वस्तुतः कोई राजसत्ता नहीं, बल्कि इतिहास ही तय करता है कि कौन देशप्रेमी था और कौन देशद्रोही था।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में आतंकवाद की किसी एक परिभाषा पर सभी देश सहमत हो जाएँ, यह संभव नहीं लगता। कश्मीर में संहार करने वाले आतंकवादियों को पाकिस्तान कभी भी आतंकवादी नहीं कहेगा, क्योंकि वह उनका पोषण करता है। इस प्रकार के विरोधाभास में अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर आतंकवाद की सर्वमान्य परिभाषा पर सहमति स्थापित होना नामुमकिन ही है। फिर भी संयुक्त राष्ट्र संघ जैसी संस्थाओं ने इस तरह के कुछ प्रयास किए हैं, जिनके प्रकाश में आतंकवाद की परिभाषा व प्रकृति के सम्बन्ध में सहमति का एक धरातल तैयार किया जा सके।

इस बात से कि दहशत से किसी को फ़ायदा नहीं होता – न तो वह देश इन्कार कर सकता है, जो आतंकवाद का शिकार हुआ है और न ही वह देश इंकार करता है जो आतंकवाद का पोषक बना हुआ है। बेल्जियम के अध्येता फेरिक डेविड ने 'आतंकवाद' को इस तरह परिभाषित करने का प्रयास किया है, 'राजनैतिक, सामाजिक, दार्शनिक, वैचारिक अथवा मज़हबी उद्देश्यों के लिए किया गया कोई भी सशस्त्र हिंसक कृत्य 'आतंकवाद' है, जो मानवीय विधान के आदेशों का उल्लंघन करता हो। मानवीय विधान में किसी के भी विरुद्ध क्रूर व बर्बर तरीक़े अपनाने, असैनिक ठिकानों तथा निर्दोष व्यक्तियों पर आक्रमण करने आदि का निषेध किया गया है'।

बर्गर महोदय कहते हैं कि किसी आतंकवादी को उसके तात्कालिक लक्ष्य के सन्दर्भ में ठीक तरह से परिभाषित किया जा सकता है। तात्कालिक लक्ष्य से तात्पर्य है, 'भय उत्पन्न करके बल का प्रयोग करना और अपना लक्ष्य हासिल कर लेना।'

ii- आतंकवाद का आधुनिक व संस्थागत स्वरूप

आधुनिक विश्व में जो आतंकवाद दिखाई दे रहा है, जेहादी आतंकवाद है तथा उसका सबसे घृणास्पद पक्ष यह है कि वह पहले की तरह अब कुछ विशिष्ट लोगों और ठिकानों को ही निशाना नहीं बनाता, बल्कि अब तो उसके निशाने पर मासूम बच्चे व माताएँ–बहिनें भी होती हैं। यह मानवता के लिए कितनी लज्जाजनक स्थिति है कि ईश्वर ने जिन्हें मानव बनाया है, वे दानव बनकर हिंसा का नग्न नृत्य कर रहे हैं।

कुछ विशेष घटनाओं के उल्लेख से आधुनिक आतंकवाद की प्रकृति को समझा जा सकता है – जैसे 1969 ई. में यहूदियों के एक समूह द्वारा संयुक्त राष्ट्र संघ में सीरिया के प्रतिनिधिमण्डल के कार्यालय पर हमला किया जाना, 1971 ई. में संयुक्त राष्ट्र संघ के ईराकी मिशन के कार्यालय पर पेट्रोल बम फेंका जाना, 1999 ई. में काठमाँडू से भारतीय विमान का अपहरण किया जाना, 2001 ई. अमेरिका के वर्ल्ड ट्रेड सेंटर पर हमला किया जाना, 2001 ई. में ही में ही भारतीय संसद पर हमला किया जाना आदि।

आतंकवादियों ने दिसम्बर 1999 में काठमाँडू के त्रिभुवन हवाई अड्डे से 176 यात्रियों से भरे एक भारतीय विमान का अपहरण कर लिया और उसे – अमृतसर, लाहौर, दुबई होते हुए – अफ़ग़ानिस्तान के कंधार हवाई अड्डे पर ले गए और अपनी शर्तें पूरी न होने की स्थिति में सभी यात्रियों व कर्मचारियों की हत्या करने की धमकियाँ देने लगे। सात दिनों तक चले इस

राष्ट्रव्यापी संकट का अंत तब हुआ, जब अटलबिहारी वाजपेयी के नेतृत्त्व में काम कर रहे भारतीय शासन को अपनी क़ैद से तीन ख़तरनाक आतंकवादियों – मसूद अज़हर, उमर सईद शेख़ और मुशताक़ अहमद ज़रगर – को छोड़ना पड़ा। इससे पहले 1989 ई. में वी. पी. सिंह की सरकार को भी पाँच दुर्दांत आतंकवादियों को छोड़ना पड़ा था, जब तत्कालीन केंद्रीय गृह–मंत्री मुफ़्ती मोहम्मद सईद की पुत्री रुबैया सईद का श्रीनगर से अपहरण कर लिया गया था। इस तरह की घटनाएँ देश में आतंकवाद की गहरी जड़ों की पुष्टि करती हैं, जिसके कारण स्थिरता व शांति को गहरा आघात पहुँचता है।

उल्लेखनीय है कि 1999 ई. में हुए विमान–अपहरण के परिणामस्वरूप छोड़ा गया ख़तरनाक आतंकवादी मसूद अज़हर कुछ माह पश्चात 13 दिसम्बर 2001 को नई दिल्ली में हमारी संसद पर हुए कायरतापूर्ण हमले का मास्टर– माइण्ड बना तथा आतंकवादी हमले के आरोपी अफजल गुरु को बाद में 2013 ई. में तिहाड़ जेल में फाँसी पर चढ़ाया गया।

भारत की संसद, जिस पर 13 दिसम्बर 2001 को आतंकवादी–आक्रमण हुआ।

इसी क्रम में 26 नवम्बर से 28 नवम्बर 2008 तक मुम्बई में हुए श्रृंखलाबद्ध बम–विस्फोटों में आतंकवादियों ने 137 निर्दोष भारतीयों व अन्य को मार डाला। आतंकवादियों के विरुद्ध की कार्रवाई में जीवित पकड़े गए एक पाकिस्तानी आतंकवादी मुहम्मद अजमल आमिर क़साब को 2012 ई. में पुणे की यरवदा जेल में फ़ाँसी पर चढ़ा दिया गया।

11 सितम्बर 2001 ई. को अमेरिका के चार विमानों का अपहरण करके आतंकवादियों ने वहाँ के अनेक स्थानों पर हमले किए। उन्होंने न्यूयार्क के वर्ल्ड ट्रेड सेंटर को ध्वस्त कर दिया। अपहरणकर्त्ताओं ने अमेरिका के प्रतिरक्षा–विभाग के मुख्यालय पेण्टागन पर भी हमला किया। ये हमले अमेरिका की अंतर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा को गहरा आघात पहुँचाने वाले थे। इसका बदला लेने के लिए 02 मई 2011 को अमेरिका ने पाकिस्तान में गुप्त कार्यवाही करके वहाँ छुपे हुए आतंकवादी और उस पर किए गए हमलों के मास्टरमाइण्ड ओसामा बिन लादेन को मार डाला।

11 सितम्बर 2001 को अमेरिका के वर्ल्ड ट्रेड सेंटर पर पर आतंकी हमला हुआ।

कुख्यात आतंकवादी–संगठन 'इस्लामिक स्टेट' (आईएस) – जो आईएसआईएस (इस्लामिक स्टेट ऑफ़ इराक़ एण्ड सीरिया) अथवा आईएसआईएल (इस्लामिक स्टेट ऑफ़ इराक़ एण्ड लेवांत) के नाम से भी जाना जाता है – का निर्माण 2013 ई. में हुआ है। इस संगठन के काम करने का तरीक़ा अलक़ायदा से भी अधिक क्रूर है। आईएस अपने समय का दुनिया का सबसे धनी आतंकवादी संगठन है और इस संगठन का उद्देश्य विश्व के सभी मुस्लिम–जनसंख्या वाले देशों को अपने प्रत्यक्ष नियंत्रण में लेना है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए पहले यह लेवांत क्षेत्र – जार्डन, इज़राइल, फिलिस्तीन, लेबनान, कुवैत, साइप्रस तथा दक्षिणी तुर्की का कुछ हिस्सा – को अपने अधिकार में लेना चाहता है और इसके बाद अपना अधिक विस्तार करना चाहता है। इस नीति के तहत मज़हबी

दबाव बनाने के लिए आईएस ने 2014 ई. से ही अपने मुखिया अबूबक्र अल बग़दादी को सभी मुसलमानों का ख़लीफ़ा घोषित कर रखा है। इस संगठन के आतंकवादी इतने शातिर हैं कि पहले तो वे किसी देश में अशांति पैदा करते हैं या पहले से पैदा अशांति को बढ़ावा देते हैं और बाद में उस देश से पड़ोसी देशों में पलायन कर रहे शरणार्थियों के साथ स्वयं भी उन देशों की सीमा में प्रवेश कर जाते हैं। उनकी इस प्रवृत्ति को सीरिया के उदाहरण से अच्छी तरह समझा जा सकता है।

सीरिया में राष्ट्रपति बशर अल असद के विरुद्ध मार्च 2011 में आंदोलन प्रारम्भ हुआ। इस आंदोलन के तार सारे उत्तर–पूर्व में चल रही अरब–क्रांति से जोड़े जाते हैं। सीरियाई सेना ने जब प्रदर्शनकारियों को रोका, तो आंदोलन ने हिंसक रूप ले लिया। दो ही वर्षों में स्थिति यह बन गई कि सीरिया की लगभग आधी ज़मीन व आधी आबादी अल बशर के नियंत्रण से निकल गई। ऐसे वातावरण में आईएस को अपना एजेण्डा पूरा करने का अवसर आसानी से मिल गया। उसकी फैलाई दहशत के मारे लोग अपने प्राण संकट में पाने लगे। लाखों सीरियावासी शरणार्थियों के रूप में दूसरे देशों में प्रवेश करने हेतु इधर–उधर भागने लगे। यहाँ तक कि उन्हें अपने बच्चों तक को ख़तरे में डालना पड़ा।

तुर्की के समुद्र तट पर मृत पाया गए तीन वर्ष का बच्चा आलन कुर्दी

सीरिया संकट के परिप्रेक्ष्य में तुर्की के समुद्र तट पर मृत पाए गए तीन वर्ष के एक बच्चे आलन कुर्दी के शव ने पूरी दुनिया को झकझोर दिया। आलन का पिता अब्दुला अपने परिवार को यूनान ले जाना चाहता था – लेकिन सीमा पार करने के उपक्रम में वह नाव समुद्र में डूब गई, जिसमें उसका परिवार यात्रा कर रहा था। इस दुर्घटना में उसका पुत्र आलन कुर्दी पानी में डूब गया, जो बाद में मृत अवस्था में समुद्र–तट पर मिला। सोशल मीडिया पर वाइरल हुए आलन कुर्दी के चित्र ने शरणार्थी और उससे जुड़ी आतंकवाद की समस्या को अंतर्राष्ट्रीय पटल पर अत्यंत मार्मिक रूप से प्रकट किया।

आईएस के ख़तरनाक रवैये का एक उदाहरण यह भी है कि इस संगठन के आतंकवादी इराक़ के यज़ीदी समुदाय के पीछे भी पड़े हैं। यज़ीदी समुदाय के अनुयायी अनेक मत–पंथों के मिले–जुले रिवाज़ों का पालन करते हैं।

'आतंकवाद' का एक और विकृत रूप यह है कि झूठे मज़हबी उन्माद में बहकर दिग्भ्रमित हो चुके युवा आजकल स्वयं को 'मानव–बम' बनाने की सीमा तक चले जाते हैं। आतंकवाद विश्व में एक संस्थागत रूप लेता जा रहा है। आश्चर्य की बात है कि निजी स्वार्थ तथा कूटनीतिक दुष्चक्र से घिरे हुए अनेक देश जो स्वयं अपनी भूमि पर आतंकवाद के शिकार हो रहे हैं, वे दूसरे देशों की भूमि पर आतंकी गतिविधियों को बड़े ही योजनाबद्ध ढंग से प्रोत्साहन देते हैं।

वर्तमान में जब अमेरिका जैसा बड़ा व सक्षम देश भी अपनी भूमि पर आतंकवाद से संघर्ष करने में लगा हुआ है – तब अल्ज़ीरिया, इराक़, सीरिया, अफ़ग़ानिस्तान के साथ–साथ अफ्रीका महाद्वीप के विभिन्न देशों का इस समस्या से घिरना तो सामान्य–सी बात है। रूस के पड़ोस में चेचन्या को केन्द्र बनाकर आतंकवादियों ने इतनी अशान्ति उत्पन्न की है कि रूस को आख़िरकार सैन्य कार्रवाई करनी पड़ी। चीन के उत्तरी–पश्चिमी हिस्से शिनच्याँग में 1988 ई. से ही आतंकवादी सक्रिय हैं। अल्ज़ीरिया में भी हज़ारों लोग आतंकवादियों द्वारा

मारे जा चुके हैं। सूडान 1950 ई. के दशक से ही आतंकवाद के रोग से ग्रसित है। सबसे ख़तरनाक बात यह है कि ये आतंकी संगठन प्रायोजित रूप में चल रहे हैं। दुनिया में अनेक ऐसे देश हैं – जो प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से आतंकवादियों को जन, धन व सुरक्षा उपलब्ध करवाते हैं तथा अपने प्रतिद्वंद्वी राष्ट्रों के विरुद्ध आतंकवादी संगठनों का यंत्र के रूप में इस्तेमाल करते हैं।

i-अन्तर्राष्ट्रीय प्रयास

विश्व की सर्वोच्य संस्था, जहाँ आतंकवाद से पीड़ित राष्ट्र उससे मुक्ति पाने हेतु सहयोग के लिए आवेदन कर सकते हैं, वह संयुक्त राष्ट्र संघ है। विश्व–कल्याण के अनेक मुद्दों की ही तरह आतंकवाद पर भी अब तक संयुक्त राष्ट्र संघ ने उदासीनता का परिचय नहीं दिया है। आतंकवाद के विरुद्ध विश्व की इस सर्वोच्य संस्था ने निश्चित रूप से अन्तर्राष्ट्रीय कानून को ठीक प्रकार से समृद्ध किया है, लेकिन अन्तर्राष्ट्रीय कानून में अनेक ख़ामियाँ भी हैं – जिन्हें दूर करना इसके वश में नहीं है। सबसे बड़ी ख़ामी तो यही है कि इस कानून को देशों पर बाध्यकारी रूप से लागू नहीं किया जा सकता, फिर भी संयुक्त राष्ट्र संघ ने इतनी सफलता तो अर्जित की ही है कि वह इन देशों पर इस प्रकार का नैतिक बंधन आरोपित कर सका कि वे किसी भी रूप में आतंकवाद को बढ़ावा न दें, क्योंकि इससे विश्व–शांति के लिए ख़तरा उत्पन्न होता है। संयुक्त राष्ट्र संघ की पहल के चलते दुनिया में आतंकवाद पर विशेष नियंत्रण तो स्थापित नहीं हुआ – किंतु आतंकवाद को रोका कैसे जाए, इस प्रश्न पर गहन विमर्श अवश्य प्रारम्भ हो गया। विश्व को आतंकवाद की समस्या से छुटकारा दिलाने के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ ने समय–समय पर अपनी विभिन्न एजेंसियों के माध्यम से अन्तरराष्ट्रीय कानून के दस्तावेज़ों और समझौतों की शर्तो को तैयार करवाया है। इस प्रकार के कुछ दस्तावेज़ और समझौते ये हैं –

- 1963 ई. में टोक्यो में एक कन्वेंशन (करार, समझौता, अभिसमय) प्रस्तुत किया गया, जिसमें विमानों से सम्बंधित अपराधों पर रोकथाम के उपाय सुझाए गए थे।
- 1970 ई. में हेग में एक करार प्रस्तुत हुआ, जिसमें विमानों पर गैरविधिक कब्ज़े को रोकने हेतु कुछ महत्त्वपूर्ण प्रावधान सम्मिलित थे।
- 1973 ई. में अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर सुरक्षा प्राप्त लोगों के प्रति अपराधों के रोकने व अपराधियों को दण्डित करने से सम्बंधित एक समझौता न्यूयार्क में प्रस्तुत किया गया।
- आणविक सामग्री की सुरक्षा पर 1988 ई. में रोम में समुद्री नौकायन की सुरक्षा के सम्बन्ध में एक समझौता प्रस्तुत किया गया।

एजेंसियों के अतिरिक्त संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा में भी कुछ महत्त्वपूर्ण कंवेंशन पेश किए, जो इस प्रकार हैं –

- 1979 ई. में लोगों को बंधक बनाने के विरुद्ध एक समझौता प्रस्तुत किया गया, जिसमें प्रावधान था कि पक्षकार राज्य संबंधित राज्य को अपराधियों का प्रत्यर्पण करेगा। यदि पक्षकार राज्य संबंधित राज्य को अपराधियों का प्रत्यर्पण नहीं करेगा, तो अपने यहाँ उन पर अभियोजन चलाएगा।
- संयुक्त राष्ट्र संघ के कर्मचारियों पर हमलों के विरुद्ध एक समझौता संघ की महासभा में 1994 ई. में रखा गया।
- आतंकवाद के पक्ष में वित्त–पोषण करने वाले अपराधियों को पक्षकार राज्य संबंधित राज्यों को प्रत्यर्पित करेंगे, इस आशय का एक समझौता 1999 ई. में संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा में रखा गया।

इसके अतिरिक्त संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा ने 1994 ई. में अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर पनप रहे आतंकवाद की समाप्ति के उपायों पर एक घोषणा भी जारी की थी। इस घोषणा को लागू करने के लिए प्रयास किए जाएँ, इस हेतु 1996 ई. में एक और घोषणा की गई। इसी सन्दर्भ में उल्लेखनीय है 1993 ई. में हुए महासभा के अड़तालीसवें अधिवेशन में इस आशय का प्रस्ताव भी सर्वसम्मति से पारित हुआ कि आतंकवाद मानवाधिकारों की सिद्धि के मार्ग में एक बाधा है।

सितम्बर 2001 में अमेरिका पर हुए आतंकवादी हमलों के सम्बन्ध में संयुक्त राष्ट्र संघ की सुरक्षा परिषद ने एक निंदा–संकल्प पारित किया। बाद में आतंकवाद का मुक़ाबला करने हेतु सुझाए गए व्यापक उपायों पर भी एक संकल्प पारित किया गया। आतंकवाद का मुक़ाबला करने के लिए भारत द्वारा

प्रस्तुत एक अभिसमय (कन्वेंशन) संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा में 1996 ई. से ही प्रस्तावित है।

स्पष्ट है कि विश्व में आतंकवाद का प्रसार आधुनिक विश्व के समक्ष एक बड़ी चुनौती है, जिसका प्रतिकार विश्व–समुदाय को अत्यन्त धैर्य, दृढ़ता व एकजुटता से करना होगा।

1. वर्तमान भारत की वैश्विक दृष्टि : लुक ईस्ट, ब्रिक्स और दक्षेस (सार्क)

किसी भी राष्ट्र की दुनिया में प्रतिष्ठा उसके अन्य राष्ट्रों के साथ सम्बन्धों पर निर्भर करती है। यदि किसी राष्ट्र ने अन्य राष्ट्रों के साथ अपने सम्बन्धों में अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों और जन–भावनाओं का ध्यान नहीं रखा है, तो यह मान लेना चाहिए कि वह न केवल अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर पिछड़ा हुआ राष्ट्र है, अपितु अन्तःराष्ट्रीय स्तर पर भी उसकी गतिविधियाँ लोक–कल्याणकारी नहीं हैं।

कोई भी राष्ट्र विश्व को किस दृष्टि से देखता है, यह उसके राजनैतिक नेतृत्व पर सर्वाधिक निर्भर करता है। हमारा भारत दुनिया का एक ऐसा राष्ट्र है, जिसने अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर सदैव प्रेम व भाईचारे के स्वर गुंजायमान किए हैं। यद्यपि इस देश का नेतृत्व करने वाले राजनैतिक दल व उनके नेता समय–समय पर बदलते रहे हैं, फिर भी अन्तर्राष्ट्रीय पटल पर भारत का स्वर सदैव मानवतावादी रहा है।

वर्तमान में भारत के समक्ष दो महत्त्वपूर्ण चुनौतियाँ प्रत्यक्ष हो रही हैं, जिनमें से एक बाज़ारवाद है और दूसरी है आतंकवाद। दोनों ही चुनौतियाँ परस्पर बहुत अधिक सम्बद्ध हैं। प्रारम्भ से ही भारत जिस वैश्विक दृष्टिकोण को लेकर चल रहा है, उसमें अपने पड़ोसियों की चिंता करना प्रमुख रूप से शामिल है। भारत अपने पड़ोसियों की चिन्ता करने के साथ–साथ सारे विश्व की ओर अपनी नज़र रखता है, जिसके कारण उसके दृष्टिकोण में और भी अधिक उदारता व व्यापकता आ जाती है। दूसरी ओर, हमारे पड़ौसी राष्ट्र राजनैतिक अस्थिरता और आर्थिक विपन्नता के शिकार होने के कारण संकीर्णता के दायरे से कभी बाहर नहीं निकल पाते।

प्रथम प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू ने भारत को गुट–निरपेक्षता का जो मार्ग दिखाया, उस पर चलना उनके बाद आने वाले प्रधानमंत्रियों ने भी अपना कर्त्तव्य समझा। यद्यपि नेहरू को 1962 ई. में चीन का विश्वासघात झेलना पड़ा, लेकिन इस घटना के बाद भी उनके उत्तराधिकारियों ने कभी किसी एक गुट के समक्ष समर्पण नहीं किया, यद्यपि भारत के रूस के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध शीत–युद्ध की समाप्ति तक बने रहे।

लालबहादुर शास्त्री, इंदिरा गाँधी और अटलबिहारी वाजपेयी के दौर में भारत को पाकिस्तान से प्रत्यक्ष संघर्ष करना पड़ा, लेकिन दुनिया जानती है कि भारत ने पाकिस्तान पर पहले आक्रमण कभी नहीं किया। इस संदर्भ में हम विश्व को यह समझाने में सफल हुए हैं कि 1965 ई. में हम आत्मरक्षा के मार्ग पर थे, 1971 ई. में पीड़ित बांग्लादेशियों की मुक्ति हमारा लक्ष्य था और 1999 ई. में घर में ही चढ़ आए शत्रु को बाहर निकालकर आतंकवाद के मुँह पर तमाचा मारना हमारे लिए अत्यावश्यक था।

1977 ई. में आई जनता सरकार की विदेश–नीति में पड़ोसियों के प्रति अत्यन्त खुलापन नज़र आया। विदेश–मंत्री अटलबिहारी वाजपेयी की चीन–यात्रा ने दोनों देशों के सम्बन्ध मधुर होने की उम्मीद जगाई, किन्तु चीन द्वारा वियतनाम पर आक्रमण कर दिए जाने के कारण वाजपेयी ने यात्रा बीच में ही भंग कर दी। यह वह निर्णायक मोड़ था, जहाँ चीन को यह समझ में आ गया कि नया भारत 1962 ई. का, दबाव में आ जाने वाला, भारत नहीं रहा है।

संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा के 32 वें अधिवेशन में वाजपेयी ने हिन्दी में भाषण देकर सारी दुनिया को भारतीय स्वाभिमान का संदेश दे दिया। बाद में श्रीमती इंदिरा गाँधी व राजीव गाँधी के काल में भी भारत की विदेश–नीति अपनी स्थापित परम्परा के अनुसार चलती रही। दक्षिण एशियाई क्षेत्रीय सहयोग संघ (सार्क) के गठन में राजीव गाँधी ने भारत की एक महत्त्वपूर्ण भूमिका सुनिश्चित की थी। शीत–युद्ध के पश्चात् के विश्व में भी भारत ने एक सन्तुलनकारी, किन्तु अपने हितों के प्रति जागरूक रहने वाले राष्ट्र की छवि बनाए रखी। आई. के. गुजराल, जो एच. डी. देवगौड़ा के बाद प्रधानमंत्री बने थे, के काल में 1997 ई. की भारत–अमेरिका प्रत्यर्पण संधि हुई, जिसका ऐतिहासिक महत्त्व है। विदेश–मंत्री रहते हुए उनके द्वारा दिए गए 'गुजराल सिद्धांत' का उल्लेख कई बार अकादमिक संगोष्ठियों में होता है। सोवियत संघ के अवसान के बाद के उथल–पुथल भरे दौर में उन्होंने एक पंचसूत्रीय सिद्धांत 'गुजराल सिद्धांत' दिया था। इस सिद्धांत के अनुसार बांग्लादेश, मालदीव, नेपाल, श्रीलंका और भूटान जैसे छोटे देशों से भारत बराबरी की अपेक्षा नहीं करेगा। गुजराल के अनुसार दक्षिण एशिया के देश अपनी भूमि से किसी दूसरे देश के ख़िलाफ़ गतिविधियाँ नहीं चलाएँगे, एक–दूसरे की संप्रभुता और अखंडता का सम्मान करेंगे, किसी के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेंगे और अपने विवादों को शांतिपूर्ण ढंग से निपटाएँगे।

1998 से 2004 ई. तक चले अटलबिहारी वाजपेयी के शासनकाल के प्रारम्भ में भारत ने दो परमाणु–विस्फोट किए और वह परमाणु–शक्ति–सम्पन्न देशों के क्लब में शामिल हो गया। वाजपेयी ने परमाणु–परीक्षण के माध्यम से 1974 ई. के पश्चात् विश्व को एक बार फिर यह संदेश दे दिया कि भारत हर स्थिति में अपनी रक्षा करने में सक्षम है। साथ ही वाजपेयी ने 1998 ई. में न्यूयार्क में आयोजित संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा के 53वें सत्र में निरस्त्रीकरण के प्रति एक नीति भी प्रस्तुत की, जिसमें अपेक्षा की गई थी कि पहले बड़े राष्ट्र – जिनके पास परमाणु–आयुधों के बड़े भण्डार हैं, निरस्त्रीकरण प्रारम्भ करें।

वाजपेयी के काल में ही प्रथम स्वतंत्रता संग्राम के 150 वर्ष पूरे होने का समारोह भारत, पाकिस्तान व बांग्लादेश द्वारा संयुक्त रूप से मनाने का निर्णय लिया। सितम्बर 2000 ई. में वाजपेयी की अमेरिका–यात्रा इस बात के लिए याद की जाएगी कि उन्होंने अमेरिका को सीटीबीटी (कॉम्प्रिहेंसिव न्यूक्लियर–टेस्ट बैन ट्रीटी) पर भारत के हस्ताक्षर करने का कोई आश्वासन नहीं दिया। सीटीबीटी अर्थात् व्यापक परमाणु परीक्षण प्रतिबंध संधि एक ऐसी संधि है, जो कूटनैतिक दृष्टि से भारत के हित में नहीं है। स्पष्ट है कि प्रधानमंत्री अटलबिहारी वाजपेयी के काल में भारत की वैश्विक दृष्टि में अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर किसी प्रकार के दबाव को झेलने का कोई स्थान नहीं था।

जहाँ तक पाकिस्तान के साथ सम्बन्धों का प्रश्न है, वाजपेयी ने फ़रवरी 1999 में बस से जो लाहौर–यात्रा की थी, वह उन्हें वैदेशिक मामलों में 'अद्‌भुत पहल करने वाले राजनेता' के रूप में प्रतिष्ठित कर गई। भारत का नेतृत्त्व तो अद्‌भुत पहल करने वाला था, लेकिन पाकिस्तान का नेतृत्व इस मामले में बहुत कमज़ोर था। एक ओर प्रधानमंत्री नवाज़ शरीफ़ ने अटलजी के साथ सहृदयता दिखाई, तो दूसरी ओर पाकिस्तान की सेना ने भारत पर युद्ध थोप दिया, जिसे इतिहास में करगिल–युद्ध कहा जाता है। इस युद्ध में पाकिस्तान को न केवल अपमानजनक पराजय का सामना करना पड़ा, अपितु विश्व–पटल पर वह अकेला भी पड़ गया। इस युद्ध में अमेरिका की तरफ़ से उसे गहरी निराशा का सामना करना पड़ा और चीन ने भी उसे भारत से लड़ने के लिए अकेला छोड़ दिया।

पूर्ववर्ती प्रधानमंत्रियों की ठोस व सक्रिय कार्यशैली के परिणामस्वरूप वाजपेयी के बाद कमान सँभालने वाले मनमोहन सिंह को भी एक सुगम मार्ग मिल गया, जिस पर चलकर उन्होंने अपना कार्यकाल पूरा किया।

मई 2014 में, जब नरेन्द्र मोदी को प्रधानमंत्री बनने का अवसर मिला – विश्व ने भारत की ओर नई उत्सुकता से देखना शुरू किया। विश्व जानना चाहता था कि अब भारत की विदेश–नीति की प्राथमिकताओं में कौन–कौन से नए परिवर्तन अपेक्षित होंगे। विदेश यात्राओं के क्रम में प्रत्येक देश ने अपनी भूमि पर मोदी का उत्साहपूर्वक स्वागत किया।

मोदी ने अपनी विदेश–यात्राओं में बार–बार स्पष्ट किया है कि विश्व के देशों में किसी भी मुद्दे को लेकर मतभेद सामने आ सकते हैं, लेकिन विकास के मुद्दे पर उनमें सदैव सहमति ही दिखाई देगी। इसलिए दुनिया के देशों को विकास के मुद्दे पर एक हो जाना चाहिए। यह विश्व–राजनीति में एक नया प्रयोग है, जिसे 'मोदी–प्रयोग' कहा जा सकता है। 'मोदी–प्रयोग' के साथ ही अब वह समय भी आ गया है कि उन सभी अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों में, जिनसे भारत की सम्बद्धता है, हम अपनी भूमिका को पुनर्रेखांकित करें। इस सम्बंध में प्रतिदर्श के रूप में लुक ईस्ट पॉलिसी, ब्रिक्स समूह व सार्क के सम्बन्ध में भारत की वैश्विक दृष्टि का मूल्यांकन किया जाना समीचीन होगा।

अ. लुक ईस्ट पॉलिसी

दक्षिण–पूर्वी एशिया की ओर भारत का ध्यान जाना कोई नई बात नहीं है। शताब्दियों से हमारा संपर्क दक्षिणी–पूर्वी एशिया के देशों से है, लेकिन सोवियत संघ के विखण्डन के पश्चात् दक्षिणी–पूर्वी एशियाई देशों के प्रति भारत विशेष रूप से सचेत हुआ है। भारत ने इन देशों के साथ व्यापारिक व सामरिक संबंधों को प्रगाढ़ करने की दिशा में अतिरिक्त श्रम किया है। प्रधानमंत्री पी. वी. नरसिंहराव के काल से प्रारंभ हुआ दक्षिणी–पूर्वी एशियाई देशों के साथ भारत का विशेष सम्पर्क–अभियान बाद में अटलबिहारी वाजपेयी और मनमोहन सिंह के काल में भी ठोस रूप से चलता रहा।

1979 ई. में चीन के एक शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में उभरने के कारण उसे अनेक देशों में अधिनायकवादी अलोकतांत्रिक शासन को समर्थन देने में अत्यधिक आसानी हो गई। उसके द्वारा बर्मा, जिसका आधिकारिक नाम 1989 ई. में 'म्याँमार' हो गया, में वहाँ के ग़ैरकानूनी सैनिक गुटों का साथ देना इसका स्पष्ट उदाहरण है। इसीलिए भारत ने शीत–युद्ध की समाप्ति के बाद अपनी रणनीति में एक आधारभूत परिवर्तन यह किया कि लोकतांत्रिक शक्तियों का समर्थन करते हुए भी किसी देश पर यदि अलोकतांत्रिक सत्ता क़ाबिज़ है, तो उससे संवाद स्थापित किया जाए। माना गया कि इससे वहाँ लोकतांत्रिक व्यवस्था स्थापित करने की दिशा में कुछ तो आगे बढ़ा ही जा सकेगा। म्याँमार इसका उदाहरण है। म्याँमार के उपराष्ट्राध्यक्ष जनरल आई ने नवम्बर 2000 की अपनी भारत–यात्रा में हमें आश्वस्त किया कि म्याँमार भारत के विरुद्ध काम कर रहे हिंसक आंदोलनकारियों को किसी भी प्रकार का प्रोत्साहन नहीं देगा।

आसियान के अनौपचारिक शिखर–सम्मेलन			
क्रम	वर्ष	देश	देश (नगर)
1	1976	इण्डोनेशिया	बाली
2	1977	मलेशिया	कुआलालंपुर
3	1987	फिलीपींस	मनीला
4	1992	सिंगापुर	सिंगापुर
5	1995	थाईलैण्ड	बैंकाक
6	1998	वियतनाम	हनोई
7	2001	ब्रुनेई	बान्दर सेरी बेगावान
8	2002	कम्बोडिया	फनोम पेन्ह
9	2003	इण्डोनेशिया	बाली
10	2004	लसोस	विन्टीयान
11	2005	मलेशिया	कुआलालम्पुर
12	2007 (जनवरी)	फिलिपींस	सेबू
13	2007 (नवम्बर)	सिंगापुर	सिंगापुर
14	2009 (मार्च/अप्रैल)	थाईलैण्ड	चा अम हुआडिन/पाटिया
15	2009 (अक्टूबर)	थाईलैण्ड	चा अम हुआडिन
16	2010 (अप्रैल)	वियतनाम	हनोई
17	2010	वियतनाम	हनोई
18	2011 (मई)	इण्डोनेशिया	जकार्ता
19	2011 (नवम्बर)	इण्डोनेशिया	बाली
20	2012 (अप्रैल)	कम्बोडिया	फनोम पेन्ह
21	2012 (नवम्बर)	कम्बोडिया	फनोम पेन्ह
22	2013 अप्रैल	ब्रुनेई	बान्दर सेरी बेगावन
23	2013 अक्टूबर	ब्रुनेई	बान्दर सेरी बेगावन
24	2014 मई	म्यामार	मेक्षीता
25	2014 नवम्बर	म्यामार	मेक्षीता
26	2014 अप्रैल	मलेशिया	कुआलालम्पुर/लकावी

अनेक वर्षों से चीन की यह कोशिश रही है कि वह समुद्र में भारत को घेर ले। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वह 'स्ट्रिंग ऑफ़ पर्ल' अर्थात् 'मोतियों की माला' नीति पर चलता है। 'स्ट्रिंग ऑफ पर्ल्स' का जिक्र अमेरिका के प्रतिरक्षा–विभाग 'पेण्टागन' ने 'एशिया में ऊर्जा का भविष्य' नाम की एक रिपोर्ट में किया था। इस रिपोर्ट में चीन द्वारा समुद्र में तैयार किए जा रही 'मोतियों' का उल्लेख किया गया था। रिपोर्ट में 'मोतियों' से आशय दक्षिणी चीन सागर से लेकर मलक्का–स्ट्रैट, बंगाल की खाड़ी और अरब की खाड़ी तक सामरिक ठिकाने जैसे बंदरगाह, हवाई पट्टियाँ, निगरानी–अड्डे आदि – स्थापित करने से था। भारत ने चीन की इस नीति का निरंतर प्रतिकार किया है। जून 2015 में बांग्लादेश के साथ हुए सीमा–समझौते में चीन की माला के दो मोती – चिट्टागोंग और मोंगला बंदरगाह भारत ने तोड़ लिए हैं। इस प्रकार भारत ने श्रीलंका से बांग्लादेश तक सागर में स्वयं को काफी हद तक सुरक्षित कर लिया है।

सिंगापुर दक्षिणी–पूर्वी एशिया में भारतीय सहयोग की वृद्धि का एक प्रारंभिक केन्द्र है। सिंगापुर के साथ लुक ईस्ट पॉलिसी अर्थात् पूर्व की तरफ़ ध्यान दो के अन्तर्गत भारत ने तीन व्यापारिक समझौते किए।

2001 ई. में प्रधानमंत्री अटलबिहारी वाजपेयी ने वियतनाम और इण्डोनेशिया की यात्रा की, जिसके अच्छे परिणाम प्राप्त हुए। वियतनाम के साथ परमाणु–ऊर्जा के शांतिपूर्ण उपयोग, व्यापार–वाणिज्य और संस्कृति व कला सम्बंधी मुद्दों पर अनेक द्विपक्षीय समझौते हुए। रक्षा–क्षेत्र में सहयोग का एक महत्त्वपूर्ण समझौता इण्डोनेशिया के साथ सम्पन्न हुआ, जिसका सम्बन्ध नौसैनिक सुविधाओं से था। इससे पहले भारत का इण्डोनेशिया के साथ कोई रक्षा–समझौता कभी हुआ ही नहीं था। 2001 ई. में ही प्रधानमंत्री वाजपेयी ने मलेशिया की यात्रा की, जिसमें तय हुआ कि दोनों देशों के मध्य वर्तमान में जो व्यापार ढ़ाई अरब डालर का है, उसे बढ़ाकर तीन वर्षों में पाँच अरब डालर कर दिया जाएगा।

2002 ई. में वाजपेयी की सिंगापुर यात्रा के दौरान वहाँ के राष्ट्राध्यक्ष गोह चोक तोंग के साथ आतंकवाद, व्यापार, जैव–प्रौद्योगिकी जैसे अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों पर भारत की सहमति बनी। सिंगापुर के पश्चात् वाजपेयी कंबोडिया गए, जहाँ भारत के साथ उसके तीन महत्त्वपूर्ण समझौते हुए। वाजपेयी से पूर्व भारत के किसी प्रधानमंत्री ने कम्बोडिया की यात्रा नहीं की थीं।

दक्षिणी–पूर्वी एशियाई देशों के साथ भारत की बढ़ती समझ का सबसे अच्छा प्रतीक मेकांग–गंगा नामक महत्त्वाकांक्षी परियोजना है। मेकांग–गंगा सहयोग नाम से एक समूह गठित हुआ, जिसमें छह राष्ट्र सम्मिलित थे। भारत व लाओस के अतिरिक्त मेकांग–गंगा समूह के अन्य तटवर्ती राष्ट्र म्याँमार, थाईलैण्ड, कम्बोडिया व वियतनाम इसमें सम्मिलित थे। समूह के पटल पर इसके सदस्य राष्ट्रों के मध्य व्यापार, निवेश, प्रौद्योगिकी, पर्यटन, शिक्षा, संस्कृति आदि विषयों पर सहयोग की एक नई परम्परा प्रारंभ हुई।

2003 ई. में प्रधानमंत्री अटलबिहारी वाजपेयी ने फिर आसियान देशों की यात्रा की। वस्तुतः आसियान राष्ट्र वे राष्ट्र हैं, जो दक्षिणी–पूर्वी एशियाई राष्ट्र संघ अर्थात् एसोसिएशन ऑफ़ साउथ–ईस्ट एशियन नेशंस (ASEAN) आसियान नामक समूह के सम्बद्ध हैं। इस संघ के इस समय ये दस राष्ट्र सदस्य हैं – इण्डोनेशिया, मलेशिया, फिलिपींस, सिंगापुर, थाईलैण्ड, ब्रुनेई, वियतमान, लाओस, म्याँमार व कम्बोडिया। शिखर–स्तर के भागीदार राष्ट्रों के रूप में दक्षिणी कोरिया, जापान, चीन और भारत भी आसियान से जुड़े हुए हैं। 1992 ई. में भारत को आसियान में 'सेक्टोरल डायलॉग पार्टनर' व 1995 ई. में 'फुल डायलॉग पार्टनर' का स्थान मिला। 1996 ई. में भारत को आसियान के क्षेत्रीय फोरम का सदस्य बनाया गया।

भारत–आसियान सम्बंधों में एक मील का पत्थर प्रधानमंत्री मनमोहनसिंह के कार्यकाल के दौरान 2004 ई. में स्थापित हुआ, जिसमें दोनों तरफ़ से यह तय किया गया कि

अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर पाँव पसार रहे आतंकवाद का प्रतिकार सामूहिक रूप से किया जाएगा। इस अवसर पर दोनों पक्षों में यह भी सहमति हुई कि भूमण्डलीकरण का लाभ विकासशील देश ठीक तरह से उठा सकें, इसके लिए विश्व–व्यापार संगठन में मिलकर आवाज़ उठाई जाएगी। समझौते के अन्तर्गत निर्णय हुआ कि दोनों पक्ष मुक्त व्यापार के लिए अधिकतम अनुकूल स्थितियाँ उत्पन्न करेंगे और परस्पर पर्यटन को भी यथोचित बढ़ावा देंगे।

नवम्बर 2014 तक भारत–आसियान शिखर–सम्मेलन की बारह बैठकें हो चुकी हैं और आसियान देशों के साथ सम्बन्ध प्रगाढ़ होने की दिशा में हम निरन्तर प्रगतिशील हैं। म्याँमार में 12वें आसियान–भारत शिखर–सम्मेलन को सम्बोधित करते हुए प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी ने लुक ईस्ट पोलिसी (LEP) के स्थान पर एक्ट ईस्ट पोलिसी (AEP) अपनाने का मंत्र देकर दक्षिणी–पश्चिमी एशिया में भारत को स्थाई रूप से प्रतिष्ठित कर दिया है।

स्मरण रहे कि 13वें आसियान–भारत शिखर–सम्मेलन का आयोजन–स्थल कम्बोडिया है।

आ. ब्रिक्स

द्वितीय विश्व–युद्ध के पश्चात् विश्व में उभरी समूह के रूप में काम करने की प्रवृत्ति ने राजनैतिक दृष्टि से विरोधी चरित्र के राष्ट्रों को भी एक मंच पर लाकर खड़ा कर दिया। विश्व के राष्ट्रों को यह अच्छी तरह से समझ में आ गया था कि जो राष्ट्र राजनैतिक दृष्टि से किसी राष्ट्र का शत्रु या विरोधी है, वह आर्थिक दृष्टि से उसका मित्र या समर्थक भी हो सकता है।

I- पृष्ठभूमि

'ब्रिक्स' वर्तमान में ऐसे राष्ट्रों का समूह है, जिनकी अर्थव्यवस्था उभार पर है। 'ब्रिक्स' समूह की स्थापना अपने मूल रूप में 2008 ई. में हुई थी। प्रारंभ में इस समूह के सदस्य चार राष्ट्र थे – ब्राज़ील, रूस, भारत और चीन। इन राष्ट्रों के नामों के प्रथम अँगरेज़ी वर्णाक्षरों को जोड़ते हुए समूह का नाम 'ब्रिक' (BRIC) प्रचलित हो गया। 2010 ई. में, जब दक्षिणी अफ़्रीका को इस समूह में सम्मिलित किया गया, तो एक और अँगरेज़ी वर्णाक्षर जुड़ जाने के कारण 'ब्रिक्स' (BRICS) हो गया।

ब्रिक्स राष्ट्र–समूह, जो आज आर्थिक मुद्दों को केंद्र में रखकर चलता हुआ दिखाई दे रहा है, ज़रूरी नहीं कि भविष्य में भी वह आर्थिक मुद्दों तक ही सीमित रहे। 'ब्रिक्स' के राष्ट्र आर्थिक विषयों से आगे बढ़कर राजनैतिक मुद्दों पर भी एक राय बनाने की ठोस पहल कर सकते हैं।

ब्रिक्स राष्ट्र–समूह विश्व के 25 प्रतिशत भू–भाग और उसकी 41 प्रतिशत से भी अधिक जनसंख्या का प्रतिनिधित्व करता है। 'ब्रिक्स' राष्ट्र–समूह विश्व के तीन महाद्वीपों – एशिया, अफ़्रीका व दक्षिणी अमेरिका तक अपना विस्तार रखता है।

'ब्रिक्स' का विचार सबसे पहले 2001 ई. में अमेरिका की कम्पनी गोल्डमैन सैच में काम करने वाले अर्थवेत्ता जिम ओ नील ने दिया। नील ने कहा कि ब्राजील, रूस, भारत और चीन – इन चार देशों की अर्थव्यवस्था 2050 ई. तक अमेरिका व यूरोपियन यूनियन की अर्थव्यवस्था से बहुत अधिक प्रगति कर जाएगी। यद्यपि नील ने यह नहीं कहा था कि इन चार राष्ट्रों को एक समूह के रूप में संगठित होकर काम करना चाहिए। नील ने तो सिर्फ़ अपने अनुमान प्रस्तुत किए थे। नील के अनुमानों को उनकी नियोक्ता कंपनी गोल्डमैन सैच ने अपनी पहली रिपोर्ट में व्यवस्थित रूप से संसार के समक्ष प्रस्तुत किया।

2007 ई. में कंपनी ने अपनी दूसरी रिपोर्ट प्रस्तुत की, जिसमें भारत की विकास–क्षमता को चमत्कारिक बताया गया। कहा गया कि भारत का विकास तो पूर्व में प्रस्तुत अनुमानों की तुलना में और भी अधिक तेज़ी से होगा, क्योंकि वहाँ मध्यम–वर्ग का लगातार विस्तार होता जा रहा है। रिपोर्ट में कहा गया कि भारत में शोध की गति–प्रगति भी बहुत अच्छी है, इसलिए आने वाले वर्षों में वैश्विक अर्थव्यवस्था में उसकी भूमिका अत्यंत महत्त्वपूर्ण होगी। कंपनी ने बताया कि विश्व के तेज़ी से आगे बढ़ रहे तीस शहरों में से दस शहर भारत के हैं।

इसके बाद कम्पनी ने 2010 में प्रस्तुत की गई अपनी रिपोर्ट में यह निष्कर्ष दिया कि जहाँ अमेरिका व पश्चिम के अन्य देश आर्थिक संकट से निकल नहीं पा रहे हैं, वहीं भारत और चीन पर इसका अधिक दुष्प्रभाव नहीं पड़ा है। इस निष्कर्ष से ब्रिक्स के राष्ट्र नई आशा के साथ और भी अधिक उत्साह से काम करने लगे।

ii- शिखर–सम्मेलन

'ब्रिक' का प्रथम शिखर–सम्मेलन जून 2009 में रूस के येकैटरिनबर्ग नगर में हुआ। सम्मेलन में चारों देशों का समूह–स्वर एक ही था कि विश्व के आर्थिक, राजनैतिक व सामरिक विषयों के सम्बन्ध में 'ब्रिक' के देश जो भी फ़ैसले लेंगे,

वे लोकतांत्रिक दृष्टिकोण से परखकर लिए जाएँगे।

'ब्रिक्स' का दूसरा शिखर–सम्मेलन 2010 ई. में ब्राज़ील की राजधानी ब्राज़ीलिया में सम्पन्न हुआ, जिसमें एक 33 सूत्रीय घोषणा–पत्र स्वीकार किया गया। इस सम्मेलन में सामूहिक हित के अन्य विषयों के अतिरिक्त संयुक्त राष्ट्र संघ के सांगठनिक ढाँचे में अपेक्षित सुधार करने का विचार तीव्रता से प्रकट किया गया। इस विचार के पीछे जो मूल भावना काम कर रही थी, वह यह थी कि भारत और ब्राज़ील जैसे संभावना से भरे हुए राष्ट्रों को सुरक्षा–परिषद् में स्थायी सदस्यता मिलनी चाहिए।

'ब्रिक्स' समूह का तीसरा सम्मेलन अप्रैल 2011 में चीन के नगर सान्या में आयोजित हुआ, जिसमें मानव के कल्याण के लिए न्याय व समता पर आधारित अर्थव्यवस्था का विचार केन्द्रीभूत हुआ। सम्मेलन में दोहराया गया कि संयुक्त राष्ट्र संघ की सुरक्षा परिषद्, अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष व विश्व बैंक के स्वरूप को और अधिक लोकतन्त्रात्मक बनाया जाना चाहिए। सम्मेलन में सदस्य राष्ट्रों ने एक कार्य–योजना को भी स्वीकृत किया।

'ब्रिक्स' समूह का चतुर्थ शिखर–सम्मेलन मार्च 2012 में भारत की राजधानी नई दिल्ली में सम्पन्न हुआ। सम्मेलन मे विचार–विमर्श का मुख्य आधार यह था कि वैश्विक स्थिरता, सुरक्षा और सम्पन्नता में 'ब्रिक्स' देशों की अधिकतम हिस्सेदारी तय करने की दिशा में संयुक्त प्रयास किए जाने की आवश्यकता

ब्रिक्स राष्ट्रों के मुखिया – रूस के ब्लादीमीर पुतिन, भारत के नरेंद्र मोदी, ब्राज़ील की डिल्मा रौशेल्फ़, चीन के जी जिनपिंग और दक्षिणी अफ्रीका के जेकब जूमा – जी–20 देशों के सम्मेलन के दौरान आस्ट्रेलिया के ब्रिस्बेन नामक स्थल पर।

है। ब्रिक्स का पाँचवाँ सम्मेलन 2013 ई. में दक्षिणी अफ्रीका में, छठा 2014 ई. में ब्राज़ील में और सातवाँ 2015 ई. में रूस में आयोजित हुआ। आठवें सम्मेलन का आयोजन–स्थल भारत है।

I-दिल्ली घोषणा–पत्र

ब्रिक्स राष्ट्र–समूह के चतुर्थ शिखर–सम्मेलन के अंत में इसके सदस्यों द्वारा एक घोषणा–पत्र, जिसे दिल्ली घोषणा–पत्र कहा जाता है, जारी किया गया – जिसके अन्तर्गत विश्व–बाज़ार में विश्वास का वातावरण निर्मित करने व वित्तीय संकट से घिरे देशों के इससे बाहर निकलने के उपायों का उल्लेख किया गया।

दिल्ली 'ब्रिक्स' सम्मेलन की एक उल्लेखनीय उपलब्धि यह भी थी कि सदस्य राष्ट्रों ने एक ऐसे समझौते पर हस्ताक्षर किए, जिसके अनुसार ब्रिक्स राष्ट्र–समूह के देश आपसी व्यापार अपनी स्थानीय मुद्रा में – डालर के बिना भी – कर सकते हैं।

दिल्ली घोषणा–पत्र में दुनिया के विभिन्न राष्ट्रों में तबाही मचा रहे आतंकवाद की भी घोर निन्दा की गई।

दिल्ली घोषणा–पत्र से पूरी तरह स्पष्ट हो गया कि आर्थिक मुद्दों पर तो ब्रिक्स के राष्ट्र अपने हितों के लिए जागरूक है ही, भविष्य में वे राजनैतिक व सामाजिक–सांस्कृतिक विषयों पर भी मुँह बन्द करके नहीं बैठेंगे। घोषणा–पत्र में पश्चिम एशिया में बढ़ रही राजनैतिक अनिश्चितता पर गहरी चिन्ता प्रकट की गई। साथ ही सीरिया में जारी हिंसा और मानवाधिकारों के उल्लंघन की भी चर्चा दिल्ली–सम्मेलन में हुई।

इस प्रकार ज़ाहिर है कि दुनिया के ये पाँच देश – ब्राज़ील, रूस, भारत, चीन व दक्षिण अफ्रीका – जो उभरती हुई अर्थव्यवस्थाओं के देश कहलाते हैं, हर हाल में इस प्रतिस्पर्द्धी युग की चुनौतियों का सामना करते हुए एक मंच पर कार्य करने को तैयार हैं।

इ. दक्षिण एशियाई क्षेत्रीय सहयोग संघ : दक्षेस (सार्क)

द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् विश्व की राजनीति में एक महत्त्वपूर्ण मोड़ यह आया कि विभिन्न राष्ट्रों ने क्षेत्रीय सहयोग–संगठनों के रूप में एकबद्ध होकर अपने आर्थिक, सामाजिक व सांस्कृतिक विकास की ओर ध्यान देना प्रारंभ कर दिया। इसी कड़ी में दक्षिणी एशिया के देशों ने भी अपना एक संगठन 'दक्षेस' या 'सार्क' बनाया। 'सार्क' का पूरा नाम 'साउथ एशियन ऐसोसिएशन फ़ॉर रीजनल कोऑपरेशन' है। 'सार्क' को 'दक्षिण एशियाई क्षेत्रीय सहयोग संघ' भी कहा जाता है।

I- पृष्ठभूमि

'सार्क' की स्थापना 1985 ई. में बांग्लादेश की राजधानी ढ़ाका में हुई थी, जहाँ दक्षिणी एशिया में सहयोग के मुद्दों पर चर्चा करने के लिए सात देशों के राष्ट्राध्यक्ष आपस में मिले। ये सात राष्ट्राध्यक्ष थे – भारत के प्रधानमंत्री राजीव गाँधी, पाकिस्तान के राष्ट्रपति ज़िआ उल हक़, बांग्लादेश के राष्ट्रपति हुसैन इरशाद, नेपाल के नरेश वीरेंद्र शाह, भूटान के नरेश जिग्मे सिग्ये वाँगचुक, श्रीलंका के राष्ट्रपति जूनियस रिचर्ड जयवर्धने व मालदीव के राष्ट्रपति मौमून गयूम। इन राष्ट्राध्यक्षों ने मिलकर दक्षिणी एशिया में राष्ट्रों के पारस्परिक सहयोग व उन्नयन के लिए 'साउथ एशियन ऐसोसिएशन फ़ॉर रीजनल कोऑपरेशन' नाम का एक संघ गठित करने का निर्णय लिया। अफ़ग़ानिस्तान इस संघ का आठवाँ सदस्य देश है। 'सार्क' के चौदहवें शिखर–सम्मेलन, जो अप्रैल 2007 में नई दिल्ली में आयोजित हुआ था, में अफ़ग़ानिस्तान को सदस्यता प्रदान की गई।

इस संघ की प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें ब्रिक्स की तरह अलग–अलग सभ्यता–संस्कृतियों के देशों का मेल नहीं है। यह संघ तो एक जैसी सभ्यता–संस्कृतियों का ही प्रतिनिधित्त्व करता है। यदि एक बार के लिए 'सार्क' के मानचित्र में से देशों की विभाजन–रेखाओं को मिटा दिया जाए, तो यह निर्णय करना कठिन हो जाए कि पूरे सार्क–क्षेत्र में सभ्यता और संस्कृति की दृष्टि से अन्य क्षेत्रों से अलग कोई क्षेत्र है भी अथवा नहीं है। इसका कारण यह है कि संघ के अधिकतर सदस्य देश प्रारंभ से ही 'विभिन्नता में एकता' का जो सामाजिक–सांस्कृतिक स्वरूप अपने भू–क्षेत्र में देखते आए हैं, वह स्वरूप संघ के सभी सदस्य देशों में विद्यमान है। यही कारण है कि दक्षिणी एशिया के देशों में पारस्परिक सहयोग का दीर्घ इतिहास रहा है। आधुनिक विश्व में सहयोग की यह परम्परा राजनैतिक कारणों से टूट गई थी, जिसे सार्क के माध्यम से जोड़ने का प्रयास प्रारम्भ किया गया।

'दक्षेस' के चार्टर में दस धाराएँ हैं, जिनमें संघ के उद्देश्य, सिद्धान्त, अंग और वित्तीय व्यवस्थाएँ वर्णित हैं।

ii-'दक्षेस' के उद्देश्य

'दक्षेस' या 'सार्क' के घोषित उद्देश्य निम्नलिखित हैं –

- दक्षिणी एशिया क्षेत्र के लोगों का कल्याण करना व उनके जीवन–स्तर का उन्नयन करना।
- दक्षिणी एशिया के देशों में सामूहिक आत्मनिर्भरता की भावना का विकास करना।
- दक्षिणी एशियाई क्षेत्र के आर्थिक, सामाजिक व सांस्कृतिक विकास में तेज़ी लाना।
- पारस्परिक विश्वास और समझ के साथ दक्षिण एशिया के देशों की समस्याओं का मूल्यांकन करना।
- अर्थ, समाज, संस्कृति, विज्ञान व प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में संघ के देशों द्वारा एक–दूसरे का सक्रिय सहयोग करना।
- दक्षिणी एशियाई क्षेत्र के देशों के अतिरिक्त जो अन्य विकासशील देश हैं, उनके साथ सहयोग बढ़ाना
- समान हितों के प्रश्न पर अन्तरराष्ट्रीय मंचों पर एक दूसरे का दृढ़ता से साथ देना।

i-'दक्षेस' के सिद्धान्त

दक्षेस के चार्टर में इस संघ के सिद्धान्तों को स्पष्ट किया गया है –

- सहयोग, समानता, क्षेत्रीय अखण्डता व राजनैतिक स्वतन्त्रता के आधार पर पारस्परिक हितों का आदर करना और एक–दूसरे के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप न करना।
- सहयोग का यह रूप न केवल द्विपक्षीय व बहुपक्षीय सहयोग का स्थान लेगा, अपितु उसका पूरक भी होगा।
- सहयोग का यह रूप किसी भी स्थिति में द्विपक्षीय व बहुपक्षीय उत्तरदायित्वों का प्रतिकार करने वाला नहीं होगा।

ii-'दक्षेस' का सांगठनिक स्वरूप

सार्क' की विभिन्न संस्थाएँ हैं, जो इसके उद्देश्यों व सिद्धान्तों की पूर्ति करने का काम करती हैं। सार्क की सबसे महत्त्वपूर्ण संस्था है– शिखर–सम्मेलन। पारस्परिक विचार–विमर्श में यह सुनिश्चित हुआ कि शिखर–सम्मेलन में सदस्य राष्ट्रों के मुखिया भाग लेंगे। सार्क के नवम्बर 2014 तक सार्क के अठारह शिखर–सम्मेलन हो चुके हैं। अठारहवाँ शिखर–सम्मेलन नेपाल की राजधानी काठमाँडू में सम्पन्न हुआ था। उन्नीसवें सम्मेलन का आयोजन–स्थल पाकिस्तान की राजधानी इस्लामाबाद में प्रस्तावित था, जो नहीं हुआ।

सार्क के वार्षिक शिखर–सम्मेलन		
क्रम	वर्ष	देश (नगर)
1	1985	बाँग्लादेष (ढाका)
2	1986	भारत (बंगलुरु)
3	1987	नेपाल (काठमाण्डू)
4	1988	पाकिस्तान (इस्लामाबाद)
5	1990	मालदीव (माले)
6	1991	श्रीलंका (कोलम्बो)
7	1993	बाँग्लादेष (ढाका)
8	1995	भारत (नई दिल्ली)
9	1997	मालदीव (माले)
10	1998	श्रीलंका (कोलम्बो)
11	2002	नेपाल (काठमाण्डू)
12	2004	पाकिस्तान (इस्लामाबाद)
13	2005	बाँग्लादेष (ढाका)
14	2007	भारत (नई दिल्ली)
15	2008	श्रीलंका (कोलम्बो)
16	2010	भूटान (थिम्पू)
17	2011	मालदीप (अड्डु सीटी)
18	2014	नेपाल (काठमाण्डू)

शिखर–सम्मेलन के अतिरिक्त सार्क की अन्य संस्थाएँ हैं – मंत्री–परिषद, स्थायी समिति, तकनीकी समितियाँ,

कार्यकारी समिति और सचिवालय। 'सार्क' का सचिवालय स्थायी रूप से नेपाल की राजधानी काठमाँडू में स्थित है। सचिवालय में 'सार्क' के महासचिव का कार्यालय है। महासचिव का कार्यकाल दो वर्ष का निर्धारित किया गया है और उसकी नियुक्ति प्रत्येक सदस्य देश द्वारा उसके क्रम के अनुसार की जाती है। वर्ष 1986–87, 1996–97 व 2007–08 ई. में भारत के पास सार्क की प्रधानता थी। ध्यान रहे कि सार्क सचिवालय का ख़र्च चलाने में सर्वाधिक योगदान हमारे देश भारत का है।

प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी के शपथ–ग्रहण–समारोह में उपस्थित सार्क राष्ट्रों के मुखिया

iii-भारत की भूमिका

दक्षिण एशियाई क्षेत्रीय सहयोग संगठन (सार्क) में भारत की सक्रियता इसकी स्थापना से ही बनी हुई है। 1991 ई. में हुए कोलम्बो शिखर–सम्मेलन की भावना के अनुरूप 1992 ई. में पर्यावरण जैसे महत्त्पूर्ण विषय पर सार्क देशों की मंत्री–स्तर की बैठक नई दिल्ली में आयोजित की गई। नई दिल्ली में ही 1996 ई. में प्रथम सार्क व्यापार मेला सम्मन्न हुआ। इसी वर्ष भारत ने सार्क का 'आर्थिक सहयोग सम्मेलन' व 'प्रौढ़ तथा अनवरत शिक्षा पर सहयोग सम्मेलन' आयोजित करवाया। 1998 ई. में सीमा–शुल्क सम्बन्धी सार्क समूह की तीसरी बैठक आयोजित की गई थी। 1998 ई. में ही पुणे में बहुभाषिक व बहुमाध्यमी सूचना प्रौद्योगिकी पर एक सम्मेलन आयोजित किया गया था।

जनवरी 2002 में नेपाल शिखर–सम्मेलन के दौरान भारत और पाकिस्तान के कूटनीतिक सम्बन्ध अत्यन्त तनावपूर्ण थे। उस समय प्रधानमंत्री अटलबिहारी वायपेयी ने सम्मेलन को दिशा प्रदान करते हुए कहा था कि सार्क में आर्थिक एजेण्डा को सबसे ऊपर रखा जाना चाहिए। जनवरी 2004 में पाकिस्तान में आयोजित शिखर–सम्मेलन में आर्थिक एजेण्डा को गतिमान करने के लिए वाजपेयी ने एक छह सूत्री ठोस कार्यक्रम भी प्रस्तुत किया। इसी कार्यक्रम में उनका वह क्रांतिकारी प्रस्ताव शामिल था, जिसके अन्तर्गत कहा गया था कि 1857 ई. के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम का 150वाँ वर्ष भारत, पाकिस्तान व बांग्लादेश द्वारा संयुक्त रूप से मनाया जाए। सार्क राष्ट्रों के बीच जनवरी 2006 में एक स्वतंत्र व्यापार समझौता 'साफ़्टा' – साउथ एशियन फ्री ट्रेड एरिया – सम्पन्न हुआ, जो दक्षिण एशिया के इतिहास की एक युगान्तरकारी घटना है। यह भी

निश्चय हुआ कि सदस्य राष्ट्रों के मध्य आपसी व्यापार में प्रशुल्क स्तर को 2016 ई. तक पाँच प्रतिशत घटा लिया जाएगा। अप्रैल 2007 में 'सार्क' का चौदहवाँ शिखर–सम्मेलन नई दिल्ली में आयोजित हुआ। सम्मेलन में भारत ने क्षेत्र के अल्प विकसित देशों के लिए पारस्परिक व्यापार–शुल्क में छूट की एकपक्षीय घोषणा करके एक बार फिर स्वयं का बड़ा भाई होना सिद्ध किया। निश्चय ही दक्षिण एशिया क्षेत्रीय सहयोग संघ (दक्षेस), जो 'सार्क' नाम से अधिक प्रसिद्ध है, क्षेत्रीय संघों के इतिहास में आधुनिक राजनीति का एक कीर्तिस्तंभ है। आशा की जानी चाहिए कि भविष्य में दक्षिण एशिया के वासियों को अधिक सुखी व शांत जीवन जीने का अवसर मिलेगा।

2014 ई. में भारत के प्रधानमंत्री बने नरेन्द्र मोदी ने नई दिल्ली में अपने शपथ–ग्रहण–समारोह में सार्क देशों के राष्ट्राध्यक्षों को आमंत्रित करके इस संगठन को एक नई ऊँचाई प्रदान की है। सार्क देशों के राष्ट्राध्यक्षों द्वारा मोदी का निमंत्रण स्वीकार लेने से विश्व में यह संदेश गया कि दक्षिणी एशिया के देशों में सहमति के कतिपय बिंदुओं पर पहुँचने की क्षमता विद्यमान है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि भारत की वैश्विक दृष्टि दूरगामी है और विश्व में इसका स्वर अत्यधिक ध्यान से सुना जाता है। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद के विश्व में अब तक अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर ऐसा कोई अवसर नहीं आया है, जब भारत की उपेक्षा हुई हो। हाँ, प्रधानमंत्री इंदिरा गाँधी व अटलबिहारी वाजपेयी के काल में जब हमने परमाणु–परीक्षण किए – तब हमें कुछ अलग ढंग से देखा गया, लेकिन शीघ्र ही भारत अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर पुनः अपनी पूर्व स्थिति में आ गया। अब तो स्थिति यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय जगत में भारत एक देदीप्यमान सितारे की तरह चमक रहा है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

अ. अति लघु उत्तरात्मक प्रश्न

1. प्रथम विश्व–युद्ध के फलस्वरूप विश्व–शांति के लिए कौनसी अंतरराष्ट्रीय संस्था की स्थापना हुई?
2. शीत–युद्ध कौन–कौनसी दो महाशक्तियों के मध्य हुआ?
3. अमेरिका के लेखक–पत्रकार वाल्टर लिपमैन ने कौनसी पुस्तक लिखी?
4. फुल्टन में किसने कहा कि दुनिया में स्वतंत्रता की लौ जलाए रखने और ईसाई सभ्यता की रक्षा करने के लिए ब्रिटिश–अमेरिकी सहयोग की तीव्र आवश्यकता है?
5. रियो दी जेनेरियो में पर्यावरण–संरक्षण से सम्बंधित पृथ्वी–सम्मेलन किस ईस्वी वर्ष में हुआ?
6. किसने कहा कि कि किसी आतंकवादी को उसके तात्कालिक लक्ष्य के सन्दर्भ में ठीक तरह से परिभाषित किया जा सकता है?
7. गुट–निरपेक्ष आंदोलन के सत्रहवें शिखर–सम्मेलन का आयोजन–स्थल कौनसा देश है?
8. 'ब्रिक्स' राष्ट्र–समूह के पाँच सदस्य राष्ट्र कौन–कौनसे हैं?
9. बारहवें आसिया–भारत शिखर–सम्मेलन में प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी ने 'लुक ईस्ट पॉलिसी' को अब कौनसी पॉलिसी बनाने का आग्रह किया है?
10. सार्क का आठवाँ सदस्य कौनसा राष्ट्र बना?

आ. लघु उत्तरात्मक प्रश्न

1. शीत–युद्ध से आप क्या समझते हैं?
3. किन्हीं दस राष्ट्रों के नाम लिखिए, जिनका निर्माण सोवियत संघ के विखण्डन के फलस्वरूप हुआ।
4. गुट–निरपेक्ष आंदोलन का दसवाँ, ग्यारहवाँ, तेरहवाँ, चौदहवाँ और सोलहवाँ शिखर–सम्मेलन कब व कहाँ हुआ?
5. भारत एक गुट–निरपेक्ष राष्ट्र है, फिर भी सोवियत रूस के विखण्डन तक इसका झुकाव सोवियत संघ की तरफ़ रहा। बताइए क्यों?
6. पूँजीवाद व साम्यवाद में मूलभूत अंतर क्या है?तर्क सहित बताइए।
7. सीटीबीटी से आप क्या समझते हैं? सीटीबीटी का पूरा नाम लिखिए।
8. एजेण्डा 21 के बारे में आप क्या जानते हैं?संदर्भ सहित बताइए।
9. देशों के वैदेशिक सम्बंधों के संदर्भ में मोदी–प्रयोग का मूल तत्त्व क्या है?
10. आतंकवाद के आधुनिक व संस्थागत रूप से आप क्या समझते हैं?

इ. निबंधात्मक प्रश्न

1. विभिन्न चरणों का वर्णन करते हुए शीत–युद्ध की प्रमुख घटनाएँ बताइए।
2. वे कौनसी परिस्थितियाँ थीं, जिनके कारण गुट–निरपेक्ष आंदोलन प्रारम्भ हुआ?
3. इतिहास के अंत का सिद्धांत किसने दिया?तर्क सहित बताइए कि यह सिद्धांत अप्रासंगिक सिद्ध क्यों हुआ?
4. रियो डी जेनेरियो सम्मेलन 1992 में पर्यावरण–संरक्षण से सम्बंधित किन विषयों पर विचार–विमर्श हुआ?
5. आतंकवाद को रोकने के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ की ओर से मुख्य रूप से कौन–कौन से कन्वेंशन्स प्रस्तुत किए गए? विस्तार से बताइए।
6. सार्क के उद्देश्यों और सिद्धांतों का वर्णन कीजिए।
7. क्या आप मानते हैं कि भारत विश्व–शांति का अग्रदूत है? कारण सहित उत्तर दीजिए।